

वर्ष ७ अंक ३

सम्पादक
पं० कृष्णाचन्द्राचाय
महेन्द्र राजा एम.ए.

…नाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में

'श्रमण' के विषय में

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२ ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. 'श्रमण' में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।
८. सामयिक लेख आदि प्रत्येक मास की १५ ता० तक मिलने पर ही समय पर प्रकाशित हो सकेंगे। अन्य पत्रों में प्रकाशित या प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ 'श्रमण' के लिए न भेजें।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)
प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ जनवरी १९५६ अंक ३

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङमय का स्वाध्याय—

(गतांक से आगे)

—११—

माणुसत्तम्मि आयाओ
जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं
संवुडे निद्धुणे रयं॥

—११—

मानव तन को पाकर के जो
प्रवचन सुनता श्रद्धा रखता।
संयमदृढ़ वह संवृत तपसी
कर्म-मलों का संक्षय करता॥

—१२—

सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ
घयसित्ति व्व पावए॥

—१२—

होती शुद्धि सरल साधक की
शुद्ध हृदय में धर्म ठहरता।
घृत से सिंचित पावकवत् वह
पावन साधक शिवपद भजता॥

—१३—

विगिंच कम्मुणो हेउं
जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा
उड्ढं पक्कमई दिसं॥

—१३—

कर्म-हेतु का शीघ्र ध्वंस कर
पूर्ण यशस्वी बनो क्षमा कर।
ऊर्ध्वलोक में जाता प्राणी
इस विध पार्थिव तन को तजकर॥

—१४—

विसालिसेहिं सीलेहिं
जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का य दिप्पंता
मन्नंता अपुणच्चयं॥

—१४—

विविध व्रतों का पालन करके
प्राणी बनते देव महत्तर।
अपने को वे अमर मानते
सूर्य चन्द्रसम आभा पाकर॥

—१५—

अप्पिया देवकामाणं
कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति
पुव्वा वाससया बहू ॥

—१५—

वैभव पाकर देव-जाति का
ईप्सित रूप बनाने वाले ।
अगणित शत वर्षों तक होते
स्वर्गलोक में रहने वाले ॥

—१६—

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं
जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
से दसंगेऽभिजायई ॥

—१६—

देव-आयु को पूर्ण करके
पाते फिर वे मानव जीवन ।
मिलता उनको यहां नरोचित
दश अंगों का संयम शोभन ॥

—१७—

खेतं वत्थुं हिरण्णं च
पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खंधाणि
तत्थ से उववज्जई ॥

—१७—

जहाँ क्षेत्र है, वास्तु, हिरण्यक
पशु, परिजन का पूरा संगम ।
'काम स्कंध हैं चार' वहीं वह
अपना पाता जन्म-समागम ॥

—१८—

मित्तवं नायवं होइ
उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने,
अभिजाए जसोबले ॥

—१८—

स्वर्गागत वह मित्र ज्ञाति युत
उन्नत कुल में सुन्दर होता ।
अल्पातंक तथा मेधावी
पूर्णयशस्वी बलयुत होता ॥

—१९—

भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्विं विसुद्ध-सद्धम्मे,
केवलं बोहि बुज्झिया ॥

—१९—

पूर्ण आयु तक अनुपम मानव-
भोग, भोग करके वह प्राणी ।
पूर्ववत् ही शुद्ध धर्म से
हो जाता है निर्मल ज्ञानी ॥

—२०—

चउरंगं दुल्लहं नच्चा
संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे
सिद्धे हवइ सासए ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, तीसरा अध्ययन, गाथा ११–२०]

—२०—

चारों अंगों को दुर्लभतर
समझ, समझ कर संयम लेकर ।
सिद्ध बुद्ध बन शाश्वत होता
तप से सारे कर्म नष्ट कर ॥

पद्यानुवादक—मुनि श्री मिश्रीमलजी 'मधुकर'

मंगल-भारती

गीतों की खेती सुहावनी
करो एशियाई धरती पर
श्री का केसर सभी बिखेरो
र स के फू ल खि लें गे !
ब ले दी पि का
विश्व शांति यश की
प्र द र्शि का
राजतिलक सब रचो
ल क्ष्य का
बनो सिन्दूर सभी मंजिल के
अ व नि-व्यो म ब द लें गे !
श्री का केसर सभी बिखेरो-
र स के फू ल खि लें गे !
नमन ज्योति मनु
अ मृ त व र्षा
प्रगति के चरन
नी ल म-दी प न
बु झ ने पा ए
रोज सितारों के घर जाओ-
तम के प्राण जलेंगे !
श्री का केसर सभी बिखेरो-
र स के फू ल खि लें गे !

देवप्रकाश गुप्त
'अंगार'

युगाधार तुम
कोटि हृदय के
कोटि ज्वार तुम
लोकोत्तर जन-पथ
हो नि र्मि त

मिट्टी की दुल्हन मुस्काए
श्र म के भा ग्य ज गें गे !
श्री का केसर सभी बिखेरो-
रस के फूल खिलेंगे !

नू त न सं स्कृ ति
अ रु णा भा नव
स्व र्णि म जा गृ ति
कु न्द क ली-सी
खि ले जिं द गी-

ताजमहल निर्माणों का गढ़
र श्मि यां श म च लें गे !
श्री का केसर सभी बिखेरो-
र स के फू ल खि लें गे !

कण-कण भास्वर
अ व न्ति का
उतरे वसुधा पर
पीले हाथ करो
म धु व न के

जगे नीरजा-नयन किरन के-
स्वर के कमल उगेंगे !
श्री का केसर सभी बिखेरो-
रस के फूल खिलेंगे !

निह्नव-वाद

—श्री मोहनलाल मेहता, एम०ए०, पी-एच० डी०

निह्नव किसे कहते हैं

अपने अभिनिवेश के कारण आगम प्रतिपादित तत्त्व का परंपरा से विरुद्ध अर्थ करने वाला निह्नव की कोटि में आता है। जैनदृष्टि से निह्नव मिथ्यादृष्टि का ही एक प्रकार है। अभिनिवेश के बिना होने वाले सूत्रार्थ के विवाद के कारण कोई निह्नव नहीं कहलाता क्योंकि इस प्रकार के विवाद का लक्ष्य सम्यक् अर्थ निर्णय है न कि अपने अभिनिवेश का मिथ्या पोषण। सामान्य मिथ्यात्वी और निह्नव में यह भेद है कि सामान्य मिथ्यात्वी जिन-प्रवचन को ही नहीं मानता अथवा मिथ्या मानता है जब कि निह्नव उसके किसी एक पक्ष का अपने अभिनिवेश के कारण परंपरा से विरुद्ध अर्थ करता है तथा शेष पक्षों को परंपरा के अनुसार ही स्वीकार करता है। इस प्रकार निह्नव वास्तव में जैनपरंपरा के भीतर ही एक नया संप्रदाय खड़ा कर देता है। जिनभद्र आदि आचार्यों ने तो दिगंबर संप्रदाय को भी निह्नव-कोटि में डाल दिया है जिसका संबंध बोटिक निह्नव से है। भाष्यकार जिनभद्र ने जमालि आदि आठ निह्नवों का उल्लेख किया है तथा संक्षेप में उनके मतों का भी वर्णन किया है।

प्रथम निह्नव : जमालि

प्रथम निह्नव का नाम जमालि है। उसने बहुरत मत का प्ररूपण किया। उसका जीवन-वृत्त इस प्रकार है—क्षत्रियकुमार जमालि ने वैराग्य उत्पन्न होने पर पांच सौ पुरुषों के साथ महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की तथा वह उनका आचार्य हुआ। जिस समय वह श्रावस्ती के तैन्दुक उद्यान में ठहरा हुआ था उस समय उसे कोई रोग हो गया। उसने अपने एक शिष्य से बिस्तर बिछाने के लिए कहा। कुछ देर बाद उसने उस शिष्य से पूछा—'बिस्तर हो गया?' उसने बिछाते-बिछाते ही उत्तर दिया—'हो गया है।' जमालि सोने के लिए खड़ा हुआ। उसने जाकर देखा तो बिस्तर अभी बिछाया ही जा रहा था। यह देख कर उसने सोचा—भगवान् महावीर जो 'क्रियमाणं कृतम्' अर्थात् 'किया जाने वाला कर दिया गया' का कथन करते हैं वह

मिथ्या है। यदि 'क्रियमाण' (किया जाने वाला) 'कृत' (कर दिया गया) होता तो मैं इस बिस्तर पर इसी समय सो सकता किन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः महावीर का यह सिद्धान्त कि 'क्रियमाण कृत है' झूठा है। दूसरे साधुओं ने उसे 'क्रियमाणं कृतम्' का वास्तविक अर्थ समझाया, किन्तु उसके मन में किसी की बात नहीं बैठी। उसने उसी समय से अपने विरोधी सिद्धान्त 'बहुरत' का प्रतिपादन प्रारंभ कर दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी क्रिया एक समय में न होकर बहुत समय में होती है। भाष्यकार ने अनेक हेतु देकर इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। इसमें प्रियदर्शना-सुदर्शना—अनवद्या—ज्येष्ठा का वृत्तान्त भी दिया गया है जिसने पहले तो पति के अनुराग के कारण जमालि के संघ में जाना स्वीकार कर लिया था किन्तु बाद में भगवान् महावीर के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ समझने पर पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गई।[1]

द्वितीय निह्नव : तिष्यगुप्त

द्वितीय निह्नव तिष्यगुप्त ने जीव-प्रादेशिक मत का प्ररूपण किया था। तिष्यगुप्त वसु नामक चौदहपूर्वधर आचार्य का शिष्य था। वह जिस समय राजगृह—ऋषभपुर में था उस समय आत्म-प्रवाद नामक पूर्व के आधार पर उसने एक नया तर्क उपस्थित किया और जीव-प्रादेशिक मत की स्थापना की। कथानक इस प्रकार है—गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं?' महावीर ने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार दो, तीन, संख्यात अथवा असंख्यात प्रदेशों को तो क्या, जीव के जो असंख्यात प्रदेश हैं उनमें से एक प्रदेश भी कम हो तो उसे जीव नहीं कह सकते। लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर सम्पूर्ण प्रदेश-युक्त होने पर ही वह जीव कहा जाता है।' इस संवाद को सुन कर तिष्य-गुप्त ने अपने गुरु वसु से कहा—'यदि ऐसा ही है तो जिस एक प्रदेश के बिना वह जीव नहीं कहलाता और जिस एक प्रदेश से वह जीव कहलाता है उस चरम प्रदेश को ही जीव क्यों न मान लिया जाए? उसके अतिरिक्त अन्य प्रदेश तो उसके बिना अजीव ही हैं क्योंकि उसी से वे सब जीवत्व प्राप्त करते हैं।' गुरु ने उसे महावीर की जीव-विषयक उपर्युक्त मान्यता का रहस्य समझाने का काफी प्रयत्न किया किन्तु उसने अपना मत नहीं छोड़ा

---

[1] गा. २३०६–२३३२.

तथा दूसरों को भी इसी प्रकार समझाने लगा। परिणाम-स्वरूप वह संघ से निकाल दिया गया और अपनी जीव-प्रदेशी मान्यता के कारण जीव-प्रादेशिक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। एक समय अमलकल्पा नामक नगरी के मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने तिष्यगुप्त के पात्र में अनेक प्रकार के पदार्थों का थोड़ा-थोड़ा अंतिम अंश रखा और कहने लगा—'मेरा अहोभाग्य है कि आज मैंने आपको इतने सारे पदार्थों का दान दिया।' यह सुनते ही तिष्यगुप्त क्रुद्ध होकर बोला—'तुमने यह मेरा अपमान किया है।' मित्रश्री ने तुरन्त उत्तर दिया—'मैंने आप ही के मत के अनुसार इतना सारा दान दिया है।' यह सुन कर तिष्यगुप्त को अपने मिथ्यामत का भान हुआ। उसने अपने अभिनिवेश का प्रायश्चित्त किया और गुरु से क्षमायाचना की।[१]

तृतीय निह्नव : आषाढभूति

तीसरे निह्नव की मान्यता का नाम अव्यक्त मत है। श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ चैत्य में आषाढ नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उनके अनेक शिष्य योग की साधना में मग्न थे। आषाढ अकस्मात् रात्रि में मर कर देव हुए। उन्हें अपने योगसंलग्न शिष्यों पर दया आई और वे पुनः अपने मृत शरीर में रहने लगे तथा अपने शिष्यों को पूर्ववत् ही आचार आदि की शिक्षा देते रहे। जब योग-साधना समाप्त हुई तब उन्होंने अपने शिष्यों को वन्दना कर कहा—'हे श्रमणो! मुझे क्षमा करना कि मैंने असंयत होते हुए भी आप लोगों से आज तक वन्दना कराई।' इतना कह कर वे अपना शरीर छोड़ कर देवलोक में चले गए। यह जान कर उनके शिष्यों को भारी पश्चात्ताप होने लगा कि हमने असंयत देव को इतनी बार वंदना की। उन्हें धीरे धीरे ऐसा मालूम होने लगा कि किसी के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह साधु है या देव। इसलिए किसी को वन्दना करनी ही नहीं चाहिए। वंदना करने पर यदि वह व्यक्ति साधु के बदले देव निकल जाता है तो असंयत-नमन का दोष लगता है; यदि यह कहा जाए कि यह साधु नहीं है और कदाचित् साधु हो तो मृषावाद का पाप लगता हैं। चूंकि किसी की साधुता का निश्चय हो ही नहीं सकता इसलिए किसी को भी वंदना नहीं करनी चाहिए। अन्य स्थविरों ने उन्हें बहुत समझाया कि ऐसा ऐकान्तिक आग्रह करना ठीक नहीं किन्तु उन्होंने किसी की न मानी और संघ से अलग होकर अव्यक्तमत का प्रचार करने

---

[१] गा. २३३३–२३५५.

लगे। एकबार राजगृह के बलभद्र राजा ने ऐसा आदेश निकाला कि 'इन सब साधुओं को मार डालो।' यह जान कर वे लोग बड़े व्याकुल हुए और राजा से कहने लगे—'हम लोग साधु हैं और तू श्रावक है। तू हमें कैसे मरवा सकता है?' राजा ने कहा—'आप का कहना तो ठीक है किन्तु मैं कैसे जान सकता हूँ कि तुम लोग चोर हो या साधु?' यह सुन कर उन लोगों का भ्रम दूर हुआ और यथोचित प्रायश्चित्त कर के पुनः संघ में सम्मिलित हुए।[1] आषाढ के कारण से अव्यक्तमत का उद्भव हुआ अतः उस के नाम के साथ यह मत जोड़ दिया गया।

चतुर्थ निह्नव: अश्वमित्र

यह निह्नव सामुच्छेदिक के नाम से प्रसिद्ध है। समुच्छेद का अर्थ है जन्म होते ही अत्यन्त नाश। इस प्रकार की मान्यता का समर्थक सामुच्छेदिक कहलाता है। इस मत की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है—महागिरि का प्रशिष्य तथा कौण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करता था। उसमें ऐसा वर्णन आया कि 'वर्तमान समय के नारक विच्छिन्न हो जाएंगे। इसी प्रकार द्वितीयादि समय के नारक भी विच्छिन्न हो जाएँगे। वैमानिक आदि के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए।' यह जानकर उसके मन में शंका हुई कि यदि इस प्रकार उत्पन्न होते ही जीव नष्ट हो जाता हो तो वह कर्म का फल कब भोगता है? उसकी इस शंका का समाधान करते हुए गुरु ने कहा कि पर्यायरूप से नारकादि नष्ट होते हैं किन्तु द्रव्यरूप से तो वे विद्यमान ही रहते हैं अतः कर्मफलका वेदन घट सकता है। गुरु के समझाने पर भी वह अपने हठ पर दृढ़ रहा और एकान्त समुच्छेद का प्रचार करने लगा। परिणामतः वह संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। एक समय अश्वमित्र विचरते-विचरते राजगृह में जा पहुँचा। वहाँ के श्रावकों ने उसे पीटना शुरू किया। यह देखकर वह कहने लगा—'तुम लोग श्रावक होकर साधु को पीटते हो!' श्रावकों ने उत्तर दिया—'जो साधु बना था वह अश्वमित्र और जो श्रावक बने थे वे लोग तो कभी के नष्ट हो चुके। तुम और हम तो कोई और ही हैं।' यह सुन कर अश्वमित्र को अपने मत की दुर्बलता महसूस हुई और पुनः अपने गुरु के पास जाकर क्षमा-याचना की तथा महावीर के संघ का अनुयायी बना।[2]

---

[1] गा० २३५६—२३८८. [2] गा० २३८९—२४२३.

पंचम निह्नव : गंग

पंचम निह्नव का नाम गंग है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। इसी मान्यता के कारण उसे द्वैक्रिय निह्नव कहा जाता है। घटना इस प्रकार है—आर्य महागिरि का प्रशिष्य तथा धनगुप्त का शिष्य गंग एक समय शरद्-ऋतु में अपने आचार्य को वंदना करने के लिए उल्लुका-तीर नामक नगर से निकल कर चला। रास्ते में उल्लुका नदी में चलते समय उसे सिर पर लगती हुई सूर्य की गरमी तथा पैरों में लगती हुई नदी की ठंडक का अनुभव हुआ। यह देखकर उसने सोचा—'सूत्रों में तो कहा गया है कि एक समय में एक ही क्रिया का का वेदन हो सकता है किन्तु मुझे तो एक ही साथ दो क्रियाओं का अनुभव हो रहा है।' उसने अपना अनुभव अपने गुरु के सामने रखा। गुरु ने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु बात यह है कि समय और मन इतने सूक्ष्म हैं कि हम लोग सामान्यतया उनके छोटे छोटे भेदों को नहीं समझ सकते। वास्तव में किसी भी क्रिया का वेदन क्रमशः ही होता है।' गंग को गुरु की बात जँची नहीं। वह संघ से अलग होकर अपने मत का प्रचार करने लगा। एक समय राजगृह में अपने मत का प्रचार करते हुए मणिनाग द्वारा भयभीत होकर उसने पुनः अपने गुरु के पास आकर प्रायश्चित किया।[१]

षष्ठ निह्नव : रोहगुप्त

छठे निह्नव का नाम रोहगुप्त अथवा षडुलूक है। उसने त्रैराशिक मत का प्ररूपण किया। इस मत का अर्थ है जीव, अजीव और नोजीव—इस प्रकार की तीन राशियों का सद्भाव। कथानक इस प्रकार है—एक समय रोहगुप्त किसी अन्य ग्राम से अंतरंजिका नगरी के भूतगृह नामक चैत्य में ठहरे हुए अपने गुरु श्रीगुप्त को वंदना करने जा रहा था। मार्ग में उसने अनेक प्रवादियों को पराजित किया और सारा हाल अपने गुरु के सामने रखा। इसके बाद उसने मोरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी और उलावकी विद्याओं को ग्रहण किया तथा पोट्टशाल नामक परिव्राजक को जो कि वृश्चिकी, सर्पी, मूषकी, मृगी, वराही, काकी तथा पोताकी विद्याओं में सिद्धहस्त था, वाद के लिए चुनौती दी। राजसभा में पोट्टशाल ने जीव और अजीव इन दो राशियों की स्थापना की। उसे परास्त करने के लिए रोहगुप्त ने

---

[१] गा० २४२४–२४५०

एक तीसरी राशि—नोजीव की भी स्थापना की। इसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी उसे अपनी मोरी आदि विरोधी विद्याओं से पराजित किया। जब उसने अपने गुरु के सामने यह सारा वृत्तान्त रखा तो गुरु ने कहा—'तू वापिस जा और राजसभा में जाकर कह कि राशित्रय का सिद्धान्त कोई वास्तविक सिद्धान्त नहीं है। मैंने केवल वादी को पराजित करने के लिए ही इस सिद्धान्त की अपने बुद्धिबल से स्थापना की है। यथार्थ में राशित्रय का सिद्धान्त अपसिद्धांत है।' रोहगुप्त ने गुरु की इस आज्ञा को न माना तथा अपने अभिनिवेश के कारण राशित्रय के सिद्धान्त पर ही डटा रहा। यह देख कर गुरु स्वयं उसे अपने साथ राजसभा में ले गए। वहां से राजा के साथ वे कुत्रिकापण (सब चीजों की दुकान) पर गए। वहां जाकर उन्होंने जीव मांगा तो जीव मिला, अजीव मांगा तो अजीव भी मिला। जब उन्होंने नोजीव मांगा तो कुछ नहीं मिला। यह देख कर सभा में रोहगुप्त की पराजय की घोषणा कर दी गई। इतना होने पर भी उसका अभिनिवेश कम न हुआ और उसने वैशेषिक मत का प्ररूपण किया। रोहगुप्त का नाम षडुलूक कैसे हो गया, इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उसका नाम तो रोहगुप्त है किन्तु गोत्र से वह उलूक है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छः पदार्थों का प्ररूपण करने के कारण उसे षडुलूक कहा गया है।[१]

सप्तम निह्नव : गोष्ठामाहिल

सप्तम निह्नव का नाम गोष्ठामाहिल है। उसने इस मान्यता का प्रचार किया कि जीव और कर्म का बंध नहीं अपितु स्पर्शमात्र होता है। इसी अबद्ध सिद्धान्त के कारण वह अबद्धिक निह्नव के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति से संबद्ध कथा इस प्रकार है—आर्यरक्षित की मृत्यु के बाद आचार्य दुर्बलिका-पुष्पमित्र गणि पद पर प्रतिष्ठित हुए। उसी गण में गोष्ठामाहिल नाम का एक साधु भी था। एक समय आचार्य दुर्बलिका-पुष्पमित्र विन्ध्य नामक एक साधु को कर्मप्रवाद नामक पूर्व का कर्म-बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे। उसमें ऐसा वर्णन आया कि कोई कर्म केवल जीव का स्पर्श करके ही अलग हो जाता है, उसकी स्थिति अधिक समय की नहीं होती। जिस प्रकार किसी सूखी दीवाल पर मिट्टी डालते ही दीवाल का

---

[१] गा. २४५१–२५०८

स्पर्श करते ही मिट्टी तुरन्त नीचे गिर पड़ती है उसी प्रकार कोई कर्म जीव का स्पर्श करके थोड़े ही समय में उससे अलग हो जाता है; जैसे गीली दीवाल पर मिट्टी डालने से वह उसी में मिलकर एक रूप हो जाती है तथा बहुत समय के बाद उससे अलग हो सकती है वैसे ही जो कर्म बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित होता है वह जीव के साथ एकत्व को प्राप्त कर कालान्तर में उदय में आता है। यह सुन कर गोष्ठामाहिल कहने लगा—'यदि ऐसी बात है तो जीव और कर्म कभी अलग नहीं होने चाहिए क्योंकि वे एकरूप हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कर्मबद्ध को कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि वह हमेशा कर्म से बँधा रहेगा। इसलिए वास्तव में जीव और कर्म का बंध ही नहीं मानना चाहिए।' आचार्य ने उसे इन दोनों अवस्थाओं का रहस्य समझाया किन्तु ईर्ष्या एवं अभिनिवेश के कारण उसके मन में उनकी बात न जँची। अन्ततोगत्वा वह संघ से बहिष्कृत कर दिया गया।[१]

अष्टम निह्नव : शिवभूति

यह अन्तिम निह्नव है। इसकी प्रसिद्धि बोटिक के रूप में है। कथानक इस प्रकार है—रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति नामक एक साधु आया हुआ था। वहां के राजा ने उसे बहुमूल्य रत्न कम्बल दिया। यह देख कर शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने कहा—'साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले इस कम्बल को ग्रहण करना ठीक नहीं।' उसने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर उस कम्बल को छिपा कर अपने पास रख लिया। गोचरचर्या से लौटने पर प्रतिदिन उसे संभाल लेता किन्तु कभी काम में नहीं लेता। गुरु ने यह सब देख कर सोचा—'इसे इसमें मूर्छा हो गई है। उसे दूर करने का कोई उपाय करना चाहिए।' यह सोच कर उन्होंने उसके बाहर जाने पर बिना कुछ पूछे-ताछे उस रत्नकम्बल को फाड़ कर उसके छोटे छोटे टुकड़े करके साधुओं के पादप्रोञ्छनक बना दिए। यह जान कर शिवभूति मन ही मन जलने लगा। उसका कषाय दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। एक समय आचार्य जिनकल्पियों का वर्णन कर रहे थे। 'किन्हीं जिनकल्पियों के रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो ही उपधियां होती हैं, आदि।' यह सुन कर शिवभूति ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो हम लोग इतना सारा परिग्रह क्योंकर रखते हैं? उसी जिनकल्प का पालन क्यों नहीं करते?' आचार्य

---

[१] गा० २५०९–२५४९

ने उसे समझाया कि इस समय उपयुक्त संहनन आदि का अभाव होने से उसका पालन शक्य नहीं। शिवभूति ने कहा—'मेरे रहते हुए यह अशक्य कैसे हो सकता है ? मैं अभी इसका आचरण करके दिखाता हूँ।' यह कह कर वह अभिनिवेश वश अपने वस्त्रों को वहीं फेंक कर चला गया। बाद में उसने कौंडिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्यों को दीक्षा दी। इस प्रकार यह परंपरा आगे बढ़ती गई जो बोटक मत के नाम से प्रसिद्ध हुई। बोटिकों के मतानुसार वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रह रूप है अतः त्याज्य है। भाष्यकार आर्यकृष्ण के शब्दों में इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो जो कषाय का हेतु है वह यदि परिग्रह है और उसे त्याग देना चाहिए तो स्वकीय शरीर को भी त्याग देना पड़ेगा क्योंकि वह भी कषायोत्पत्ति का हेतु है अतः परिग्रह है।[१]

धर्म का निचोड़

"धर्म-तत्व यह है—अहंभाव छोड़ो, सेवाभावी बनो। परिग्रह का संचय मन में लोभ और अभिमान लाता है। पदार्थ परिग्रह नहीं हैं, उनमें ममता परिग्रह है। समाज में आज कितनी विषमता दीखती है। एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी जगह खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसा कहाँ ? धर्म कहाँ ? कुछ लोगों की ममता से समाजवादी विचार को जन्म मिला। समाजवाद लोगों में धन का समान वितरण चाहता है। गांधी जी अहिंसक हैं, पर समाजवादी तो अहिंसक नहीं हैं। इससे जब गांधी जी कहते हैं कि ममता छोड़ो, तब समाजवादी यह कहने का धीरज क्यों रखने वाला है। वह कहेगा कि तुम से ममता नहीं छूटती है तो मेरे तो हाथ हैं, मैं तुम्हारा धन छीने लेता हूँ। आप सच मानिए कि हमारे आसपास भूखे लोगों की भूख मंडरा रही हो तो उसके बीच महल के बंद कमरे में धर्म का पालन नहीं हो सकता।"

—'पर्युषणपर्व व्याख्यानमाला' से

—जैनेन्द्रकुमार

[१] गा. २५५०–२६०९.

दयावान हाथी

—श्री जयभिक्खू

मगध देश के एक राजकुमार को संसार पर वैराग्य हुआ। भगवान महावीर के पास जाकर उसने दीक्षा ली और वह साधु बन गया। एक दिन की बात है। एक नगर में किसी सद्गृहस्थ से मांगे हुए घर में सभी साधु ठहरे हुए थे। शाम को सब साधुओं ने क्रमानुसार अपने बिस्तर बिछाए। उस राजकुमार का बिस्तर दरवाजे के पास आया।

रात्रि में राजकुमार को निद्रा नहीं आई।

सभी साधु रात को लघुशंका के लिए उसी द्वार से आते-जाते थे। उनकी चरण-रज से राजकुमार का सारा बिस्तर धूल से भर गया। ऐसे आने-जाने की खटखट में तथा धूल और रेती से भरे बिस्तर में एक कोमल राजकुमार को निद्रा कैसे लग सकती थी।

राजकुमार सारी रात बिस्तर में बैठा रहा। उसे नींद नहीं आई। अतः दिमाग चक्कर खाने लगा। उसने निश्चय किया कि वह वैराग्य की जिंदगी खतम करेगा। यह भी सोचा कि सुबह होते ही सारा असबाब और साधुवेश भगवान को सौंपकर वह अपने घर चला जाएगा। मन चंगा तो कथौटी में गंगा! घर में रहकर भी धर्मध्यान तो कर ही सकते हैं न?

सुबह होते ही वह भगवान महावीर के पास पहुँचा और बोला, 'ऐसी अपमान भरी दीक्षा से क्या फायदा। मुझे छुट्टी दीजिये। मैं घर जाना चाहता हूँ।'

उस समय शांतमूर्ति भगवान महावीर ने उस राजकुमार को अपने पास बैठाकर एक सुंदर कथा कही—

विंध्याचल नामक पर्वत है। उसमें गगनचुम्बी पेड़ों के जंगल हैं। उन बीहड़ वनों के बीच में गहरी नदियाँ हैं जो कष्टपूर्वक ही पार की जा सकती हैं। वहाँ पर देवदार और बांस के पेड़ों की घटाएँ छाई रहती हैं।

इस जंगल में मेरुप्रभ नामक एक हाथी रहता है। वह पांच सौ हथिनियों का स्वामी है। वैसे तो वन-निवासी सभी हाथियों का वह स्वामी है। वह सभी का राजा की तरह पालन करता है।

मनुष्य को जैसे पक्वान्न खाने में आनंद आता है, उसी तरह हाथी को बांस की कोंपलें खाने में मजा आता है। हाथियों का राजा मेरुप्रभ कई

भयानक जंगलों को पार करके सुंदर बांसों के समूहवाले मैदान ढूँढ निकालता है और सबको वहां ले जाता है। पीने के लिए वह सुंदर जलाशय खोजता है और सबको अमृत समान नीर पिलाता है। मनुष्य तो नौ महीने माँ के पेट में रहता है, लेकिन हाथी तो इक्कीस मास तक माँ के गर्भ में रहता है। ऐसे समय गर्भिणी हथिनियों की वह खूब सँभाल लेता है। वह सभी हाथियों का प्यारा नेता है। उसकी निगरानी में हाथी समुदाय आनंद से रहता है।

एक समय की बात है। जंगल में खूब हवा बहने लगी। पहाड़ फटने लगे और पेड़ की डालियाँ आपस में टकराने लगीं। इसमें से आग की चिनगारियाँ निकलीं और वन में दावानल फूट निकला।

दावानल लगा, वह भी बहुत तीव्र। एकदम हरे पेड़ भी अगरबत्ती की तरह जलने लगे। आग की लपटें आकाश से बातें करती थीं। पक्षी चहचहाहट करते हुए आकाश में उड़ने लगे। लेकिन, ओह! आग से झुलस कर वे नीचे गिरने लगे। बेचारे चौपायों का तो पूछना ही क्या? वे इधर से उधर और उधर से इधर भागते हैं लेकिन चारों तरफ़ आग ही आग है, मानो यमराज हजार हाथों से भक्षण करने आ पहुंचा है।

बहुत समय निकल जाने पर दावानल शांत हुआ। इस समय मेरुप्रभ ने अपने हाथियों को बचाने में बहुत मेहनत की। कइयों को मैदान में ले जाकर रखा, कइयों को सरिता के बीच में खींच ले गया, तब भी बहुत से इस भयंकर दावानल में जल कर भस्म हो गए।

इस घटना से मेरुप्रभ ने सोचा कि एक ऐसा स्थान बनाया जाए कि जहां ऐसे समय मेरे सारे साथी शांति से रह सकें, और उन्हें जरा भी आंच न आए।

इसके लिए उसने जंगल में सुंदर नदी-नाले और सरोवर वाले स्थल को ढूँढ निकाला। सभी तरफ़ से दो-दो कोस तक उसने हरेक पेड़ को अपनी सूंड से उखाड़ फेंका। सूखा घास तो क्या, हरी घास-पत्ती को भी रहने नहीं दिया। उसने सभी को चेतावनी दे दी कि संकट के समय यहां सहारा ले लेना चाहिए। सभी हाथी अब अग्नि का भय छोड़ कर आनंद से दिन काटने लगे।

कुछ समय बीता। जंगल में एक बार फिर दावानल फूट निकला। जगह-जगह से हाथी आकर उस मैदान में आश्रय लेने लगे। मेरुप्रभ हाथी भी उस समय पर वहां आ पहुँचा। सारा जंगल भभक रहा था। उस समय यह मैदान एकदम निरापद था। यहां अग्नि पास भी नहीं आ सकती थी।

ऐसा सुरक्षित स्थान देखकर हाथियों के अलावा, शेर, बाघ और शशक आदि जानवर भी वहां आश्रय लेने आ पहुँचे। सम्मुख मौत खड़ी देखकर सभी अपने जातिगत् बैर-भाव भूल गए और सारा ही मैदान भर गया।

मेरुप्रभ हाथी अपना स्थान सुरक्षित देखकर और अपना श्रम सफल देख कर खूब आनंद मानने लगा। अचानक उसकी पीठ पर खुजली चली। वह पैर ऊँचा करके खुजलाने लगा। उस समय एक डरपोक शशक—खरगोश उसके पैर के नीचे खाली स्थान पर आकर बैठ गया।

मेरुप्रभ अपना पैर नीचे रखने लगा तो देखता है कि उसके पैर के नीचे भय से कांपता हुआ श्वेत खरगोश बैठा है। वन के राजा मेरुप्रभ हाथी के दिल में यकायक एक विचार आया। उसने सोचा कि हमारे और खरगोश—दोनों के प्राण तो एक से ही हैं। उसे भी अपने प्राण उतने ही प्यारे है जितने मुझे अपने प्यारे हैं। किसे मरना अच्छा लगता है। खरगोश के भी प्राण तो हैं ही। इस प्रकार हाथी के मन में दया जाग उठी और उसने अपना ऊँचा किया हुआ पैर ज्यों का त्यों उठाए रखा।

जंगल का वह दावानल दो दिन और तीन रातों तक एक सा जलता रहा। तीसरे दिन सुबह जब दावानल शांत हुआ तो सभी प्राणी इधर-उधर बिखर गए। भूख से पीड़ित हाथी समुदाय भी दूर-दूर जंगलों में घास-चारे की फिक्र में तत्काल ही रवाना हो गया। वह खरगोश भी खुश होता हुआ किलकारियाँ मारता हुआ दौड़ गया।

जब मेरुप्रभ अपना पैर नीचे रखने लगा तो तीन दिन तक पैर को लटकाए रखने के कारण जोड़ों के अकड़ जाने से वह जमीन पर गिर पड़ा। उसकी वजनदार काया चूर-चूर हो गई। उसकी देख-भाल करने वाला वहाँ कोई नहीं था। भूख और प्यास से तड़पता हुआ वह कुछ दिन वहीं पड़ा रहा। दयाभाव से भरा हुआ वह हाथी वहीं मर गया।

यह कथा खतम करते हुए भगवान बोले—

हे राजकुमार, वह मेरुप्रभ हाथी ही तू मेघकुमार बना है। वाह, जब पशु होकर तू ने इतना कुछ सहन किया, तो मनुष्य हो कर तू क्यों दुःख से घबड़ाता है। सहन करने से ही आदमी साध्य तक पहुँच सकता है।

राजकुमार मेघ समझा, शरमाया और प्रभु के चरणों में गिर पड़ा।

'वीरधर्म की प्राणिकथाएँ' से

आकुल-वेला

[१]

गगन मगन है तपन-जलन में
तृष्णा-तारक नयन-नयन में !

शबनम क्या, पानी का पानी
निशा-अश्रु की यही कहानी ;
दारुणतम इतिहास पीर का
समय-चक्र पर घिसी जवानी ।

चरण चपल है चलन-कलन में
उन्मन जीवन मरण-वरण में !

[२]

जीवन क्या, मारुत का झोंका
गिनती साँसों की आयुर्बल ;
कुत्सा-क्रीड़ित मन मानव का
पूरित जिसमें अतल दुरित छल ।

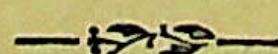
विमन-विमन तन, सघन समस्या
शोषण-पीड़न चरण-शरण में !

[३]

मानव क्या ? चिंता की चक्की
पेषित श्रद्धा की आशाएँ ;
बुद्धिवाद की वावदूकता
परम प्रपंचित-सी-भाषाएँ ;

विकल-विफल युग, मूक कामना
इच्छा कीलित पल-प्रस्पन्दन में !

—श्रीरञ्जन सूरिदेव, साहित्याचार्य



विद्वद्वर विनयसागर

आद्यपक्षीय नहीं, पिप्पलक शाखा के थे।

–श्री अगरचन्द नाहटा

इतिहास के क्षेत्र में एक ही नाम वाले कई व्यक्तियों के प्रसिद्ध होने पर नाम साम्य से एक व्यक्ति से संबन्धित घटनाएँ दूसरों के साथ असावधानी व भ्रमवश जुड़कर बड़ी गड़बड़ी उपस्थित कर देती हैं। अतः इतिहास लेखक को बड़ी पैनी दृष्टि और सतर्कता रखनी होती है; अन्यथा एक भ्रान्त परम्परा अनेक व्यक्तियों को लम्बे काल तक चक्कर में डाले रहती है। बहुत बार तो यहां तक होता है कि उस भ्रम का प्रतिवाद व सप्रमाण निराकरण कर देने पर भी वह भ्रान्त परम्परा रुक नहीं पाती क्योंकि उस निराकरण के अवलोकन का अवसर बहुत बार मूल लेखक की रचना के पाठक को मिल नहीं पाता।

वैसे तो साधारण सी किसी भ्रान्तिपूर्ण बात के निराकरण के लिए अधिक श्रम करना जनसाधारण के लिए सरल नहीं होता; पर इतिहास के क्षेत्र में छोटी सी भ्रांति बहुत बड़ी भूल का परिणाम बन जाती है इसलिए भ्रान्त परम्परा का उन्मूलन आवश्यक हो जाता है।

श्रमण वर्ष ५ अंक ६ में साहित्याचार्य उपाध्याय विनयसागर जी ने सत्रहवीं शताब्दी के विद्वद्वर विनयसागर रचित "अविद् पद-शतार्थी" का परिचय प्रकाशित किया है। उसमें ग्रन्थ का परिचय देते हुए उसके रचयिता को खरतर गच्छ की आद्यपक्षीय शाखा का विद्वान बताया गया है। इसी धारणा के कारण ग्रन्थकार की गुरु परम्परा का वंशवृक्ष देते हुए जिनहर्ष सूरि का जो टिप्पणी में परिचय दिया है वह भी हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह' के आधारसे आद्यपक्षीय शाखा के जिनहर्ष सूरि का दे दिया गया है। लेख के अन्त में भी इस शाखा के पाली के प्रमुख भंडार में ग्रन्थकार की अप्राप्य रचनाएँ मिलने की सम्भावनाएँ की गई हैं। पर ये तीनों बातें सही नहीं हैं जैसा कि आगे बताया जाता है।

जब यह लेख मैंने पढ़ा तो मुझे जिनहर्ष सूरि का परिचय कुछ जँचा नहीं; क्योंकि ग्रन्थकार के पांच पीढ़ी पहले जिनहर्ष[१] सूरि हो गए हैं। अतः ग्रन्थकार से साधारणतया सौ वर्ष के पहले होने चाहिए। जब कि टिप्पणी में दिये गए जिनहर्ष सूरि का स्वर्गवास ग्रन्थकार के ग्रन्थ रचना काल १६६७–६९ के ५५–६०वर्षों के बाद सं०१७२५में होना बतलाया गया है। इससे जिन जिनहर्ष सूरि का परिचय दिया गया है, वे ग्रंथकार के उल्लिखित जिनहर्ष सूरि तो हो ही नहीं सकते।

अनुसन्धान करने पर विदित हुआ कि ये जिनहर्ष सूरि आद्यपक्षीय[२] शाखा के आचार्य न होकर उससे पूर्ववर्ती खरतरगच्छ की जिनवर्द्धन सूरि से निर्मित पिप्पलक शाखा के आचार्य थे, जिनका समय ग्रंथ लेखन प्रशस्तियों के अनुसार सं० १५५१ व १५६१ के करीब का है। सं० १५६७ की प्रशस्ति में इनके पट्टधर जिनचंद्र सूरि का उल्लेख मिलने से जिनहर्ष सूरि का स्वर्गवास सं० १५६१ और १५६७ के बीच होना सिद्ध होता है। ग्रन्थकार ने अपनी परम्परा जिनहर्ष सूरि से बतलाई है। वे ग्रन्थकार से पाँच पीढ़ी के पहले के होने से यह समय बिल्कुल फिट बैठ जाता है।

'देश विरति धर्माराधक समाज' के प्रकाशित 'प्रशस्ति संग्रह' के नम्बर ४२१० वीं प्रशस्ति से ग्रन्थकार पिप्पलक शाखा के ही थे, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

"श्री पंचदंड छत्र कथा—संवत् १६१६ वर्षे चैत्र शुदि ५ शुभवारे ॥ वृहत् खरतर गच्छे पीपलीया शाखा भट्टारक श्री श्री जिनहर्ष सूरि संताने, श्री जिनसंघ सूरि विराज्यमाने, तत्पट्टे ऋषि श्री श्री हेमनिधानतत्पट्टे श्री ऋषिमेता, तत्पट्टे

[शेष पृष्ठ २० पर]

---

१ ग्रन्थ रचना के समय विद्यमान आचार्य रूप में वहाँ जिनहर्ष सूरि का उद्धरण नहीं और न आद्यपक्षीय जिनहर्षसूरि उस समय आचार्य पद पर अधिष्ठित ही थे।

२ आद्यपक्षीय शाखा का प्रचार व प्रभाव जोधपुर राज्य में ही अधिक रहा है जब कि विद्वद्वर विनय सागर का विहार दिल्ली, जौनपुर, अलवर की ओर उनकी रचनाओं से सिद्ध है। इस क्षेत्र में पिप्पलक शाखा का ही प्रचार उस समय अधिक रहा है।

तृष्णा और उसका अन्त !

—श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

संसार की आधि, व्याधि और उपाधि से परिपीडित एक व्यक्ति की एक बार स्वर्गलोक के स्वामी देवराज से भेंट हो गई। देखते ही उसने देवेन्द्र के चरणों में प्रणाम किया और उचित शिष्टाचार के अनन्तर बड़े दयनीय तथा सानुरोध स्वर में प्रार्थना की—

देवेश ! मैंने सुना है कि आप देवलोक के नियन्ता हैं, सर्वेसर्वा हैं, हजारों देव आप की पुण्य छाया तले विश्राम लेते हैं। आप की पुण्यविभूति ही सर्व देवों की पालिका तथा पोषिका है।

पुण्यनिधे ! मैंने यह भी सुना है, कि आप के द्वार पर कोई भिक्षु निराश नहीं लौटता, आप सभी को कल्पवृक्ष के रूप में दर्शन देते हैं। आप का वरद हस्त जहां पड़ जाता है वहां सुखपुष्पों का उद्यान लहलहा उठता है।

करुणानिधे ! मुझ दीन-हीन पर भी कुछ कृपा करो। मुझ पामर की भी कुछ सुध लो। नाथ ! मैं अधिक कुछ नहीं चाहता। सूई की नोक पर आ सकने वाला मेरा दुःख आप ले लेवें और उसके बदले में उतना ही सुख मुझ अनाथ की झोली में डाल दें। बस, इससे ज्यादा मैं आप से कुछ नहीं मांगता।

आशाओं के केन्द्र ! समुद्र से एक बिन्दु के निकल जाने पर उसमें कुछ कमी नहीं हो पाती। राजाओं के भण्डार सदा मोतियों से भरे रहते हैं। आप हमारे भाग्य के राजा हैं। दास की इस दयनीय दशा पर कुछ तो दया करो ! इससे पहले मैं कभी आप के चरणों का याचक नहीं बना, यह मेरे जीवन की पहली प्रार्थना है प्रभो !

प्रार्थी के अन्तिम शब्दों ने देवराज का मौन भंग किया। वे बोले—

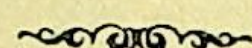
मैं एक आवश्यक कार्य के लिए इधर आ निकला हूँ, तू उसमें क्यों दीवाल बन रहा है, मेरी कार्य सिद्धि का कहीं अपशकुन बन कर तो नहीं आ गया ! प्रतीत होता है, तू ने सुखशास्त्र का अध्ययन नहीं किया। तभी ऐसी विचित्र

बातें बनाता जा रहा है। भोले मानुष ! सुख का आदान हुआ करता है, प्रदान नहीं; सुख लिया जाता है, दिया नहीं जाता।

सुख जीवन का प्राण होता है, सुख ही जीवन का सर्वस्व है, उसका दान कैसे किया जा सकता है ? तू उसे लेना चाहता है, भाग यहां से।

क्या तू नहीं जानता, मैं तो स्वयं सुख देवता की आराधना और उपासना दिन-रात करता रहता हूँ, सुख की लालसा में मुझे एक क्षण भी चैन नहीं पड़ती। मैं सदा उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहता हूँ, जब संसार का समस्त सुख अपनी झोली में डाल लूं।

पगले ! प्यासा व्यक्ति कभी किसी की प्यास नहीं बुझाया करता। जब सुखों की प्यास ने मुझे स्वयं ही आकुल-व्याकुल बना रखा है तो फिर तुझे सुख कहां से दे डालूं ? चल यहां से, कहीं और जाकर अलख जगा।



[पृष्ठ १८ से आगे]

रिषिमान पठनार्थं ।। शुभंभवतु ।। लेषक पाठकयोः ।। शुभं मांगल्यं ददातु ।।छ।।छ।।

श्री जैन. सं. ज्ञान भंडार पाटण

कहना न होगा कि प्रशस्ति में उल्लिखित ऋषि मान ग्रन्थकार के प्रगुरु मानकीर्ति ही हैं।

एक अन्य भ्रान्ति का भी यहाँ निराकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ कि ग्रन्थकार की सोमचन्द्र राजा की चौपाई का रचना काल 'जैन गुर्जर कवियो' भाग १ के अनुसार सं० १६१७ बतलाया गया है। पर विचार करने पर वह ठीक नहीं प्रतीत होता। 'जैन गुर्जर कवियों' के उल्लिखित पाठ में 'सोलह सत्तरही' शब्द है इससे १६७० लिया जाना चाहिए था न कि १६१७। ग्रन्थकार की 'विदग्ध मुखमंडन टीका' का रचना स्थान हमारी नोंध के अनुसार सेजपुर नहीं तेजपुर है।

———

बड़ा कौन है !

—एक शिक्षाप्रद ऐतिहासिक सत्य घटना के आधार पर—

विजय-दर्पोन्मत्त सिकंदर महान् अपनी विशाल चतुरंगिनी के साथ ईरान की सड़कों से गुज़र रहा था। भयभीत नागरिक झुक-झुक कर अभिवादन कर रहे थे। गर्व-मिश्रित मुस्कान सिकन्दर के चेहरे पर उत्तरोत्तर प्रखर होती जा रही थी। पर उस के अभिमान की गगनचुम्बी इमारत सहसा ढह गई। सामने से सन्तों की एक टोली गुज़र रही थी। सिकन्दर के आक्रोश का ठिकाना न रहा जब उन में से किसी ने आँख उठा कर भी उस की ओर नहीं देखा।

क्रोध से काँपते हुए सिकन्दर ने उन सन्तों को रुकवाया—"तुम लोगों की इतनी जुर्रत! क्या तुम्हें मालूम नहीं, मैं सिकन्दर महान हूँ?"

टोली के वयोवृद्ध तेजस्वी सन्त के चेहरे पर एक आश्चर्य-मिश्रित मुस्कान खेल गई—"राजन्! तू किस भ्रम में भटक रहा है? तू नहीं जानता, तेरे ये सब राजसी ठाठ एक तृण से अधिक महत्व नहीं रखते!

दो बन्दारा मन कि हिर्स ओ आज़न्द,
वर तो हमरोज़ सर फ़राज़न्द।

जिस लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर तू दिन-रात उन की चाकरी बजा रहा है, वे दोनों तो मेरे पैरों पर लोटने वाले परम आज्ञाकारी सेवक हैं। अतः तू तो मेरे दासों का भी दास है।"

—हजारी लाल जैन 'प्रेमी'

महावीर भूले ?

—श्री कस्तूरमल बाँठिया

जैन मात्र की यह मान्यता है कि तीर्थंकरों के प्रवचन लोकभाषा में हुए थे और उनको गणधरों ने सूत्रबद्ध किया था। विद्वानों का यह भी कहना है कि जैन आगमों की रचना-शैली ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में शुरू की हुई संक्षिप्त सूत्रों की सी नहीं, अपितु बौद्ध पिटकों जैसी वर्णनात्मक सूत्रों की है।

अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अनुयायी आज दो मुख्य सम्प्रदायों और अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त हैं। दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इनमें से पहला तो गणधर रचित सूत्रों को सर्वथा नष्ट हुआ मानता है, परन्तु दूसरा ऐसा नहीं मानता। इसके आचार्यों ने वीर निर्वाण संवत् ९८० में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में एक सम्मेलन बुलाकर उस समय तक स्मरण रहे सारे जैन शास्त्रों को लिपिबद्ध करा लिया था जो ४५ आगमों के नाम से अब तक प्रसिद्ध हैं। इन ४५ आगमों में गणधर गुम्फित सूत्र ही लिपिबद्ध हुए हों सो बात नहीं। श्रुतकेवली कहे जाने वाले पीछे के आचार्यों के भी धर्मग्रंथ हैं। जम्बूस्वामी ही, जिनका निर्वाण महावीर के निर्वाण के ६४ वर्ष पश्चात् हुआ था, इस युग के अन्तिम केवली थे। उसी समय से इस अवसर्पिणी काल के लिए भारतवर्ष में से १० वस्तुएँ अर्थात् १ मोक्षगमन, २ केवलज्ञान, ३ मनःपर्यवज्ञान, ४ परमावधिज्ञान, ५ पुलाक-लब्धि, ६ आहारक-शरीर लब्धि, ७ क्षपक श्रेणी, ८ उपशम श्रेणी, ९ संयम-त्रिक अर्थात् परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म-सांपराय और यथाख्यात चारित्र, और १० जिनकल्प नष्ट हो गए। इसलिए जंबूस्वामी के पश्चात् होने वाले गणाधिपति श्रुतकेवली ही कहलाए। महावीर के पीछे सातवें गणपति श्री सम्भूतविजय जी के देवलोक होने पर उनके गुरु भाई आचार्य भद्रबाहु गणाधिपति बने जो जैन श्वेताम्बर परम्परा में अन्तिम श्रुतकेवली माने जाते हैं। इनके पश्चात् विद्वानों की परम्परा नष्ट तो नहीं हो गई, परंतु संघ के उपसम्प्रदायों में बिखरने की परंपरा का श्रीगणेश हो जाने के कारण, उनकी सर्वमान्यता शिथिल पड़ गई।

इन धर्म ग्रंथों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ८४ तक पहुंच गई थी। परंतु उन सब की मान्यता केवल श्वेताम्बर मूर्तिपूजक उपसम्प्रदाय में ही है। स्थानक-

वासी और तेरापंथी उपसम्प्रदायों में केवल ३२ अर्थात् ११ अंग, १२ उपांग, ४ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र और आवश्यक—इन आगमों की ही मान्यता हैं।

सूत्र चाहे लंबी वर्णनात्मक और चाहे संक्षिप्त शैली में रचित हों उनके मूलार्थ को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति, चूर्णी आदि की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। और ज्यों ज्यों सूत्रकाल का वर्तमान काल से अन्तर बढ़ रहा है, व्याख्यादि की यह आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जाती है, इतना ही नहीं, अपितु प्राचीन टीकाओं का स्पष्टीकरण भी आवश्यक प्रतीत होता जा रहा है। प्राचीन भाषा का विलय, नई भाषा का प्रचार, धार्मिक आचार-विचारों में क्रांति आदि भी नई-नई व्याख्याओं की ओर तीव्र प्रोत्साहन दे रही हैं।

सैद्धान्तिक भेद भी कारण है

कभी-कभी सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रचार के लिए भी व्यख्याएँ की गई हैं। सैद्धान्तिक मतभेदों की परंपरा भी अति पुरानी है। श्वेताम्बर संप्रदाय में यह परंपरा सिद्धसेन दिवाकर से प्रारम्भ हुई कि जिनने ज्ञान और दर्शन के स्वरूप की पुरानी मान्यताओं में खूब ही परिवर्तन किया। श्वेताम्बर परम्परा में ही तेरापंथी उपसंप्रदाय के उद्‌गाता आचार्य श्री भिक्खू हैं जिनने दान और दया की पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन किया है। इन परिवर्तनों ने ऐसे उपसम्प्रदायों को जन्म दे दिया है कि उनके विरोध के बाहरी रूप को देखते हुए यह कहना ही एक भारी समस्या हो गई है कि महावीर के यथार्थ अनुयायी कौन हैं ?

समयानुसार जैसे भाषा में परिवर्तन होता है वैसे उसमें प्रयुक्त अनेक शब्दों के रूढ़ अर्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं। कोई आचार्य किसी अर्थ को प्रधानता देकर धर्म ग्रंथों की व्याख्या करना तत्कालीन समाज के लिए हितकर समझता है तो दूसरा पुरातन अर्थ को प्रधानता देकर आचार स्खलना का परिहार कराना आवश्यक समझता है। स्याद्वाद सप्तभंगी द्वारा मन्तव्यों का समन्वय करने वाला यह तो नहीं कह सकता है कि विवादग्रस्त विषय की व्याख्या एक प्रकार से ही की जा सकती है। परन्तु जब अपनी व्याख्या के समर्थन में उसी धर्म के प्रणेता द्वारा भूल होना कहा जाता है तो उस भूल का और उसके कारण का विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

आचार्य भिक्खू ने कहा है कि तेजोलेश्या के आघात से गोशालक की शीत-लेश्या के प्रयोग द्वारा रक्षा करने में महावीर से भूल हो गई थी। क्योंकि वे उस समय छद्मस्थ थे और आठों ही कर्मों में फँसे हुए थे, इसलिए उनसे यह भूल होना या हो जाना किंचित् भी आश्चर्यजनक नहीं था।

आचार्य भिक्खू के शब्द ठीक ये ही न हों, परन्तु उनका अभिप्राय यही है। केवली (सर्वज्ञ) होने के पश्चात् भगवान् महावीर के किये गए कथन और उससे पूर्व के उनके कथन व आचरण में ऐसी विसंगति उन्हें प्रतीत हुई कि वे भूल कहने के सिवा और किसी अन्य प्रकार से उसकी संगति ही नहीं बैठा सके।

छद्मस्थ शब्द व्यापक है

जैन वाङमय में 'छद्मस्थ' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। पहले गुणस्थानी 'मिथ्यात्वी' से लेकर १२ वें गुणस्थानी 'क्षीण कषायी' तक के लिए इसका प्रयोग किया जाता है, हालांकि १२ वें गुणस्थान तक विकसित हुआ व्यक्ति एकभव-अवतारी और चरम भव-अवतारी भी हो सकता है। महावीर न केवल तब चरम भवावतारी ही थे, वरन् तीर्थंकर भवावतारी भी थे और वे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान सहित जन्मे थे और अभिनिष्क्रमण करते ही उन्हें चौथा 'मनःपर्यवज्ञान' भी हो गया था। अतः वे साधारण छद्मस्थ तो कभी नहीं माने या कहे जा सकते थे।

फिर 'मनः पर्यवज्ञान' का आविर्भाव सातवें अप्रमत्त गुणस्थानी को ही हो सकता है यह जैन दर्शन मानता है। इसकी प्राप्ति के बाद मुनि प्रमादवश छठे प्रमत्त गुणस्थान में फिर से गिर सकता है, परंतु महावीर के लिए विकास की चढ़ी श्रेणी से नीचे गिरने की कल्पना तक करना असंभव है क्योंकि महावीर 'शलाका पुरुष' अर्थात् जिससे दूसरों का विकास मापा जा सके, वैसे पुरुष थे। गुणों की शुद्धि से आत्मा का पतन प्रमाद के सेवन से ही होता है। केवलज्ञान प्राप्त नहीं होने तक महावीर छद्मस्थ अवश्य थे, परंतु प्रमादी नहीं थे। निरंतर जागरूक शलाका पुरुष से ऐसी भूल का होना कि वह एक सामान्य श्रुतज्ञानी द्वारा आसानी से बता दी जा सके, यह एक विचारणीय बात है।

लोकावधि ज्ञान की प्राप्ति

जैन शास्त्र कहते हैं कि छठे वर्षावास के अनन्तर और कटपूतना व्यंतरी कृत घोर शीत उपसर्ग सहने के पश्चात् ही महावीर को लोकावधि (परमावधि) ज्ञान की भी प्राप्ति हुई थी जो कभी लौटने वाला नहीं था। और तब से महावीर लोकवर्ती समस्त रूपी द्रव्यों को हस्तामलकवत् जानने और देखने लगे थे। यह तो उत्तरोत्तर विकास करने वाले व्यक्ति के जीवन में ही संभव हो सकता है न कि स्खलन-शील व्यक्ति के। महावीर छद्मस्थ को प्राप्त हो सकने वाले सभी ज्ञानों के अब तक पूर्ण धारक हो चुके थे और अपने विशुद्ध मनःपर्यवज्ञान से

किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर वे यह भी जान सकते थे कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिंतन किया है। घाती कर्म खपाना कुछ अवशेष थे और वे ही केवलदर्शन एवं केवलज्ञान की प्राप्ति में उन्हें बाधक हो रहे थे। परंतु फिर भी जाने या अनजाने भी वे प्रमाद का सेवन नहीं करते या कर सकते थे।

क्या रक्षा भी हिंसा है ?

नौवाँ वर्षावास बिता कर जब महावीर कूर्मग्राम पहुंचे, तब की गोशालक की घटना को लेकर यह कहा गया है कि उनसे गोशालक के प्रति राग दिखाने में हिंसा तक हो गई क्योंकि उनने अनगार आचरण के विरुद्ध शक्ति के प्रति शक्ति का प्रयोग किया था। इसके समर्थन में केवलज्ञानी अर्हन्त होने पर दिये गए उपदेश में से उनका निम्न लिखित सूत्र उद्धृत किया जाता है—

अरिहंता भगवंतो अहियं व हियं व न वि इहं किंचि।
कारंति कारवंति य, घित्तूण जणं बलहत्थे॥

यह उद्धरण किस सूत्र का है, इसका उल्लेख 'दी कल्ट आव् अहिंसा' अंगरेजी पुस्तिका के लेखक श्री श्रीचन्द्र जी रामपुरिया ने उसमें नहीं किया है। उस पुस्तक में उद्धरणों के संदर्भ दिए जाने से रह गए हैं हालांकि वे इस विषय में पर्याप्त जागरूक भी हैं। इस उद्धरण के अंगरेजी अर्थ का अनुवाद इस प्रकार है—"**अरहंत भगवान,** जो अहितकर है, उससे लोगों को विरत करने के लिए किसी भी बल का प्रयोग नहीं करते और न वे इसका प्रयोग जो उनके लिए हितकर है वहां ही करते हैं। कभी किसी को जोर जब्री से हाथ पकड़ कर वे मार्ग भी नहीं दिखाते हैं। जो स्थायी हित और लाभ कर है, उसका उपदेश मात्र वे देते हैं।" अनुवाद के प्रति-अनुवाद में त्रुटि रहने से मूल भाव विकृत नहीं हुआ होगा, ऐसी आशा है।

श्री रामपुरिया जी ने अपने अंगरेजी अनुवाद में "अरहंत भगवान" शब्द की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए उसे इटालिक अक्षरों में लिखा है। इसी-लिए इस शब्द को यहां मोटे टाइप में दिया गया है। इस उद्धरण का यह शब्द निःसंदेह ही प्राण कहा जा सकता है। इस शब्द के प्रयोग से साधु और अरहंत का स्पष्ट विभेद महावीर स्वयं ही कर देते हैं। साधु और अरहंत की विषमता का पूर्ण स्पष्टीकरण भगवती सूत्र के अध्ययन में महावीर ने जो स्वयं ही कर दिया है, वह संक्षेप में नीचे उद्धृत करना आवश्यक है—

"यह सुनकर डरा हुआ आनंद झटपट अपने उतारे पर लौट आया और

वहां महावीर से सब बात कहकर जिज्ञासा की कि क्या गोशालक आपको इस प्रकार जलाकर भस्म कर सकता है। उत्तर में महावीर ने कहा कि वह अपने तप तेज से किसी को भी पाषाणमय मारण महायंत्र के आघात जैसे एक ही घात में शीघ्र भस्म राशि करने में समर्थ है। परन्तु अरहंत भगवंत को जला कर भस्म करने में समर्थ नहीं है। अलबत्ता वह उनको परिताप दुःख उत्पन्न करने में समर्थ है। गोशालक का जितना तप तेज है उससे अनगार साधु भगवंत का अनंत गुण विशिष्ट तप तेज होता है क्योंकि अनगार भगवंत क्षमा-क्रोध का निग्रह करने में समर्थ होते हैं। हे आनंद! अनगार भगवंतों का जितना तपोबल होता है, उससे अनंत गुण विशिष्ट तपोबल क्षमा के कारण से स्थविर भगवंतों का है और स्थविर भगवंतों के तपोबल से अनंत गुण विशिष्ट तपोबल क्षमा के कारण से अरहंत भगवंतों का है। उनको वह दग्ध करने में समर्थ नहीं है, परंतु उन्हें दुःख उत्पन्न करने में वह शक्तिमान है। हे आनंद! इसलिए तू जा और गौतम आदि को यह कह दे कि हे आर्यो! तुम कोई गोशालक के धर्म संबंधी प्रतिकूल वचन मत कहना, उसके मत के प्रतिकूल अर्थं का स्मरण उसको मत कराना, और उसका धर्म संबंधी तिरस्कार भी मत करना, क्योंकि गोशालक ने श्रमण निग्रँथों के प्रति म्लेच्छपन अथवा अनार्यपन विशेषतः आदर लिया है।"

इस परिस्थिति से पूर्व परिस्थिति की तुलना करने के लिए संक्षेप में उसका भी उद्धृत करना यहां आवश्यक है जो भगवान महावीर के शब्दों में ही इस प्रकार है—

"हम चलते-चलते कूर्मग्राम के पास पहुँचे। वहां गांव के बाहर वेश्यायन नाम का बाल-तपस्वी निरंतर छह-छह मास का उपवास करता हुआ, अपने दोनों हाथ ऊँचे उठाए, सूर्य के सामने खड़ा रह कर धूप में तपस्या करता था। सूर्य के तेज से तपी जूएँ उसके शरीर से चारों ओर बाहर निकल कर भूमि पर गिर रही थीं और वह तपस्वी उन्हें उठा-उठा कर फिर से अपने शरीर पर रख रहा था। ऐसा देख कर गोशालक उससे बोला कि 'तुम मुनि हो कि जुओं के पोषक सत्कारक!' जब गोशालक ने इस प्रकार दो तीन बार कहा तो उसने क्रुद्ध होकर गोशालक को जलाकर भस्म कर देने के लिए अपने शरीर में से तेजोलेश्या फेंकी। उस समय गोशालक के प्रति अनुकंपा से मैंने शीत तेजोलेश्या बाहर निकाली। मेरी शीत तेजोलेश्या से गोशालक का रक्षण हुआ देख कर उस तपस्वी ने अपनी तेजोलेश्या पीछे खींच ली और बोला 'हे भगवन्! मैं समझ गया। हे भगवन्! मैं समझ गया।"

दोनों परिस्थितियों में कोई साम्य नहीं है। एक अवस्था में गोशालक और तापस का पारस्परिक वाद विवाद है और दूसरे में स्वयं महावीर और गोशालक का; जहां गोशालक द्वेष बुद्धि से महावीर को जलाकर भस्म कर देने के दृढ़ मन्तव्य से आता है, उनको कटु एवं अपमानित शब्दों से संबोधित करते हुए उत्तेजित करने का पूर्ण प्रयत्न करता है और अन्त में उन्हें जलाकर भस्म कर देने के लिए तेजोलेश्या का पूर्ण प्रहार भी करता है। गोशालक के क्रोध को क्षमा से ही जीता जा सकता था, इसलिए महावीर उसके प्रति पूर्ण क्षमा धारण हैं, एवं उसे समझाने का ही प्रयत्न करते हैं। गौतम आदि अनगारों को भी पहले से चिता देते हैं कि उससे वाद-विवाद तनिक भी नहीं किया जाए, अपितु उसके प्रति पूर्ण क्षमा का भाव रखा जाए। मना करने पर भी सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अनगार क्षमा का भाव नहीं रख पाते हैं, इतना ही नहीं अपितु महावीर के प्रति अनार्यता प्रदर्शन करने के लिए गोशालक की भर्त्सना तक करते हैं और इस प्रकार अनगार आचार एवं गुरु आज्ञा दोनों से ही स्खलित होने के कारण गोशालक की तेजोलेश्या के आघात से भस्म होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

पक्षान्तर में गोशालक और वेश्यायन विवाद में दोनों व्यक्ति बालवीर्य (अज्ञानी) हैं। वेश्यायन पूर्व पापों की निर्जरा के लिए तपस्या कर रहा है और गोशालक जो महावीर के साथ-साथ पिछले पांच वर्ष से घूम रहा है, उसकी मखौल के लिए ही मखौल करता है। इसका परिणाम दोनों के लिए अहितकर हुआ देख कर महावीर अनुकंपा दिखाते हैं जिससे एक ओर तो गोशालक के प्राण बच जाते हैं, तो दूसरी ओर वेश्यायन को अपने कृत्य का पश्चात्ताप करने का सुअवसर मिल जाता है। तभी तो वह तेजोलेश्या को पीछे खींचते हुए कहता है कि "हे भगवन्! मैं समझ गया। हे भगवन्! मैं समझ गया।" महावीर अनायास ही वहां उपस्थित हैं। उनका वेश्यायन गोशालक वाद-विवाद से तनिक भी लगाव नहीं है। अनुकंपा से उनने शीत तेजोलेश्या द्वारा दोनों की रक्षा की है एक की मृत्यु से और दूसरे की आत्मिक पतन से। परंतु किसी प्रमादवश उनने यह अनुकंपा की या शीत-तेजोलेश्या का प्रयोग किया, यह कहना उनकी तब तक की विकसित अवस्था को मानने से ही इन्कार कर देना है। मुनि श्री नथमल जी के कथनानुसार अहिंसा का बचाव–रक्षा या सहयोग से विरोध नहीं; उसका विरोध हिंसा तथा राग-द्वेषात्मक परिणति से है। महावीर की यह प्रवृत्ति अप्रशस्त राग-द्वेषात्मक ही थी,

यह किस प्रमाण के आधार से कहा जा सकता है ? अनुकंपा राग के बिना दिखाई ही नहीं जा सकती, और ऐसा राग प्रमाद से ही उत्पन्न होता है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। मरणासन्न व्यक्ति को धर्म सुनाया जाता है, इसकी प्रेरणा राग से ही होती है, अथवा वह अप्रशस्त राग है ऐसा कौन कहेगा ?

महावीर ने भूल स्वीकार क्यों नहीं की ?

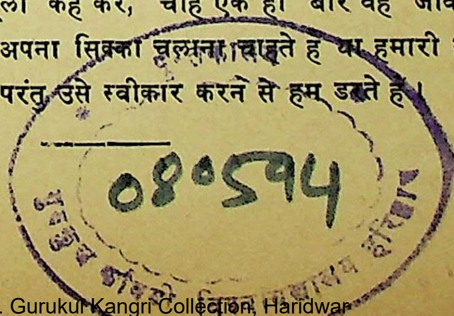
अब तक इस कथन का पाजिटिव अर्थात् अस्तिवाच्य दृष्टि से ही विचार किया है। अब दूसरी नेगेटिव अर्थात् नास्तिवाच्य दृष्टि से भी विचार कर लें। केवली (सर्वज्ञ) महावीर ने प्रमाद नहीं करने का बार-बार उपदेश दिया है और अपने उपदेशों को उनने दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करने का कोई भी अवसर नहीं चुकाया है। प्रमाद के आठ प्रकार उनने इस प्रकार कहे हैं—अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म का अनादर, अशुभ योग या दुर्ध्यान। गोशालक के प्रति अनुकम्पा—राग से प्रेरित होकर महावीर नें शीत तेजोलेश्या का प्रयोग किया था, इसलिए वे भूले कहे जाते हैं। और राग प्रमादी को ही होता है, अप्रमत्त को नहीं। विचारणीय बात यह है कि महावीर को केवलज्ञान हो जाने पर अपने इस प्रमाद का अवश्य ही ज्ञान हो जाना चाहिए था और अपने उपदेशों में इस प्रकार का राग तक नहीं करने के लिए वे स्वयं अपना ही उदाहरण उपस्थित या प्रस्तुत करते हुए उसी प्रकार की स्पष्ट चेतावनी नहीं कर गए जो कि आचार्य श्री भिक्खू ने की है। केवलज्ञानी से न तो कुछ अजान रहता है और न वे सत्य एवं तथ्य कहने में संकोच ही करते हैं। इस संबंध में श्री भगवती सूत्र का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी के पुत्र थे, यह सर्वत्र ख्याति थी। परंतु जब देवानंदा ब्राह्मणी एवं ऋषभदत्त ब्राह्मण कुंडग्राम में महावीर का आगमन सुन उनके दर्शन करने आए और वहां देवानंदा ब्राह्मणी के स्तन में से दूध की धारा छूटी, उसके नेत्र आनंदाश्रु से गीले हो गए, हर्ष से शरीर फूल कर उसका कंचुक तक विस्तीर्ण हो गया और यह सब गौतम की सूक्ष्म दृष्टि से छुपा न रहा तो उसने अपनी शंका को निवारणार्थ भगवान से पूछ ही लिया और भगवान ने भी लोक ख्याति का रंचमात्र भी विचार न रखते हुए, स्पष्ट शब्दों में कह ही दिया कि "हे गौतम ! यह देवानंदा मेरी खरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। इसीलिए देवानंदा को ऐसा सब हुआ है।"

इसी प्रकार गौतम के प्रश्न के उत्तर में गोशालक से हुए उनके संबंध का आरंभ से इतिहास कहते हुए, वे यह भी कह सकते थे कि वेश्यायन की तेजोलेश्या से शीत-तेजोलेश्या के प्रयोग द्वारा गोशालक की रक्षा करने में मैंने भूल की। परंतु ऐसा उनने कुछ भी नहीं कहा। आधुनिक युग में सत्य के अनन्य उपासक महात्मा गांधी जी ने अपनी भूल को स्वीकार करने में कभी आगा-पीछा नहीं किया। भगवान महावीर तो उनसे कहीं अधिक वीतरागी पुरुष थे। यदि सचमुच ही उनसे अनुकंपा वृत्ति से प्रेरित होकर गोशालक की रक्षा करने में भूल हो गई होती तो वे उसकी चेतावनी अवश्य ही दे देते और जैनागमों को लिपिबद्ध कराने वाले आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण उसका उतनी ही सत्यता से किसी भी आगम में उल्लेख अवश्य ही करते। हमारे आगमों की प्रामाणिकता ऐसी ही अनेक सत्य घटनाओं के उल्लिखित किये जाने के कारण सभी पुरातत्वज्ञ ऐतिहासिकों को मान्य है। अतः "महावीर भूले" यह कहना सत्य की दृष्टि से माना नहीं जा सकता है। फिर भी हमारी विचार सरणी की भूल का संशोधन करने के लिए हम सदैव प्रस्तुत हैं।

दया का विकृत रूप

मानव समाज में वैभव के प्रदर्शन के लिए ही दया और अनुकंपा आज अधिकांशतः दिखाई जाती है, यह कौन अस्वीकार करेगा? परंतु फिर भी यह कहना कि इनके उन्मूलन से ही धर्म टिका रह सकेगा, एक असाधारण उक्ति है। दान और दया की नई परिभाषा के विरोध या मंडन में शक्ति खर्च करना शक्ति का अपव्यय है। समाज परस्पर सहानुभूति, समवेदना से ही जीवित रहेगा। और इस सहानुभूति और समवेदना की आवश्यकता त्यागियों तक को होती है और है। दान और दया की नई परिभाषा के प्रचार के निमित्त 'महावीर भले' यह कहना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है। जिसको हम पूर्ण पुरुष मानें, जिसके जीवन की प्रत्येक घटना को हम आदर की दृष्टि से देखना ही नहीं, अपितु अनुकरण तक कर सकने की तीव्र अभिलाषा रखें, और उसके उपदिष्ट मार्ग पर निरंतर चलते रहने को जीवन का ध्येय बनाएँ, उसे ही भूला कह कर, चाहे एक ही बार वह जीवन में ऐसा भूला हो—हम या तो अपना सिक्का चलाना चाहते हैं या हमारी उसमें तनिक भी श्रद्धा नहीं है; परंतु उसे स्वीकार करने से हम डरते हैं।



शिक्षा का ज़हर

—श्री उमाशंकर त्रिपाठी

प्रचलित शिक्षा प्रणाली के दोषों को गिना-गिना कर नेता व अधिकारी गण हार मान गए; किन्तु शिक्षा की गाड़ी ज्यों की त्यों दलदल में अड़ी पड़ी रही। एक ओर इसकी निन्दा की जाती है तो दूसरी ओर नए नए हाई स्कूल-कालेज खुलते जाते हैं—उनका उद्‌घाटन होता है। जो लोग एक स्टेज पर खड़े होकर इन स्कूलों व कालेजों की बुराई करते हैं, वही इनका उद्‌घाटन भी करते हैं। एक बात बिल्कुल साफ है कि जब तक शिक्षण पद्धति में आमूल परिवर्तन नहीं होगा तब तक देश का उद्धार होने की—इसकी दशा सुधरने की कोई गुंजाइश नहीं है। विशुद्ध नागरिकों का निर्माण करना है तो उसकी शुरुआत बच्चों से ही करनी होगी। इसके बारे में कोई दलील देने की आवश्यकता नहीं है। जिनकी उम्र बढ़ गई है, जिनके संस्कार पक गए हैं उनका ठीक होना कठिन है। बच्चों के संस्कारों को काफी हद तक ठीक किया जा सकता है। अतः अगर देश को ठीक नैतिक रास्ते पर लाना है तो यह केवल शिक्षा में क्रान्ति लाने से ही सम्भव हो सकता है।

आज कल की शिक्षा बच्चों को किस ओर लिए जा रही है—यह किसी से छिपा नहीं है। अगर इसी रफ्तार से शिक्षा चलती रही तो उनका सँभलना बड़ा कठिन हो जायगा—कदाचित् असम्भव भी हो सकता है।

तब सवाल यह उठता है कि किया क्या जाए? चिल्लाने से कोई लाभ नहीं, लेख लिखने से भी कुछ नहीं बनता। जिनको यह बात ठीक जँचे उन्हें इस बारे में ध्यान देना चाहिए, सोचना चाहिए, दूसरों से कहना चाहिए, इन बातों का प्रचार करना चाहिए। अगर कुछ लोग इस बात को समझ लें कि बच्चों को प्रचलित शिक्षा प्रणाली से बड़ी हानि हो रही है तो वे इसको ठीक करने का भरसक, जैसा भी उनसे हो सके प्रयत्न करें। अगर अधिक कुछ न हो सके तो दूसरों से चर्चा ही करें।

[शेष पृष्ठ ३२ पर]

चंदनबाला और मृगावती

—श्री जयचन्द बाफणा

जगमगाते प्रकाश में प्रभु महावीर विराजमान थे। चतुर्विध संघ उनकी देशना सुन रहा था। समवसरण में बैठा हुआ प्रत्येक प्राणी उनके व्याख्यान को अपनी अपनी भाषा में हृदयंगम कर रहा था। उसी समय वहाँ सूर्य और चन्द्र आए। उस देदीप्यमान प्रकाश में इन दोनों का प्रकाश, स्फुलिंग की भांति टिमटिमाकर एकाकार हो गया। भगवान की देशना चलती रही और दिवस का अवसान हो गया। समवसरण में सूर्य और चन्द्र दोनों के होने से वहां अंधकार नहीं हुआ। साध्वी चंदनबाला अंतर्ज्ञानी थी, अतः वह उस वेला को समझकर उपाश्रय में लौट आई। किंतु साध्वी मृगावती को ज्ञान नहीं हुआ, इसलिए उसे निशा के आगमन का पता नहीं चल सका और वह वहीं बैठी रही। रात्रि के द्वितीय पहर में सूर्य और चंद्र दोनों वहाँ से भगवान को वंदन कर अपने स्थान को चले गए। उनके जाते ही रात्रि का ज्ञान मृगावती को हुआ। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर उपाश्रय की ओर तेजी से चली। उसे उस भयानक रात्रि का और गुरुणी जी चंदनबाला का ध्यान बार-बार विक्षिप्त कर रहा था। मार्ग में उसे ऐसे ही विकल्प होते रहे और घबड़ाती हुई वह उपाश्रय में पहुँच गई।

चंदनबाला इस समय तक शय्यागत हो गई थी फिर भी उसे निद्रा नहीं आई थी। मृगावती ने जाकर चंदनबाला को वंदन किया और अपने गुरुतर अपराध की क्षमा माँगी। किन्तु चंदनबाला ने उसे ठुकरा दिया और कुलीन घर की कन्या कह कर उलहना भी दिया। मृगावती को वे वचन शर से चुभने लगे। वह पश्चात्ताप में वहीं बैठ गई। क्षोभ के प्रायश्चित्त स्वरूप वह अपनी गुरुणी के पद दाबती रही और रागद्वेष की मुक्ति के विचारों में मग्न हो गई। परिणाम यह आया कि मृगावती के समस्त मलिन कर्म क्षय हो गए। उसका मोहांध दूर हो गया। किसी भी प्राणी के प्रति उसका राग-द्वेष नहीं रहा। उसी समय उसकी आत्मा अनुपम प्रकाश से दीप्त हो उठी। उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

थोड़ी देर बाद वहाँ से एक कृष्ण सर्प निकला। मृगावती तब चराचर विश्व की सकल वस्तुएं पूर्णतया देख सकती थी। उसने उस कालराज को अपनी गुरुणी को ओर आता हुआ देखा अतः धीरे से गुरुणी का हाथ पकड़ कर उसके गंतव्य मार्ग से हटा दिया। जिससे चंदनबाला जग गई। वह उठ बैठी और मृगावती से वैसा करने का कारण पूछा। मृगावती ने सर्प के आने की बात कही किंतु चंदनबाला को वह मिथ्या लगी। काली रात्रि में काले भुजंग का देखा जाना चंदनबाला को जँचा नहीं और उसने फिर से मृगावती को कहा—"जहाँ हाथ का भी देखना संभव नहीं, हे मिथ्याभाषिणि! वहाँ तुम्हारी दृष्टि क्रूर काल को देखने में कैसे समर्थ हुई?" साध्वी मृगावती इसका उत्तर कैसे देती! वह शांत रही। निदान साध्वी चंदनबाला को मृगावती के ज्ञान का पता लग गया और उसने पूर्णज्ञानी की अवहेलना स्वरूप आत्मनिन्दा शुरू कर दी। कुछ ही काल में उसके अशुभ कर्म भी दूर हो गए और उसे अनंत ज्ञान स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवगण ने आकर देव दुंदुभि बजाई और जयजयकार की मधुर ध्वनि सर्वत्र फैल गई।

[पृष्ठ ३० से आगे]

जब लोग इस वर्तमान शिक्षा प्रणाली के जहर के खतरनाक असर को समझ लेंगे तो इसमें तब्दीली होते देर न लगेगी। अपने बच्चों का विकास सब को प्रिय है, मान्य है। कठिनाई केवल यही है कि उनका मन अभी यह मानने को तैयार नहीं हो रहा है कि यह शिक्षा प्रणाली उनके बच्चों को और देर-सबेर में समूचे राष्ट्र को मृत्यु के मुख की ओर तेजी से लिए चली जा रही है। अतः जिनकी आँखें इस खतरे को देख लें उनका कर्तव्य हो जाता है कि वे इसकी तब्दीली के लिए भरसक प्रयत्न करें।

'आप मेरी सारी जिन्दगी को गौर से देखिये; मैं कैसे रहता हूँ, कैसे खाता हूँ, कैसे बैठता हूँ, कैसे बातचीत करता हूँ, और आम तौर पर मेरा बर्ताव कैसा रहता है, सो सब आप पूरी तरह देखिये। इन सब को मिलाकर जो छाप आप पर पड़े, वही मेरा धर्म है'

—महात्मा गांधी

उज्जैन में सर्व धर्म सम्मेलन

—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.

दिनांक २६, २७, २८ नवम्बर को उज्जैन की ऐतिहासिक नगरी में 'अखिल भारतीय सर्व धर्म सम्मेलन' का सफल अधिवेशन हुआ। यह आयोजन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था।

विश्व की प्रगति पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि विज्ञान अपने कार्य को पूरा कर चुका है। इसका यह अर्थ नहीं कि भविष्य में नए अन्वेषण या आविष्कार नहीं होंगे। किन्तु मनुष्य की भौतिक कठिनाइयों को दूर करने में विज्ञान ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। अब उसका उपयोग मनुष्य को कोमल, आलसी अथवा राक्षस बनाने में हो रहा है। इसलिए यदि विज्ञान का विकास कुछ दिनों के लिए रुक जाय तो मानवता को लाभ ही होगा। विज्ञान द्वारा इस विध्वंसक मार्ग को अपनाए जाने का मुख्य कारण धर्म का पिछड़ जाना है। यदि धर्म और विज्ञान एक साथ प्रगति करते रहें तो भूतल को स्वर्ग बना सकते हैं।

ऐसे समय में एक विशाल देश के धर्म गुरुओं का एकत्रित होना और धर्म की समस्याओं के विषय में विचार-विनिमय करना कम महत्त्व की बात नहीं है।

वैज्ञानिक विकास के पहले संसार भौगोलिक, जातीय, साम्प्रदायिक एवं अन्य अन्य कई प्रकार की परिधियों में बँटा हुआ था। भौगोलिक परिधियों का महत्व विज्ञान ने नष्ट कर दिया है। भौगोलिक दृष्टि से आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के अत्यन्त निकट आ गया है। फिर भी मानसिक परिधियाँ विद्यमान हैं। जब तक ये परिधियाँ दूर नहीं होतीं, विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है। इन परिधियों को दूर करने के लिए अपने और पराए के संस्कारों को दूर करने की आवश्यकता है। इन संस्कारों को दूर करके समस्त विश्व के प्रति एकता या समानता की भावना को जागृत करना धर्म का काम है।

उज्जैन भारत की जैन, बौद्ध तथा वैदिक सभी परम्पराओं के लिए महत्व-पूर्ण स्थान है। आर्यरक्षित, वज्रस्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र आदि जैन परम्परा के महान उन्नायकों का संबन्ध उज्जैन के साथ रहा है। अशोक का पौत्र 'सम्प्रति' जो कि जैन था, चिरकाल तक युवराज के रूप में

उज्जैन में रहा है, भगवान महावीर के समय यहां राजा चण्डप्रद्योतन का शासन था। उसका अभयकुमार एवं उदयन के साथ संघर्ष जैन इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं। भारतीय संस्कृति के अमर गायक महाकवि कालिदास का उज्जैन से प्रेम सर्वविदित है। राष्ट्रीयता के अमर संगीत 'मेघदूत' में वे उज्जैन देखने की जोरदार सिफारिश करते हैं। वैदिक परम्परा के लिए उज्जैन अब भी महान तीर्थ है। उज्जैन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 'सर्व धर्म सम्मेलन' के लिए सर्वथा उपयुक्त थी।

अधिवेशन के लिए महाकाल के मैदान में विशाल पण्डाल बनाया गया था। महाकाल विनाश का देवता है। वह संसार का अधिष्ठाता है। उसकी क्रीड़ाभूमि में बिजली की रोशनी से जगमगाता हुआ भव्य पंडाल एक संकेत कर रहा था। कह रहा था—यदि सर्व धर्म इकट्ठे होकर प्रयत्न करें तो महाकाल में भी भव्य निर्माण किया जा सकता है। यदि वे इकट्ठे नहीं होते तो महाकाल का विध्वंसक हाथ सब को अपने आप इकट्ठे कर देगा। अपने आप सम्मिलित होने पर वे अपना अस्तित्व स्थिर रख सकेंगे और महाकाल पर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा महाकाल की चक्की में कोई नहीं बचने पाएगा। उसमें सब धर्म ही नहीं किन्तु धर्म और पाप सभी एक साथ पिस जाएँगे।

प्रत्येक शुभ कार्य में विघ्न आते हैं। सम्मेलन के आयोजन में भी अनेक विघ्न उपस्थित हुए। किन्तु महाकाल के मैदान में भव्य प्रासाद खड़ा करने वाला विघ्नों से नहीं डरता। २६ नवम्बर की दोपहर को सम्मेलन प्रारंभ हुआ और तीन दिन के बाद स्नेहपूर्ण वातावरण, सांस्कृतिक विचार-विनिमय, एवं दृढ़ निश्चय के साथ पूर्ण हुआ। इसमें भाग लेने के लिए दूर दूर के प्रतिनिधि आए हुए थे। सनातन धर्म की ओर से स्वामी शुकदेवानन्द जी, स्वामी अखण्डानन्द जी हरिद्वार, वेदान्त की ओर से स्वामी प्रेमानन्द जी आगरा, वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से श्रीमद् भक्तिविलास तीर्थ महाराज कलकत्ता, बौद्ध धर्म की ओर से भिक्षु टेनजो वेटनवे जापान, आर्यसमाज की ओर से पं० श्री धर्मदेव जी विद्यालंकार हरिद्वार, इस्लाम की ओर से जनाब सुलतान महम्मद स्पीकर भोपाल विधान सभा, सूफियों की ओर से मौलाना सिद्दकी, ईसाई धर्म की ओर से श्री अलेग्जेण्डर भट्ट बम्बई, सिख धर्म की ओर से श्री अमरसिंह जी चाकर अमृतसर तथा जैन धर्म की ओर से मुनि

[शेष पृष्ठ ४० पर]

एस. एस. पंजाब जैन सभा की अपील

—जैनमात्र का कर्तव्य—

एस० एस० जैन सभा पंजाब का जन्म १९११ में गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज की प्रेरणा से हुआ था, कुछ साधुओं के संबन्ध में वे लोकमत (Public opinion) की योजना करना चाहते थे। सभा के एकत्रित होते होते मूल कारण मिट गया तो निमन्त्रण देने वालों ने अपने प्रयास को विफल जाने देने से रोकना और अवसर को प्रयोग में लाना बुद्धिमत्ता समझी। स्व० बाबू परमानन्द वकील कसूर, स्व० रायसाहिब टेकचन्द और उनके विद्यमान अवशिष्ट साथी लाला गन्डामल ने सोचा कि लोकमत तैयार करना ही तो सभा का परम अभिप्राय था। उन्होंने आमन्त्रित सज्जनों के सामने सामाजिक, धार्मिक आदि प्रश्नों के बारे में विचारने और निर्णय करने का प्रोग्राम उपस्थित किया, इस प्रकार इस संस्था और उसके उपयोग की नींव उन महानुभावों ने रखी। प्रत्येक वर्ष वह इस संस्था का संदेश लेकर पंजाब, पेप्सू आदि, जो सभा के कार्यक्षेत्र के थे—के किसी न किसी भाग में जाते रहे।

सभा जब तक उत्साह से कार्य में लगी रही, इसने जैन जनता का बहुत अच्छा पथप्रदर्शन किया। इसके कार्य और कार्यकर्ताओं के चुनाव में कोई साम्प्रदायिक भाव काम नहीं करता रहा। इसने अपने उत्सवों के प्रधानों के चुनाव में श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्रकार के सज्जनों के गुणों और योग्यता का उपयोग किया। अपनी प्रवृत्तियों में सर्व प्रकार के जैनों के अतिरिक्त जैनेतर विद्यार्थियों को भी उन्हीं शर्तों पर अग्रसर दिया। इसी कारण से इसकी संस्था 'श्री अमर जैन होस्टल' पंजाब यूनिवर्सिटी से मान्य थी और यूनिवर्सिटी से उसको ग्रांट भी मिलती थी।

१९२३ में सभा ने प्रस्ताव पास किया था कि कोई जैन यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से शादी कर लेगा तो सभा उसको बुरा नहीं समझेगी। विधवा विवाह की स्वीकृति सभा ने १९२८ में दे दी थी। १९३० में मृतक के संबन्ध में शोक मनाने को चौथे तक सीमित कर दिया था। संबन्धियों (लड़के-लड़की वालों) के परस्पर व्यवहार को सभा ने सरल किया और लेन-देन के भार से पड़े संकोच को दूर किया। परस्पर स्नेह और उदारता, सह-

भोग का रास्ता खोला। ओसवालों में दसे-बीसे के दरमियान भेदभाव के रिवाज को दूर किया। रिश्ता-नाता सरल किया। नाच और आतिशबाजी बन्द की और बड़ी-बड़ी बरातों को ६० रेलवे टिकट तक सीमित किया। दहेज की सीमा ५००) तक बाँध दी। चार गोत्र की वर्जना को शादी विवाह के लिए हटाया क्योंकि विवाहादि रिश्ते संबन्ध की सीमा अति संकीर्ण होती जाती थी, मंगनी आदि के लिए केवल पत्र व्यवहार की प्रथा पर्याप्त नियत की, संबन्धियों के मेल मिलाप पर, विशेषतः प्रथम बार के मिलाप पर, जो भारी खर्च और लेन-देन का रिवाज था, उसको रोका। दर्शनार्थ या उत्सव पर आए हुए रिश्तेदारों को भेंट देने-दिलाने से मना किया। मिठाई बांटने और दूध-मलाई की पेचीदगियों को बिल्कुल सरल और कम खर्चीली बनाया, बरातों के ठहरने-ठहराने के काल को भी सीमित किया। समय पाकर सभा के यह सब प्रयास सफलता पाकर समाज के हित का कारण बने।

सभा ने अपने उत्साह पूर्ण जीवन काल में जैन विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता छात्रवृत्ति आदि देकर की। इस समय भी ऐसे अनेक सज्जन विद्यमान हैं जिन्हें इस प्रकार की हितकर सहायता से बड़ा लाभ पहुँचा हुआ है, गो सब ने इस क्रम के जारी रखने में उचित दृष्टि जाहिर नहीं की है और सभा की सहायता को लौटा कर वृत्ति फण्ड को जीवित रखने का कारण नहीं बने हैं। उस समय की आवश्यकताओं के अनुसार सभा इस यत्न में भी सफल हुई कि लाहौर सेन्ट्रल ट्रेनिंग कालेज में (तब यही इस प्रकार की संस्था थी) B. T. में एक, S. A. V. और J. A. V. में दो दो जैन विद्यार्थी इसकी सिफारिश पर प्रतिवर्ष लिये जा सकें। जब वर्तमान आचार्यश्री और डा० बुलनर जो उन दिनों Oriental College के प्रिन्सिपल और यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार थे, १९१६ में दोनों का मिलना हुआ तो पंजाब जैन सभा के प्रयास से M. A. संस्कृत में जैन दर्शन (Jain Philosophy) का alternative paper नियत हो गया। जैन अभ्यासियों के हितार्थ १९१६ में लाहौर में श्री अमर जैन होस्टल का जन्म हुआ। १९२० में कुछ सज्जनों की आर्थिक सहायता और प्रभाव से इसका अपना भवन बनना शुरू हो गया। इस भवन की आधार-शिला पंजाब यूनिवर्सिटी के Vice Chancellor ने रखी। इसी होस्टल का ५,३८,००० रुपये का क्लेम (claim) Rehabilitation विभाग से इन्हीं दिनों मंजूर हुआ है।

सभा ने अपने उस जीवन काल में साधु समाज से संबन्धित कई प्रश्नों में भी सम्मति देने से संकोच नहीं किया। स्व० आचार्य श्री सोहनलाल जी का

सहयोग सभा को सदैव प्राप्त रहा। जब सभा ने उनका ध्यान दीक्षादि महोत्सवों के असीम खर्च और अपव्यय की ओर आकर्षित किया तो उन्होंने संमति प्रगट की, जीवन पर्यन्त वे इसको कार्यान्वित करते रहे। सभा के विचारों को आचार्यश्री आदर से देखते रहे और आवश्यकता के समय उनसे सलाह परामर्श भी लेते रहे।

जब समस्या उपस्थित हुई तो १९४१ में सभा ने पूर्व परम्परा के अनुसार समाज के विशेष हित के लिए और दोष को दूर हटाने के लिए साधुवर्ग के प्रश्न में हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं किया। सभा के आन्दोलन करने पर कई साधुओं के संबन्ध में साधु-श्रावक-संयुक्त जाँच कमेटी बनी। जैन इतिहास में सम्भवत: यह प्रथम सफल प्रयास था।

बँटवारे के बाद पंजाब की राजधानी चण्डीगढ़ बनी है। एक विशाल सुन्दर नगर बसाया जा रहा है। स्वभावत: राजकाज के सर्व विभागों का केन्द्र वही होगा। यूनिवर्सिटी भी वहीं होगी। हाईकोर्ट भी वहीं होगा। इस प्रकार राजकीय और सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन वहां केन्द्रित हो जाएगा। अनेक प्रकार की शिक्षा के संबन्ध में अनेक प्रकार के कालेज आदि का विकास सरकार वहीं करेगी। इसलिए विद्यार्थियों को वहां जाने और रहने की विशेष जरूरत होगी। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि पंजाबवासियों का संबन्ध और वास्ता चण्डीगढ़, उसके कार्यालयों, न्यायालयों और शिक्षालयों से अवश्य होगा।

इसलिए पंजाब की राजधानी चण्डीगढ़ में जैनों की ओर से वहां के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में पर्याप्त भाग लेने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वहां पर जैन विद्यार्थियों के लिए उनकी विशेष जरूरतों के अनुसार सुविधाओं से परिपूर्ण होस्टल बनाया जाए। जहां कम से कम १०० विद्यार्थी रह सकें। वहां पर जैनाभ्यास के लिए लायब्रेरी और रीडिंग रूम भी हो। व्याख्यान हाल भी हो। उपाश्रय (स्थानक) भी हो जिससे साधु-साध्वी अपने भ्रमण में वहां भी उपदेशामृत का प्रसार कर सकें। समय आने पर स्कूल, कालेज आदि संस्थाएँ भी हों। और इन सब के लिए जमीन अभी से ले लेनी चाहिए।

हर्ष की बात है कि पंजाब सभा ने वह जमीन ले ली है। जमीन उस खंड में है जहां विद्या संबन्धी उस नगर की प्रवृत्तियां होंगी। प्राय:२४००० वर्ग गज जमीन सभा को सस्ते दामों पर मिली है। सभा को २४,०००) रुपये इसकी कीमत के चुकाने हैं। पहली किश्त के ६,०००) रुपये दिये जा चुके

हैं। दूसरे ६,०००) रुपये इस वर्ष अर्थात् १९५५ में चुकाने हैं। नहीं तो पहला ६,०००) भी नष्ट हो जाएगा और जमीन भी चली जाएगी। यदि यह हुआ तो पंजाब-पेप्सू भर के श्वे० स्था० जैनों के लिए यह बड़े अपमान की बात होगी।

पंजाब सभा ने सोचा था और सभी नगर-कस्बों में जहां स्वधर्मी भाई बसते हैं सूचना भी भेजी थी कि यदि प्रत्येक स्थान से १००) रुपये वार्षिक तीन वर्ष तक मिलते रहें तो ६०००) रुपये की तीन किश्तें प्रतिवर्ष चुकाने में कठिनाई न होगी। पंजाब व पेप्सू में ६० से अधिक नगर-कस्बे ऐसे हैं जो स्वधर्मी भाइयों के अच्छी संख्या वाले क्षेत्र हैं। हर एक नगर व कस्बे में, स्थानीय कामों और जिम्मेवारियों को निभाने के लिए आवश्यकतानुसार सैकड़ों-हजारों रुपये जगह जगह के स्वधर्मी भाई खर्च करने के लिए जमा करते हैं। उसमें से यदि प्रत्येक स्थान से १००) भी आ जाए तो समस्या और चिन्ता का समाधान हो जाएगा। यदि कोई स्थान १००) से अधिक भेज दें तो पंजाब सभा की कठिनाई और भी सरलता से हल हो जाएगी।

अतः 'श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति' पंजाब सभा की इस अपील का जोरदार शब्दों में अनुमोदन करती है। स्थानीय जरूरतों के अतिरिक्त यदि हम केन्द्रीय जरूरतों को—जो समाज और संप्रदाय का मान बढ़ाने वाली हैं, अपने दिल व दिमाग में स्थान न देंगे तो हमारा भविष्य संदिग्ध हो जाएगा। इसको उज्ज्वल बनाना हमारे हाथों में है। हम बना भी सकते हैं। हम एक बार फिर अपील करते हैं कि इस सह-उद्योग को सफल बनाइए और पंजाब सभा को उचित सहायता देकर अपनी समस्या का समाधान कीजिए। याद रहे कि जमीन की प्राप्ति पर यदि हमने उचित ध्यान न दिया तो जैसा कि पंजाब सभा ने कहा है, हमारी क्लेम की ५,३८,०००) की रकम भी व्यर्थ चली जाएगी।

निवेदक—

श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की मैनेजिंग कमेटी की आज्ञानुसार—

त्रिभुवननाथ — प्रधान

हरजसराय जैन — मंत्री

विद्याश्रम समाचार

बधाई

श्री मोहनलाल मेहता श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस के सबसे अधिक पुराने और विद्यानिष्ठ विद्यार्थी रहे हैं। ९-१० वर्ष से बनारस में लगातार विद्याभ्यास में संलग्न हैं। आपने जैन शास्त्राचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ ही दर्शन और मनोविज्ञान में दो एम० ए० भी किए हैं। हर्ष की बात है कि इसी १८ दिसम्बर को बनारस यूनिवर्सिटी के वार्षिक कन्वोकेशन के अवसर पर आपको पी-एच० डी० की डिग्री भी मिल गई है। मेहता जी ने जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त जैसे महत्व के विषय पर दो साल तक अनुसन्धान करके 'कर्म सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या' नाम का महानिबन्ध उपस्थित किया था। इसी के उपलक्ष में आपको डाक्टरेट की डिग्री मिली है। जैन समाज के लिए यह हर्ष और गौरव की बात है। इस अवसर पर हम मेहता जी का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। विद्याश्रम की ओर से यह महानिबन्ध प्रेस में छपने के लिए जा रहा है।

मेरा कलकत्ते का दौरा

मेरे परम स्नेही खरतर गच्छीय लखनऊ की गद्दी के श्रीपूज्य श्री जिन-विजयसेन सूरि जी और सुहृद्वर्य श्री रामपाल जी महाराज अबकी जबसे कलकत्ता में चातुर्मास के लिए पधारे थे, तभी से कलकत्ता पहुँचने के लिए पत्र पर पत्र आ रहे थे। इधर से मेरे परम मित्र पूज्य श्री मंगलऋषि जी लुधियाना से दिल्ली होकर अपनी मोटरकार से बनारस पहुँच गए, उन्हें भी उक्त श्रीपूज्य जी आदि के कारण कलकत्ते का आकर्षण था। साथ ही पूर्व देश के जैन तीर्थों की यात्रा का शुभावसर।

हम लोग २२ नवम्बर को प्रातः बनारस से मोटरकार से रवाना होकर शाम को सम्मेत शिखर जी (पारसनाथ हिल) की तलहटी मधुवन पहुँचे। अगले दिन सुबह ही पहाड़ पर यात्रा के लिए गए। शाम को ४ बजे के लगभग लौटे थे। इन दिनों यहां हजारों की संख्या में यात्रियों की चहल-पहल थी। दो तो स्पेशलें ही थीं। जैनागमों में सम्मेत शिखर का नाम बार-बार पढ़ा-सुना था। देखने का यह पहला ही अवसर था। इसलिए कुछ विशेष आकर्षण भी रहा। पर्वत को साक्षात् देखकर पर्वत की स्थिति और जैनसमाज के सम्बन्ध में जो विचार आए हैं, उन्हें फिर कभी लिखने का प्रयत्न करूँगा।

ता० २४ नवम्बर को प्रातः ७ बजे मधुवन से रवाना होकर हम लोग शाम को कलकत्ता पहुँचे। बनारस से कलकत्ता सड़क के रास्ते सवा चार सौ मील के लगभग है। मोटरकार से जाने का यह पहला अवसर था। जिससे रास्ते में बिहार और बंगाल के अच्छे दृश्य देखने को मिले। इस यात्रा की मधुर स्मृतियाँ चिरकाल तक हृदय पर अंकित रहेंगी। कलकत्ता में विद्याश्रम के सदस्य और श्रमण के नए ग्राहक बनाने में श्रीपूज्य श्री जिनविजय-सेन सूरि जी और सुहृद्वर्य श्री रामपाल जी महाराज ने बड़े उत्साह से लोगों को प्रेरणा दी। पोलोक स्ट्रीट के विशाल स्थानक में विराजमान श्रमण संघीय मुनि श्री प्रतापमल जी और मुनि श्री हीरालालजी महाराज आदि संतों ने भी काफी प्रेरणा दी। कलकत्ता के इस दौरे में श्रमण का अच्छा प्रचार हुआ। ४०–५० सदस्य व ग्राहक बने। ७००) रु० के लगभग वसूली हुई। कलकत्ता में श्रीपूज्य श्री जिनविजय सेन सूरि जी तथा पंजाब के बाबू श्री अमृतलाल जी बी० ए०, एल० एल० बी० आदि जिन जिन महानुभावों ने बड़े उत्साह से सदस्य एवं ग्राहक बनाने में हर तरह से सहयोग दिया है, तदर्थ सबका हार्दिक धन्यवाद है।

—कृष्णचन्द्राचार्य

[पृष्ठ ३४ से आगे]

श्री सुशीलकुमार जी, पं० सुमेरचन्द जी दिवाकर सिवनी, तथा डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री प्राध्यापक देहली विश्व विद्यालय ने भाग लिया।

सभी ने अपने अपने धर्म का रूप बताते हुए विश्व शान्ति के प्रति संदेश दिया। सभी व्याख्यानों को सुन कर तटस्थ व्यक्ति कह सकता था कि सभी धर्म एक लक्ष पर पहुंचने के विविध मार्ग है और वे अपने अपने वैशिष्टच को सुरक्षित रखते हुए भी एक ही ध्येय में संलग्न हैं।

तीसरे दिन एक प्रस्ताव रखा गया और निश्चय किया गया कि सम्मेलन को स्थाई रूप दे दिया जाए। उसके लिए संविधान बनाने तथा रूपरेखा तैयार करने का कार्य ९ व्यक्तियों की एक उपसमिति को सौंपा गया है। डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री प्राध्यापक देहली विश्व विद्यालय उसके संयोजक बनाये गए। अन्त में पूर्ण उत्साह के साथ सम्मेलन की कार्यवाही पूर्ण हुई।

दूसरे दिन दोपहर को महिला सम्मेलन हुआ। धर्म संस्था का मुख्य आधार महिला समाज है। इस दृष्टि से महिला सम्मेलन का आयोजन भी प्रासंगिक एवं महत्व पूर्ण था। यदि धर्म सम्मेलन में भी कुछ महिलाएँ आगे आकर बोलतीं तो उसे बहुत बल प्राप्त होता। —शेष अगले अंक में

हमारा पंजाब का दौरा—

गत २७ नवम्बर को समिति के प्रधान ला० त्रिभुवननाथ जी, ला० मोतीलाल जी, ला० शोरीलाल जी और मैं जालंधर गए थे। फिर ता० १२ दिसम्बर को हमारा पंजाब का दौरा शुरू हुआ। मैं और ला० त्रिभुवननाथ जी चार बजे शाम को होशियारपुर पहुँचे। यहाँ के मुखिया ला० बंसीलाल जी और प्रधान ला० सूर्यकुमार जी बाहर गए हुए थे। इनकी अनुपस्थिति में ला० त्रिलोकचन्द और ला० चुनीलाल दोनों मन्त्रियों ने हमारे काम में बड़ी सहायता की और मितिदान की उगाही कराई। इसी दिन शाम को हम लुधियाना पहुँचे। हमारे सहयोगी कार्यकर्ता श्री रत्नचन्द्र जी एम० ए० को साथ लेकर प्रधान ला० पन्नाशाह जी, मन्त्री ला० बलवन्तराय और ला० सोहनलाल जी आदि से मिले। लुधियाना में जैन समाज के कई काम चल रहे हैं। यहाँ सुप्रसिद्ध लड़कियों का हाई स्कूल है, जिसमें १८०० लड़कियाँ पढ़ती हैं। ला० नौहरियामल जी ने अपने बाग में लड़कों के स्कूल के लिए ज़मीन दी है। जिसमें स्कूल के भवन बनाने के लिए स्थानीय जैनसंघ प्रयत्नशील है। स्थानक के व्याख्यान हाल को बड़ा बनाने के लिए योजना है। इन सब बातों के लिए समाज में बड़ा उत्साह है। जब हमारी सहायता का प्रश्न आया तो लोग कुछ सकुचाने लगे। वे समझते थे कि स्थानीय सामाजिक जिम्मेवारियां ही बहुत हैं। फिर भी हमारी सहायता उत्साह से की गई। अगले दिन ता० १५-१२-५५ को प्रातः ६ बजे की बस से ८। बजे हम दोनों रोपड़ पहुँचे। पंजाब में आजकल कड़ाके की ठंड पड़ रही है। थर्मामीटर ३६ से नीचे उतर जाता है। ऐसी हालत में कभी कभी हजामत और स्नान भी नहीं हो पाता। ला० मेहरचन्द जी, मन्त्री ला० मंगतराम जी, प्रधान ला० जवाहरलाल जी की मदद से हमें दो मितिदान मिले। और श्रमण के १३ ग्राहक बने। शाम को हम अम्बाला पहुंचे। ता० १५ को मन्त्री श्री विद्याप्रकाश जी बी० ए०, एल० एल० बी०, प्रमुख ला० अमरनाथ जी, उत्साही ला० चिरंजीलाल जी और साढौरा निवासी ला० खरायती राम जी की सहायता से हमने मितिदानों की वसूली की। डा० राजकुमार जैन की चाय स्वीकार कर चुके थे, अतः दिन भर ठहरना पड़ा। शाम को ६ बजे पटियाला पहुँचे। कई कारणों से पटियाला में उगाही नहीं हो सकी। पटियाला में लड़कियों का अच्छा स्कूल है, जो निरन्तर प्रगति कर रहा है। पटियाला से चौधरी प्यारेलाल जी के साथ हम लोग नाभा पहुँचे। यहाँ पर स्थविर मुनि श्रीरामस्वरूप

जी महाराज २१ वर्षों से विराजमान हैं। आपके नाम पर नाभा में लड़कों का स्कूल है। मुनि श्री धर्मवीर जी के व्याख्यान के बाद मैंने भी समिति की प्रवृत्तियों का संक्षेप में परिचय दिया। जैन स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री देवराज जी ने हमारी बातें सुनकर सन्तोष व प्रसन्नता प्रकट की। यहाँ के भाइयों ने सहायता के लिए हमें बाद में सूचना देने का आश्वासन दिया। नाभा से रवाना होकर दिन के ढाई बजे के करीब हम मालेरकोटला पहुंचे। यहाँ पर व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलाल जी महाराज संगरूर का चातुर्मास पूरा करके धुरी होकर पहुँचे थे। दोपहर बाद का समय रविवार होने से महाराज श्री के पास ही बीता। और भी प्रमुख व बुजुर्ग भाई मौजूद थे। रात को यहाँ के प्रसिद्ध जैन कन्या हाई स्कूल के संबन्ध में वार्तालाप चलता रहा। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन बन्धुओं की ओर से लड़कों का हाईस्कूल और श्री आत्मानन्द जैन कालेज हैं।

ता० १९ की प्रात मुनिः श्री मदनलाल जी महाराज के सारगर्भित व्याख्यान के बाद मैंने जैन साहित्य के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। ला० अतरचन्द जी, ला० अमरचन्द जी और देवीदयाल जी की सहायता से मितिदान की उगाही की और दोपहर को हम लोग लुधियाना की ओर रवाना हुए। यहाँ तक का कार्यक्रम पूरा करके और शेष प्रोग्राम जनवरी के लिए सोचकर लुधियाना स्टेशन पर से मैं और ला० त्रिभुवननाथ जी अलग हो गए। वे अपने घर कपूरथला वापिस चले गए और मैं कार्यवश दिल्ली पहुँचा। इस दौरे में ३८) रु० खर्च आए जो कि साथियों ने समिति के जिम्मे न डालकर पहले की तरह अपनी ओर से ही खच किये।

जहाँ तक हमारे साधु समाज का संबन्ध है, एकाध अपवाद या अवसर को छोड़कर हमें सदैव सहायता व एवं सहानुभूति ही मिली है। हमारा हर तरह से उत्साह बढ़ा है। फिर भी हमारा नम्र निवेदन है कि समिति की प्रवृत्तियों का महत्व ठीक रूप से समझने-समझाने की आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि सभी साधु और आर्यिकाएँ जी बनारस में चल रही समिति को प्रवृत्तियों से सुपरिचित रहें तथा समय समय पर इनकी सहायता और प्रोत्साहन के लिए जैन समाज को प्रेरणा देते रहें। हमारा अगला कार्यक्रम टांडा, मुकेरियाँ, बलाचौर, बरनाला और फरीदकोट की ओर का होगा।

—हरजसराय जैन

मन्त्री, श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस—५



श्रमण

वर्ष ७ | सम्पादक | अंक ४

पं. कृष्णचन्द्राचार्य
महेन्द्र राजा एम.ए.

र्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

'श्रमण' के विषय में

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. 'श्रमण' में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।
८. सामयिक लेख आदि प्रत्येक मास की १५ ता० तक मिलने पर ही समय पर प्रकाशित हो सकेंगे। अन्य पत्रों में प्रकाशित या प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ 'श्रमण' के लिए न भेजें।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ फरवरी १९५६ अंक ४

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङ्मय का स्वाध्याय—

—१—

चइऊण देवलोगाओ
उववन्नो माणुसम्मि लोगम्मि।
उवसन्त-मोहणिज्जो
सरई पोराणियं जाइं॥

—१—

देवलोक से मनुज-लोक में
आकर जनमे नमि नृपवर के।
मोह-शान्ति से जाति-स्मृति से
स्मृति पर आए जन्म पूर्व के॥

—२—

जाइं सरित्तु भयवं
सयं-संबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे
अभिणिक्खमई नमी राया॥

—२—

पूर्व जन्म की स्मृति से नमि नृप
आत्म-बोध का जीवन पाकर।
सुत को देकर राज्य गए वन
पालन करने धर्म अनुत्तर॥

—३—

से देवलोग-सरिसे
अंतेउर-वर-गओ वरे भोए।
भुंजित्तु नमी राया
बुद्धो भोगे परिच्चयई॥

—३—

अंतःपुर गत दिव्य श्रेष्ठतर
भोग भोग कर बोध प्राप्त कर।
नमि नामक नृप उन भोगों को
त्याग रहे हैं त्यागी बनकर॥

—४—

मिहिलं स-पुर-जणवयं
बल-मोरोहं च परियणं सव्वं।
चिच्चा अभिनिक्खंतो
एगंत-महिट्ठिओ भयवं॥

—४—

पुर जनपद युत मिथिला नगरी
रानी सेना आदिक परिजन।
तज करके एकान्त स्थान में
चले गए वे ऋषि बन भगवन॥

—५—

कोलाहलग-भूयं
आसी मिहिलाए पव्वयंतम्मि ।
तइया रायरिसिम्मि
नमिम्मि अभिणिक्खमंतम्मि ।।

—६—

अब्भुट्ठियं रायरिसिं
पवज्जा-ठाण-मुत्तमं ।
सक्को माहण-रूवेण
इमं वयण-मब्बवी ।।

—७—

किण्णु-भो ! अज्ज मिहिलाए
कोलाहलग-संकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा
पासाएसु गिहेसु य ।।

—८—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी ।।

—९—

मिहिलाए चेइए वच्छे
सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त-पुप्फ-फलोवेए
बहूणं बहुगुणे सया ।।

—१०—

वाएण हीरमाणम्मि
चेइयम्मि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता
एए कंदंति भो खगा ।।

[उत्तरा., अध्य. ९, गा. १—१०]

—५—

मुनि व्रत लेकर नमि नामक नृप
चले गए जब सब कुछ तजकर।
कोलाहल प्रारंभ हुआ है
तब ही से मिथिला के अंदर ॥

—६—

उत्तम-संयम-स्थान-समधिगत
नमि-नृपवर को ब्राह्मण बन कर।
प्रथम स्वर्ग के स्वामी सुरपति
आ यों बोले वचन मनोहर ॥

—७—

प्रासादों में और गृहों में
मिथिला के सब ओर भयंकर।
कोलाहल से पूरित इतने
शब्द सुनाई देते क्योंकर ? ॥

—८—

सुन करके इस इन्द्र-प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु-वचन मनोहर ॥

—९—

शीतल छाया-संयुत सुन्दर
पत्र पुष्प-फल-शोभित सुखकर।
बहुजन प्रियकर एक वृक्ष है
मिथिला-वन में अधिक महत्तर ॥

—१०—

प्रबल पवन से इसी वृक्ष के
गिरने पर ये बनकर दुःखित।
आश्रयहीन सभी खग पीड़ित
बने हुए हैं अति आक्रंदित ॥

—क्रमशः

अनु० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

जैन इतिहास की एक झलक

—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बौद्ध दर्शन के अध्यापक श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के हाल में ही प्रकाशित ग्रंथ 'जैन-दर्शन' का एक अंश—

कर्मभूमि का प्रारंभ

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस कल्पकाल में पहले भोगभूमि थी। यहाँ के निवासी अपनी जीवन यात्रा कल्प-वृक्षों से चलाते थे। उनके खाने-पीने, पहरने-ओढ़ने, भूषण, मकान, सजावट, प्रकाश और आनन्द विलास की सब आवश्यकताएँ इन वृक्षों से ही पूर्ण हो जाती थीं। इस समय न शिक्षा थी न दीक्षा। सब अपने प्राकृत भोग में ही मग्न थे। जन संख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और दोनों ही जीवन सहचर बनकर साथ रहते थे और मरते भी साथ ही थे। जब धीरे-धीरे यह भोगभूमि की व्यवस्था क्षीण हुई, जन संख्या बढ़ी और कल्पवृक्षों की शक्ति प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकी तब कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भोगभूमि में सन्तान-युगल के उत्पन्न होते ही माँ-बाप मर जाते थे अतः कुटुम्ब रचना और समाज रचना का प्रश्न ही नहीं था। प्रत्येक युगल स्वाभाविक क्रम से बढ़ता था और स्वाभाविक रीति से ही भोग भोग कर अपनी जीवन-लीला प्रकृति की गोद में ही संवृत कर देता था। किन्तु जब संतान अपने जीवन काल में ही उत्पन्न होने लगी और उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा आदि की समस्याएँ सामने आईं तब वस्तुतः भोगजीवन से कर्मजीवन प्रारम्भ हुआ। इसी समय क्रमशः चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते हैं। वे उन्हें भोजन बनाना, खेती करना, जंगली पशुओं से अपनी संतान की रक्षा करना, उनका सवारी आदि में उपयोग करना, चन्द्र-सूर्य आदि से निर्भय रहना तथा समाज रचना के मूलभूत अनुशासन के नियम आदि सभी कुछ सिखाते हैं। वे ही कुल के लिए उपयोगी मकान बनाना, गाँव बसाना आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते हैं; इसीलिए उन्हें कुलकर या मनु कहते हैं। अन्तिम कुलकर श्री नाभिराय ने जन्म के समय बच्चों की नाभि का नाल काटना सिखाया था इसीलिए इनका नाम नाभिराय पड़ा था। इनकी युगल सहचरी का नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव

इनके ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। वस्तुतः कर्मभूमि का प्रारम्भ इनके समय से होता है। गाँव नगर आदि इन्हीं के काल में बसे थे। इन्हीं ने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षराभ्यास के लिए लिपि बनाई थी जो ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी लिपि का विकसित रूप वर्तमान नागरी लिपि है। भरत इन्हीं के पुत्र थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। भरत बड़े ज्ञानी और विवेकी थे। ये राज-काज करते हुए भी सम्यग्दृष्टि थे, इसीलिए ये 'विदेह भरत' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये प्रथम षट् खण्डाधिपति चक्रवर्ती थे। ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में समाज-व्यवस्था की स्थिरता के लिए प्रजा का कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में विभाजन कर त्रिवर्ण की स्थापना की। जो व्यक्ति रक्षा करने में कटिबद्ध वीर प्रकृति के थे उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषि प्रधान वृत्ति वालों को वैश्य और शिल्प तथा नृत्य आदि कलाओं से आजीविका चलाने वालों को शूद्र वर्ग में स्थान दिया। ऋषभदेव के मुनि हो जाने के बाद भरत चक्रवर्ती ने इन्हीं तीन वर्णों में से व्रत और चरित्र धारण करने वाले सुशील व्यक्तियों का ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसका आधार केवल व्रत-संस्कार था। अर्थात् जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतों से सुसंस्कृत थे वे ब्राह्मण वर्ण में परिगणित किए गए। इस तरह गुण और कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हुई।

ऋषभदेव ही प्रमुख रूप से कर्मभूमि व्यवस्था के अग्र सूत्रधार थे; अतः इन्हें आदि ब्रह्मा या आदिनाथ कहते हैं। प्रजा की रक्षा और व्यवस्था में तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेब ने अपने राज्यकाल में जिस प्रकार व्यवहारार्थ राज्य-व्यवस्था और समाज रचना का प्रवर्तन किया उसी तरह तीर्थकाल में व्यक्ति की शुद्धि और समाज में शान्ति स्थापन के लिए 'धर्मतीर्थ' का भी प्रवर्तन किया। अहिंसा को धर्म की मूल धुरा मानकर इसी अहिंसा का समाज रचना के लिए आधार बनाने के हेतु से सत्य, अचौर्य और परिग्रह आदि के रूप में अवतार किया। साधना काल में इनने राज्य का परित्याग कर बाहर भीतर की सभी गाँठें खोल परम निर्ग्रन्थ मार्ग का अवलम्बन कर आत्मसाधना की और क्रमशः कैवल्य प्राप्त किया। यही धर्मतीर्थ के आदि प्रवर्तक थे।

इनकी ऐतिहासिकता को सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी और

सर राधाकृष्णन् आदि स्वीकार करते हैं। भागवत (५।२-६) में जो रिषभ देव का वर्णन मिलता है वह जैन परम्परा के वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भागवत में जैन धर्म के संस्थापक के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख होना और आठवें अवतार के रूप में उनका स्वीकार किया जाना इस बात का साक्षी है कि ऋषभ के जैनधर्म के संस्थापक होने की अनुश्रुति निर्मूल नहीं है।

भगवान् ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए हैं और इन सब तीर्थंकरों ने अपने-अपने युग में अहिंसा आदि सत्य का उद्घाटन किया है।

तीर्थंकर नेमिनाथ

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ नारायण (वासुदेव) कृष्ण के चचेरे भाई थे। इनका जन्म स्थान द्वारिका था और पिता थे महाराज समुद्रविजय। जब इनके विवाह का जुलूस नगर में घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी भावी संगिनी राजुल की सुख सुषमा के स्वप्न में झूमते हुए दूल्हा बनकर रथ में सवार थे उसी समय बारात में आए हुए मांसाहारी राजाओं के स्वागतार्थ इकट्ठे किए गए विविध पशुओं की भयंकर चीत्कार कानों में पड़ी। इस एक चीत्कार ने नेमिनाथ के हृदय में अहिंसा का सोता फोड़ दिया और उस दयामूर्ति ने उसी समय रथ से उतर कर उन पशुओं के बन्धन अपने हाथों खोले। विवाह की वेषभूषा और विलास के स्वप्नों को असार समझ भोग से योग की ओर अपने चित्त को मोड़ दिया और बाहर भीतर की समस्त गाँठों को खोल ग्रन्थिभेद कर परम निर्ग्रन्थ हो साधना में लीन हुए। इन्हीं का अरिष्टनेमि के रूप में उल्लेख यजुर्वेद में भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ इसी बनारस में उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलूपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवी के नयनों के तारे थे। जब ये आठ वर्ष के थे तब एक दिन अपने संगी-साथियों के साथ गंगा के किनारे घूमने जा रहे थे। गंगा तट पर कमठ नाम का तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्व ने एक जलते हुए लक्कड़ से अधजले नाग-नागिन को बाहर निकालकर प्रतिबोध दिया और उन मृत प्राय नाग युगल पर अपनी ममता उँडेल दी। वे नाग युगल धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्व का चित्त

इस प्रकार के बालतप तथा जगत की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियों से विरक्त हो उठा, अतः इस युवा कुमार ने शादी-विवाह के बन्धन में न बँधकर जगत के कल्याण के लिए योग साधना का मार्ग ग्रहण किया। पाली पिटकों में बुद्ध का जो प्राक्जीवन मिलता है और छह वर्ष तक बुद्ध ने जो कृच्छ्र साधनाएँ की थीं, उससे निश्चित होता है कि उस काल में बुद्ध पार्श्वनाथ की परंपरा के तपयोग में दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम संवर का उल्लेख बार-बार आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ थे, यह श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के उल्लेखों से भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रह में शामिल थी और उसका परित्याग अपरिग्रह में आ जाता था। इनने भी अहिंसा आदि मूल तत्त्वों का ही उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे भगवान महावीर। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डग्राम में हुआ था। वैशाली के पश्चिम में गण्डकी नदी है। इसके पश्चिम तट पर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखा ग्राम थे। भगवान् महावीर का जन्म स्थान वैशाली माना जाता है, क्योंकि कुण्ड-ग्राम वैशाली का ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रिय ज्ञातृ क्षत्रिय थे और ये उस प्रदेश के राजा थे। रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्री में कुमार वर्धमान का जन्म हुआ। इनने अपने बाल्यकाल में संजय विजय (संभवतः संजय वेलट्ठिपुत्त) के तत्त्व विषयक संशय का समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हें सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समय की विषम परिस्थिति ने इनके चित्त को स्वार्थ से जन-कल्याण की ओर फेरा। उस समय की राजनीति का आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग स्वार्थियों ने धर्म की आड़ में धर्म ग्रंथों के हवाले दे देकर अपने वर्ग के संरक्षण की चक्की में बहुसंख्यक प्रजा को पीस डाला था। ईश्वर के नाम पर अभिजात वर्ग विशेष प्रभुसत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्म-जात उच्चत्व का अभिमान स्ववर्ग के संरक्षण तक ही नहीं फैला था, किन्तु शूद्र आदि वर्णों के मानवोचित अधिकारों का अपहरण कर चुका था। और यह सब हो रहा था धर्म के नाम पर। स्वर्ग लाभ के लिए अजमेध से लेकर नरमेध

तक धर्मवेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणिमात्र के सुख-शान्ति और उद्धार के लिए था, वही हिंसा, विषमता, प्रताड़न और निर्दलन का अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्धमान का मानस इस हिंसा और विषमता से होने वाली मानवता के उत्पीड़न से दिनरात बेचैन रहता था। वे व्यक्ति की निराकुलता और समाज शान्ति का सरल मार्ग ढूँढना चाहते थे और चाहते थे मनुष्य मात्र की समभूमि का निर्माण करना। सर्वोदय की इस प्रेरणा ने उन्हें ३० वर्ष की भरी जवानी में राजपाट को छोड़ कर योग साधन की ओर प्रवृत्त किया। जिस परिग्रह के अर्जन, रक्षण, संग्रह और भोग के लिए वर्गस्वार्थियों ने धर्म को राजनीति में दाखिल किया था उस परिग्रह की बाहर-भीतर की दोनों गाँठे खोलकर वे परम निर्ग्रन्थ हो अपनी मौन साधना में लीन हो गए। १२ वर्ष तक कठोर साधना करने के बाद ४२ वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीतराग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होंने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन कर ७२ वर्ष की अवस्था में पावा नगरी से निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकालाबाधित

निर्ग्रन्थ नाथपुत्त भगवान् महावीर को कुल परंपरा से यद्यपि पार्श्वनाथ के तत्त्व ज्ञान की धारा प्राप्त थी, पर ये उस तत्त्वज्ञान के मात्र प्रचारक नहीं थे, किन्तु अपने जीवन में अहिंसा की पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्ग के निर्माता थे। मैं पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमि में आद्य तीर्थंकर ऋषभ देव के बाद तेईस तीर्थंकर और हुए। ये सभी वीतरागी और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसा की परम ज्योति से मानवता के विकास का मार्ग आलोकित किया था। व्यक्ति की निराकुलता और समाज में शान्ति स्थापन करने के लिए जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता है, उसको ये तीर्थंकर युग-रूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और एक होता है।[1] उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियों से परे सदा एकरस होती है। देश और काल उसकी व्याख्याओं में यानी उसके शरीर में भेद अवश्य लाते हैं, पर उसकी मूल धारा सदा एकरस-वाहिनी होती है। इसीलिए जगत् में असंख्य श्रमण सन्तों ने व्यक्ति की मुक्ति और जगत् की शान्ति के लिए एक ही प्रकार के सत्य का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक मूल सत्य है 'अहिंसा'।

---

[1] "जे य अतीता पडुप्पन्ना अनागता य भगवंतो अरिहंता ते सव्वे एयमेव धम्मं"—आचारांग सूत्र।

जैन धर्म और दर्शन के मूल मुद्दे

इसी अहिंसा की दिव्य ज्योति विचार के क्षेत्र में अनेकान्त के रूप में प्रकट होती है तो वचन व्यवहार के क्षेत्र में स्याद्वाद के रूप में जगमगाती है और समाज-शान्ति के लिए अपरिग्रह के रूप में स्थिर आधार बनती है, यानी आचार में हिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ हैं जिन पर जैनधर्म का सर्वोदयी भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। युग-युग में तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूप को स्थिर किया है।

भगवान महावीर ने धर्म के क्षेत्र में मानव मात्र को समान अधिकार दिए थे। जाति, कुल, शरीर आकार के बंधन धर्माधिकार में बाधक नहीं थे। धर्म आत्मा के सद्गुणों के विकास का नाम है। सद्गुणों के विकास अर्थात् सदाचरण धारण करने में किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं हो सकता। राजनीति व्यवहार के लिए कैसी भी चले, किन्तु धर्म की शीतल छाया प्रत्येक के लिए सुलभ हो यही उनकी अहिंसा और समता का लक्ष्य था। इसी लक्ष्य निष्ठा ने धर्म के नाम पर किए जाने पशुयज्ञों को निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी सिद्ध कर दिया था। अहिंसा का झरना एक बार हृदय से जब झरता है तो वह मनुष्यों तक ही नहीं प्राणिमात्र के संरक्षण और पोषण तक जा पहुँचता है। अहिंसक संत की प्रवृत्ति तो इतनी स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है कि उसमें प्राणिघात की कम से कम संभावना रहती है।

मूलतः जैनधर्म आचार प्रधान है। इसमें तत्वज्ञान का उपयोग भी आचार शुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शुष्क शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय और समता के स्थापन में किया है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इस प्रकार की समता और उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वय दृष्टि का क़ायम रखना अहिंसा के पुजारियों का ही कार्य था। स्याद्वाद के स्वरूप तथा उसकी प्रयोग की विधियों के विवेचन में ही जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने में जैनदर्शन का अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

भव-बीजाङ्कुर-जलदा रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ —**हेमचन्द्र**

[शेष पृष्ठ १४ पर]

ब्रह्माद्वैत-निरास

वसन्ततिलका

छत्र चामरादि अनेक विभूति जो हैं
हैं अंशभूत उस ब्रह्म पदार्थ के ही
कोई न वस्तु उससे कुछ भिन्न ही है
ब्रह्मांश है यह सभी कुछ भासता जो।

होती अतः कुछ प्रतीति न अन्य कुछ है
ब्रह्मांश है यह सभी फिर अन्य क्या है ?
वेदान्तवादि कह के सब उक्तियाँ ये
अद्वैतवाद अति उत्तम साधते हैं।

होती न युक्तिगत बात परन्तु क्योंकि
ये भिन्न-भिन्न सब अर्थ प्रतीत होते।
ज्ञानादि में यदि सदैव प्रविष्ट हो तो
होता तदा विषय से अथवा स्वतः ही ?

होता स्वतः यदि वही तब तो सभी ही
सर्वज्ञता सुगमता मग में चलेंगे।
माने यथैव परतः उस ज्ञान को तो
अद्वैतवाद मत की बहु हानि होगी।

है आपका यह विवाद प्रमाण सिद्ध
या है प्रमाणपुट-हीन बताइये न ?
प्रामाण्य सिद्ध यदि है तब द्वैत सिद्धि
होगी असिद्धि यदि है तब भी असिद्धि ॥

—श्री कोमलचन्द्र जैन, बीना

नरक और स्वर्ग : दो चित्र

नरक

धूप निकल आने पर भी जब पत्नी बिस्तर से न उठी तब पति ने तीखी आवाज में कहा—क्या आज दिन भर पड़ी ही रहोगी, रोटी कब बनेगी और मैं काम पर कब जाऊँगा ?

पत्नी ने भी रुखाई से उत्तर दिया—मैं क्या बताऊँ ? आज रात भर मुझे नींद नहीं आई, हरारत रही और सिर तो फटा जा रहा है। तुमने तो एक बार भी खबर नहीं ली।

पति—मैं तुम्हारी खबर लेकर नींद हराम करता तो दिन में काम पर कैसे जाता ?

पत्नी—अच्छा किया, मेरी खबर लेने वाला भगवान के सिवाय दुनियाँ में है कौन ? पर वह भी नहीं सुनता। कहती हूँ एक बार पूरी तरह खबर ले ले जिससे इस जिन्दगी से पिंड छूट जाए, फिर किसी की नींद हराम न हो।

पति—तो यह बड़बड़ ही चलती रहेगी, रोटी न बनेगी ?

पत्नी—आज तो मुझ से कुछ नहीं हो सकता। न मुझे बनाना है, न खाना है।

पति—पर मुझे तो खाना है।

पत्नी—खाना है तो बना लो और खा लो।

पति—हाँ ! मैं रोटी भी बनाऊँ और कमाने भी जाऊँ, और तुम पड़ी-पड़ी आराम करो।

पत्नी ने जरा चिल्ला कर कहा—मैं कब-कब आराम करती हूँ ? मेरे प्राण निकल रहे हैं और तुम्हें आराम दिखाई देता है। मरने को भी तो एक दिन की छुट्टी नहीं। तुम्हें तो महीने में चार दिन इतवार की छुट्टी चाहिए। २५–३० त्यौहारों की छुट्टी चाहिए, बीमारी की छुट्टी चाहिए, पर मुझे सिर्फ तभी छुट्टी मिलेगी जब मर जाऊँगी।

पति ने कड़क कर कहा—तुम्हें बारह माह छुट्टी ही तो है। घर में बैठी रहती हो। बाहर जाओ तब मालूम पड़े।

पत्नी—सुबह से रात तक काम में जुती रहती हूँ फिर भी यह घर में बैठे रहना कहलाता है। स्त्री की जिन्दगी ही पाप है।

पति बड़बड़ाया—यह पाप ही तो कहलाया जिससे मुफ्त में पड़े-पड़े खाने को मिलता है। और मुझे घर बाहर जुतना पड़ता है।

यह कह कर पति रसोईघर में गया और थाली, लोटे, गिलास उठा-उठा कर पटकने लगा।

पत्नी चिल्लाई—घर में आग ही लगा दो, मुझे भी जिन्दा जला डालो।

इस प्रकार मुँह बजने लगे, बर्तन ठनकने लगे, नरक का ताण्डव होने लगा।

स्वर्ग

धूप निकल आने पर भी जब पत्नी बिस्तर से न उठी तब पति को पत्नी की तबीयत ज्यादा खराब होने की चिन्ता हुई। समझ लिया कि रात भर तबीयत खराब रही है, अब सबेरे पहर जरा नींद आ गई है। सोचा जगा कर तबीयत पूछना भी ठीक नहीं, जब नींद खुलेगी तब पूछ लूँगा।

पति रसोईघर में गया। उसने दूध गरम करने के लिए स्टोव नहीं जलाया क्योंकि उस की आवाज से पत्नी की नींद खुलने की आशंका थी। सिगड़ी जला कर दूध रख दिया और रसोई बनाने की तैयारी कर ली। दूध गरम हो जाने पर दाल के लिए पानी भी रख दिया। इतने में पत्नी के जागने की आहट मिली। पति पलंग के पास गया और प्रेमल स्वर में पूछा—कैसी तबीयत है रानी ?

पत्नी ने शरमाते हुए कहा—ठीक है। पर अभी-अभी न जाने कैसे नींद लग गई। रात में कुछ हरारत सी थी, सिर में भी दर्द था इसलिए अच्छी तरह नींद न आई। अभी-अभी थोड़ी-सी नींद लग गई।

पति—लग गई तो अच्छा हुआ। दूध गरम तो हो ही गया है, पीकर जरा और सो जाओ, नींद से तबीयत कुछ हलकी हो जाएगी।

पत्नी—क्या तुमने दूध भी गरम कर लिया ? मुझे जगाया क्यों नहीं ? नींद भी न जाने कितनी गहरी लगी कि स्टोव की आवाज भी न आई।

पति—स्टोव की आवाज आती कहां से ? मैंने आवाज के डर से स्टोव जलाया ही नहीं, सिगड़ी पर ही दूध गरम किया। अब दाल का पानी रख दिया है।

पत्नी—ओह ! न जाने तुम कैसे हो ? मुझे जगा तो लेते। दिन भर तो पड़ा था मुझे सोने के लिए।

पति—तो क्या तुम चाहती हो कि बीमारी को लम्बे समय के लिए मेहमान बना लिया जाए ?

पत्नी—पर तुम जरा से सिर दर्द के लिए इतनी चिंता क्यों करते हो ? मैं धीरे-धीरे रोटी बना देती हूँ। काम पर जाने के समय तक सब हो जायगा।

पति—पर आज मुझे काम पर जाना नहीं है। आज छुट्टी निकालने वाला हूँ। तुम्हें रोटी बनाने की जरूरत नहीं है। मैं रोटी बना लूँगा।

पत्नी—बना ली तुमने रोटी ? रोटी के नाम पर भारत के नक्शे बनेंगे, और वे भी अध-कच्चे।

पति—वे भारत के नक्शे बनें या इंगलैण्ड के, मुँह में जाने पर सब एक-से हो जाते हैं। रही अधकच्चेपन की बात, सो एक दिन में कुछ कहीं बिगड़ता है ? आखिर पेट में भी तो आग है।

पत्नी—तो क्या चूल्हे की आग का काम पेट की आग से लोगे ? नहीं, यह सब नहीं होने का। मैं जब तक उठ सकती हूँ तब तक तुम्हें रोटी न बनाने दूँगी।

पति—पर मैं बीमार के हाथ की रसोई नहीं खाता।

पत्नी—सब खाते हो। जब मैं कभी बीमार के हाथ की कमाई खा लेती हूँ तब तुम बीमार के हाथ की रोटी भी खा सकते हो। सिर दर्द कोई प्लेग नहीं है कि छूत लग जाएगी।

पति—तुम बहुत हठीली हो।

पत्नी—तुम भी बहुत हठीले हो।

पति—तो एक काम करो। आधे-आधे हठ की दोनों आहुति दे दें। आटा मैं गूँधता हूँ, रोटी तुम बेल दो जिस से भारत का नक्शा न बने, तुम्हारे मुख मण्डल सरीखा पूरा चाँद बने। रोटी मैं सेंकूंगा, तुम बताती जाना। फिर चिपड़ना तुम, खाऊँगा मैं।

पत्नी ने मुस्कराते हुए कहा—चलो ! तुम बड़े वैसे हो।

अन्त में दोनों ने मिलकर रोटी बनाई। पत्नी मन में कह रही थी, मेरे देवता को मेरी जरा-सी वेदना सहन नहीं होती, छोटे-छोटे काम के लिए आगे आ जाते हैं। पति मन ही मन कह रहा था—मेरी रानी बीमारी में भी मुझे काम नहीं करने देती। दोनों हृदयों में स्वर्ग नृत्य कर रहा था।

—स्वामी सत्यभक्त जी की कृपा से प्राप्त

जैन दर्शन की देन : अनेकान्त दृष्टि

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, एम. ए., डी. फिल.

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैन दर्शन की अपनी अनोखी देन है। दर्शन शब्द का फिलासफी के अर्थ में कब से प्रयोग होने लगा है इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है, तो भी इस अर्थ में इस शब्द की प्राचीनता के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। तत्तत् दर्शनों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग मूल में इसी अर्थ में हुआ होगा कि—किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्व के परीक्षण में तत्तत् व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या अधिकारिता के भेद से जो तात्त्विक दृष्टिभेद होता है उसी को दर्शन शब्द से व्यक्त किया जाए। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि उन सब का एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैन दर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्त दर्शन' कहा गया है। जैन दर्शन का तो यह आधार-स्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिए भी इसको आवश्यक मानना चाहिए।

बौद्धिक स्तर में इस सिद्धान्त के मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्व का परिवर्तन आ जाता है। चारित्र्य ही मानव के जीवन का सार है। चारित्र्य के लिए मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक ओर तो अभिमान से अपने को पृथक् रखे, साथ ही हीन भावना से भी अपने को बचाए। स्पष्टतः यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। वास्तविक अर्थों में जो अपने स्वरूप को समझता है, दूसरे शब्दों में आत्म-सम्मान करता है, और साथ ही दूसरे के व्यक्तित्व को भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्ग का अनुगामी बन सकता है। इसीलिए सारे नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन दर्शन के उपर्युक्त अनेकान्त दर्शन का अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का सम्मान निहित है।

जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है वहाँ स्वभावतः सांप्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी छल, जाति, जल्प, वितण्डा आदि जैसे असद्-उपाय से बाधि-पराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन में भी खण्डन

के स्थान में समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति ही वहाँ रहती है। साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का महान् आदर्श भी उक्त सिद्धान्त के साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्त दर्शन नैतिक उत्कर्ष के साथ ही साथ व्यवहार-शुद्धि के लिए भी जैन दर्शन की एक महान् देन है।

विचार जगत् का अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत् में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए जहाँ अन्य दर्शनों में परमत-खण्डन पर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थिति-मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है। वर्तमान जगत् की विचारधारा की दृष्टि से भी जैन दर्शन के व्यापक अहिंसामूलक सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्व है। आजकल के जगत् की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अपने-अपने परम्परागत वैशिष्ट्य को रखते हुए भी विभिन्न मनुष्य जातियाँ एक दूसरे के समीप आएँ और उनमें एक व्यापक मानवता की दृष्टि का विकास हो। अनेकान्त-सिद्धान्त-मूलक समन्वय की दृष्टि से ही यह हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगम करने के लिए, अपितु भारतीय संस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिए भी जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमत-सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन दर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।

—'जैन दर्शन' के प्राक्कथन का एक अंश

[पृष्ठ ८ से आगे]

अर्थात् जिसके संसार को पुष्ट करने वाले राग आदि दोष विनष्ट हो गए हैं, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, या जिन हो उसे नमस्कार है।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥ —हरिभद्र

अर्थात् मुझे महावीर से राग नहीं है और न कपिल आदि से द्वेष। जिसके भी वचन युक्ति युक्त हों, उसकी शरण जाना चाहिए।

जैन रास-साहित्य के महत्व पर
डॉ० मंजुलाल दवे के विचार

–श्री अगरचन्द नाहटा

११ वीं १२ वीं शताब्दी से अब तक जैन विद्वानों ने रास, चौपई, फागु, विवाह, होली, बारहमासा, गीत आदि संज्ञावाली हजारों रचनाएँ की हैं। प्रारम्भ में छोटे छोटे प्रबंध काव्य थे; पर १५ वीं एवं १६ वीं शताब्दी से बड़े बड़े चरितकाव्य भी निर्मित होने लगे। ८-१० हजार श्लोकों तक के बड़े बड़े रास भी बनाये गए मिलते हैं। सैकड़ों कवियों ने जैन साहित्य के सुप्रसिद्ध कथानकों को राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी भाषा में पद्यबद्ध कर दिया। एक एक कथा के सम्बन्ध में १०-२० यावत् पचासों रासादि भी मिलते हैं। मध्यकाल में ये खूब लोकप्रिय हुए। प्रातः, मध्याह्न व रात्रि तीनों समय के व्याख्यानों में मुनिगण और साध्वियाँ गा गा कर सुनाती रहीं। स्थानकवासी व तेरापंथी समाज में तो आज भी इनका काफी प्रचार है और आज भी नित्य नए रास बन रहे हैं।

इन रासों की लोकप्रियता को बढ़ाने के लिए जैन विद्वानों ने लोकगीतों की देशियों व ढालों को अपनाया। काव्य का रस तो था ही उसके साथ संगीत और सम्मिलित हो गया। अतः इनकी प्रसिद्धि में चार चाँद लग गए। इस विशाल साहित्य का विवरण प्रकट करने के लिए श्री मोहनलाल दलीचंद देशाई ने भगीरथ प्रयत्न किया। २५-३० वर्षों तक वे बड़ी ही लगन के साथ इस कार्य में निरन्तर जुटे रहे। जितने भंडार देखने संभव हो सके और अन्य साधनों से जो भी जानकारी उन्हें मिली वह 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १, २, ३ के लगभग ४००० पृष्ठों में उपयोग कर उन्होंने जैन भाषासाहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण विवरण प्रकाशित किया। इनमें करीबन एक हजार कवियों की दो हजार से अधिक रचनाओं का विवरण दिया गया है। फिर भी यह साहित्य इतना विशाल है कि अभी कई विद्वान उन्हीं की तरह वर्षों तक शोध करते रहें तो भी शायद पूरा विवरण नहीं प्रकाशित हो सके। 'जैन गुर्जर कविओ' के तीसरे भाग में सैकड़ों रचनाओं का विवरण देशाई जी को मेरे द्वारा प्राप्त हुआ था। इसके प्रकाशन के बाद भी मैंने तीनों भागों में अनुल्लिखित कवियों की रचनाओं का विवरण लिखना प्रारंभ किया तो कुछ महीनों के प्रयत्न से ही करीबन ५०० रचनाओं का विवरण संग्रह कर लिया

गया। इससे इसकी विशालता का अन्दाज लग सकता है। जैन श्वेताम्बर कान्फरेंस को इन पूर्व प्रकाशित तीन भागों की पूर्ति रूप में मेरे इस चौथे भाग को भी प्रकाशित करने के लिए कई बार लिखा गया है पर कान्फरेंस के कार्यकर्ता कुछ भी ध्यान नहीं देते। फूलचन्द भाई और चोकसी जी को रूबरू भी कहा कि स्वर्गीय देशाई जी को जो रकम देने के लिए उनके अन्तिम समय में कान्फरेंस वालों ने ५-६हजार रु० एकत्र कर राजकोट उनके मरने के बाद लेकर पहुँचे थे; उनमें देशाई जी के मामा ने शायद ५०० रुपये और अपनी तरफ से देकर देशाई जी की स्मृति के रूप में कान्फरेंस में जमा करवा दिया था। कम से कम उस रकम से ही मेरे परम मित्र देशाई जी के परम प्रिय एवं जीवनसाधना के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मैंने जो प्रयास किया है उसे प्रकाशित कर दें। इससे मैं अपने एक स्नेही साहित्यिक मित्र की आत्मा को शांति पहुँचा कर कर्तव्य का पालन कर सकूँगा और कान्फरेंस भी उनकी महान सेवा की कुछ स्मृति की रक्षा कर कृतकृत्य हो सकेगी। पर जो इस कार्य की गुरुता व महत्व को नहीं समझ पाते उनके लिए मेरा निवेदन अरण्य रुदनवत् निष्फल हो गया। बहरे को क्या कोई गाकर सुनाए? निश्चैतन्य को क्या कोई रिझाए? अंधे को क्या हाथ दिखाए? वर्तमान नवीन शिक्षा प्रणाली के प्रवाह ने प्राचीन अनेक अच्छी-अच्छी वस्तुओं के आकर्षण या महत्व को घटा दिया। जैन रास साहित्य भी इस नए तूफ़ान का शिकार बना। प्राचीन रास साहित्य के प्रति अब आकर्षण दिन प्रतिदिन घट रहा है। मूर्तिपूजक समाज में तो रास बाँचना या गाना अपढ़ या कम पढ़े लिखे व्यक्तियों की पहचान बन गया है। स्थानकवासी व तेरापंथी संप्रदाय में भी नए नए रास बन गए व बन रहे हैं और पुराने रासों की भाषा व गाने की तर्ज कठिन व अरोचक प्रतीत होने लगी है। दिगम्बर समाज का रास साहित्य अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा है—पर उसका भी अब प्रचार नहीं रहा। प्राचीन संस्कृत कथाग्रंथों की भाषा टीकाओं व अनुवादों ने उनका महत्व घटा दिया है।

गुजरात के कुछ विद्वानों का आज भी इन प्राचीन रास, फागु आदि साहित्य में रस है पर वह भाषा विज्ञान एवं साहित्य के विकास आदि संशोधन दृष्टि से किये गए कार्य तक ही सीमित है। इसी कारण कुछ रास, फागु आदि अभी अभी सुसंपादित रूप में प्रकाशित हुए हैं व हो रहे हैं। पाठ्यक्रम में भी उनको स्थान मिला है। इंगलैंड से भी ऋषिवर्धन सूरि का 'नलरास' रोमन् टाइप में प्रकाशित हुआ है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अभी अभी इंदौर से प्रकाशित "वीणा" के दिसम्बर अंक में डॉ० मंजुलाल

जमनालाल दवे का 'गुजराती साहित्य के विकास पर एक दृष्टि' शीर्षक लेख छपा है। उसमें जैन रासग्रंथों के महत्व पर जो विचार प्रकट किये हैं वे यहाँ दिये जा रहे हैं।

"भारत की विभिन्न भाषाओं का साहित्य सर्जन लगभग १० वीं और ११ वीं शताब्दी में हुआ। इसके पूर्व संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं और उसके द्वारा कई प्रकार का साहित्य भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रकट होने लगा।

"गुजराती-साहित्य का भी १० वीं और ११ वीं शताब्दी में विशेष सर्जन हुआ और उसके प्रथम स्रष्टा जैन सूरि व मुनिवर ही थे। जिन के रासो अभी तक सुप्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों को आधुनिक दृष्टि से देखें तो उसे 'चमत्कारिक रोमांस' कहा जा सकता है। नायक नायिका के प्रेम के बीच विविध प्रकार की विघ्न बाधाएँ आने के पश्चात् कोई चमत्कारिक घटना घटे और अद्भुत पराक्रम शीलता का दर्शन हो और उसके द्वारा फिर दोनों का मिलन एवं लग्न हो जाय ऐसी घटना उन ग्रंथों में प्रकट होती रही है। सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए जैसे शेक्सपीयर के अन्तिम नाटक—विशेषतः 'टेम्पेस्ट' में जिस प्रकार की चमत्कारिक भावना व्याप्त हैं, उसी प्रकार की भावना इन जैन रासों में व्यवहृत है। शृंगार रस के साथ-साथ अद्भुत वीर और भयानक रसों का अपूर्व समन्वय उन रासों में सुलक्षित हुए बिना नहीं रहता।

"इन जैन रासों का मूल चाहे जिन प्राचीन साहित्य रचनाओं में हो लेकिन उनकी अप्रतिम मौलिकता तथा कला विधान, शैली की सचोटता तथा अनेक रसों का परिपाक आज भी साहित्य-रसिकों को आकर्षित किये बिना नहीं रहता। आज यदि इन रासों की कथाओं को चित्रपट पर उतारा जाए तो अवश्य ही उसका प्रभाव केवल गुजरात पर ही नहीं बल्कि वर्तमान समस्त सुसंकृत प्रजा पर पड़े बिना नहीं रह सकता ऐसा मेरा विचार है।"

डॉ० मंजुलाल दवे के उपरोक्त विचार पर जैन समाज गहराई से सोचे, और गत ८०० वर्षों के विशाल साहित्य की सुरक्षा, प्रकाशन व प्रचार के निमित्त भरसक प्रयत्न करने के लिए सचेष्ट हो। रास साहित्य की लोकप्रियता जैसे भी बढ़े उन उपायों को अपनाए। विशाल रासादि भाषा साहित्य पर विवेचनात्मक निबन्ध या ग्रंथ प्रकाशित कर हिन्दी के विद्वानों का भी ध्यान आकर्षित करे। उनका भाषा विज्ञान, काव्य, कथन आदि की दृष्टि से महत्व है, उसे प्रकाश में लाए। अच्छे अच्छे रासों के चुने हुए अंश प्रगट करे। उन का रास-संगीत के जानकारों से रेकर्डिंग करवाया जाय, जिस से उनका संगीत भी सुरक्षित रह सके।

बाल-संन्यास-दीक्षा प्रतिबन्धक बिल उचित है !

बम्बई की विधान परिषद् में श्री प्रभुदास बालूभाई पटवारी द्वारा प्रस्तुत बाल-संन्यास-दीक्षा-प्रतिबन्धक बिल के विषय में विधान-परिषद् के मन्त्री ने जैन समाज के बहुमान्य पंडितद्वय सुखलाल जी और बेचरदास जी दोशी से उनका मन्तव्य माँगा था। उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने यह संयुक्त वक्तव्य भेजा है। ये दोनों पंडित जैन धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और विचारक हैं और दोनों की असांप्रदायिक दृष्टि सर्वविदित है। इसलिए इनका यह वक्तव्य प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के लिए विचारणीय और मननीय है।

हम दोनों निम्न हस्ताक्षरकारी संयुक्त रूप में भाई श्री प्रभुदास पटवारी के बाल-संन्यास-दीक्षा-प्रतिबन्धक बिल के संबन्ध में अपना विचार और अभिप्राय विचारार्थ यहां उपस्थित कर रहे हैं। सबसे पहले नम्रतापूर्वक यह बतला देना उचित होगा कि हमारा क्रमशः ६० और ५० वर्ष का लंबा समय भारतीय धर्म-परम्पराओं के शास्त्रीय परिशीलन में और अमुक अंश में, प्रत्यक्ष परिचय में व्यतीत हुआ है। यहाँ हम खास तौर से जैन परम्परा को लक्ष्य में रखकर कुछ कहना चाहते हैं तथापि इतर परम्पराओं के बारे में भी अगर कुछ कहा जाएगा तो मुख्य विषय को स्पष्ट करने के लिए ही।

भारतवर्ष में दीक्षा और संन्यास धर्म की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिक परम्परा की छोटी-बड़ी अनेक शाखाएँ थीं और आज भी हैं। उनमें संन्यास को सामाजिक जीवन के चार आश्रमों में सबसे अन्तिम आश्रम माना गया है। जिस प्रकार इस आश्रम की दीक्षा होती है, उसी तरह उसके पहले के तीन आश्रमों में प्रविष्ट होने वाले के लिए भी उस-उस भूमिका के अनुसार दीक्षा स्वीकृत है किन्तु अन्तिम दीक्षा ही संन्यास का स्थान प्राप्त करती है। अतएव वैदिक परम्परा की किसी भी शाखा में छोटी या अपरिपक्व आयु में संन्यास का विधान है ही नहीं। फिर भी व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि कोई बाबा, अतीत, उदासी, निर्मला आदि सम्प्रदायों के साधु कई दफा छोटे-छोटे बच्चों को बहकाकर उनको संन्यास-दीक्षा दे देते हैं। ऐसा होने पर भी वैदिक हिन्दू समाज अति विस्तृत होने के कारण ऐसी अनिष्ट

संन्यास-दीक्षा हो, तब भी नजर में नहीं आती। श्री शंकराचार्य की लघु वय की दीक्षा प्रसिद्ध है। वह प्रतिष्ठित भी है। किन्तु वह भी एक अकस्मात् या अपवाद रूप ही रही है। स्वयं शंकराचार्य के बाद १२०० वर्ष के भीतर उनकी गद्दी पर आनेवाला कोई बालदीक्षित नहीं हुआ। इतना ही नहीं किन्तु उनकी गद्दी पर आने वाले या उनके साहित्य को अमर बनाने वाले अनेक परिव्राजक और विद्वान गृहस्थाश्रम से गुजरे हैं। रामानुज, मध्व आदि अन्य वेदान्त-परम्पराओं में भी ऐसे किसी आचार्य का उदाहरण नहीं है जो बाल-दीक्षित हो। अतएव शंकराचार्य का दृष्टान्त इतिहास या प्रत्यक्ष व्यवहार का राजमार्ग नहीं है।

दीक्षा देने की प्रथा

बिल्कुल छोटी आयु में दीक्षा देने की प्रथा जैन, बौद्ध जैसी श्रमण-परम्पराओं में पहले से ही चली आई है। बौद्ध परम्परा लघु-वयस्क उम्मीदवार को भिक्षु बनाती है किन्तु वह आजन्म भिक्षु प्रारम्भ से ही नहीं बनता। प्रारम्भ में वह सामणेर (नवसिखुआ) बनता है अर्थात् भिक्षु का वेश मात्र लेकर अध्ययन करता है; दो-दो या चार-चार वर्ष का भिक्षु-जीवन अपनी मर्जी के मुताबिक स्वतन्त्रतापूर्वक बढ़ाता जाता है। यदि किसी को बहुत समय के बाद भिक्षुपद लेने का मन हो जाता है, तभी वह वैसा पद लेता है अन्यथा वह अपने कुटुम्ब के बीच वापस चला आता है और समाज में प्रतिष्ठित जीवन बिताता है। अध्यापक कोशाम्बी जी वैसा ही भिक्षु-जीवन बिता कर पुनः कुटुम्ब में आ गए थे। बर्मा, सीलोन, तिब्बत आदि देशों में लाखों की संख्या में सामणेर उम्मीदवार मिलते हैं किन्तु आजन्म भिक्षु हों, वैसे तो कुछ ही होते हैं। अतएव बौद्ध परम्परा में दंभ या नैतिक शिथिलता के लिए कम अवकाश होता है, जब कि जैन-परम्परा की स्थिति भिन्न है।

जैन परम्परा में बाल-दीक्षा की प्रणाली

बिल्कुल छोटी वय में दीक्षा देने की प्रथा आज जैन-परम्परा के श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक और तेरापन्थी—जो स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा है—में चालू है। इन सम्प्रदायों का हमको थोड़ा बहुत प्रत्यक्ष परिचय है। जैन दीक्षा बौद्ध दीक्षा से भिन्न प्रकार की है उसमें प्रारम्भ से ही आजन्म संन्यास की प्रतिज्ञा होती है और ऐसी आजन्म प्रतिज्ञा का जैन-परम्परा में बड़ा गौरव है और यह प्रतिज्ञा अन्य किसी परम्परा की दीक्षा-प्रतिज्ञा की अपेक्षा

अधिक गहन और कठिन है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह— इन पांच मुख्य दोषों का मन, वचन या काया से न सेवन करना, न दूसरों से कराना या कोई अ य स्वयं उनका सेवन करता हो तो न उसका अनुमोदन करना, इतना विशाल और सूक्ष्म अर्थ इस प्रतिज्ञा में निहित है। एक तो यह आजन्म दीक्षा है और फिर ऐसी गहन है, अतएव उसका गौरव होना स्वाभाविक है। परन्तु इस गौरव में ही अनेक भय-स्थान हैं। छोटी उम्र का उम्मीदवार ऐसी भीष्म-प्रतिज्ञा का भाव समझ ही नहीं सकता, यह कहने की आवश्यकता नहीं है वयस्क होने पर जब बाल-दीक्षित की वासनाएं जागृत होती हैं या विचारों में परिवर्तन होता है, तब विषम परिस्थिति खड़ी होती है। आजन्म प्रतिज्ञा होने से वह कुटुम्ब में लौट नहीं सकता है और यदि आता है तो उसे सन्मान नहीं मालूम होता। समाज में उसका स्थान निम्न होता है। धार्मिक माने जाने वाले गृहस्थ और धनिक भी ऐसा प्रयत्न करते हैं कि वह पुनः दीक्षित हो जाए। गुरुओं की पैंतरेबाजी भी उसी दिशा में होती है। अतएव बालदीक्षित वयस्क होने पर अकल्प्य कठिनाई का अनुभव करता है। कुछ लोग दीक्षित वेश में ही रहकर दंभी जीवन बिताते हैं और कुछ इने-गिने ही समाज में लौटकर अप्रतिष्ठित जीवन बिताते हैं। अलबत्त, ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी बालदीक्षित वयस्क होने पर इस कठिन परिस्थिति का अनुभव करते ही होंगे किन्तु यह कठिनाई एक वास्तविक सत्य है जिसको नगण्य नहीं कहा जा सकता।

वापस समाज में आने पर निराश्रितता और प्रतिष्ठा-हानि प्रत्यक्ष ही है। इसके परिणाम स्वरूप वापस संसार में नहीं लौट सकने वाले बाल-दीक्षितों में कितनी एक अस्वाभाविक विकृतियां आती हैं, जो दीक्षा की आत्मा का ही नाश करती हैं। कुछ छोटे बालक और कुमार जरा बड़ी वय के दीक्षितों की वासना के भोग बनते हैं और जब वे स्वयं बड़े होते हैं, वे भी उसी प्रकार अपनी वासना का विस्तार करके अप्राकृतिक अनाचार में फंसते हैं। यह घृणाजनक तथ्य हम सिर्फ कल्पना से उपस्थित नहीं कर रहे हैं किन्तु इसके अनेक दृष्टान्त हमारे समक्ष हैं जिनका इस पत्र में उल्लेख करना अप्रासंगिक है।

बाल-दीक्षिता की अधिक कठिन स्थिति

बाल-दीक्षित की अपेक्षा बाल-दीक्षिता की स्थिति और भी कठिन है। वयस्क होने पर जब उसका मन बेकाबू हो जाता है या विचार में परिवर्तन हो

जाता है, तब वह अनेक प्रकार से फंसती है। पुरुष यदि दूषित हो तो वह अपना छुटकारा पा सकता है किन्तु नारी की स्थिति भिन्न है। दोष में साझेदार पुरुष और वह स्वयं हो तब भी दोनों के पाप की सजा तो तरुण दीक्षिता को ही भोगनी पड़ती है। घर और समाज में पुनः लौटना असंभव, लौटने पर घर में कोई स्थान नहीं मिलता, गर्भ-निरोध और गभ-पात के मार्ग खुले नहीं और कभी प्रसूतिगह में पहुँच भी गई तो फिर बाद में उसका सामाजिक जीवन नष्टप्रायः हो जाता है। इस तरह बालदीक्षा के अनिष्ट परिणाम सिर्फ धर्म-संस्था तक ही सीमित नहीं है उसका असर गृहस्थ समाज पर भी पड़ता है। विधवा और कभी-कभी सधवा भी उस पाश में फंसती है।

यह हम जानते हैं कि सभी बाल-दीक्षितों या बाल-दीक्षिताओं की ऐसी स्थिति नहीं होती। उनमें से कोई विरल कुछ दृष्टि से अच्छे और भव्य होते हैं किन्तु सर्व दृष्टि से देखा जाए तो बालदीक्षा का परिणाम बुरा ही है। और हमारा यह भी कहना नहीं है कि जो वयस्क होकर दीक्षा लेते हैं, वे सब अच्छे ही हो जाते हैं फिर भी इतना तो सत्य है ही कि ऐसी कठोर आजन्म दीक्षा लेने के लिए कुछ विचार कर सके, ऐसी आम मर्यादा तो निश्चित करनी ही होगी और १८ वर्ष की आयु-मर्यादा कोई बहुत बड़ी नहीं है।

अनर्थकारी विकृतियों का पोषण

यह बिल १८ वर्ष के पहले दीक्षा देने का प्रतिबन्ध करता है किन्तु दीक्षा की तैयारी या दीक्षा के अनुकूल अभ्यास के ऊपर तो प्रतिबन्ध नहीं करता। अतएव कुछ समझपूर्वक सच्ची दीक्षा लेने की तैयारी के लिए पूरा अवसर देने की दृष्टि से तो यह बिल दीक्षा के लाभार्थ ही है। दीक्षा एक आध्यात्मिक साधना है। गुरु और उम्मीदवार ऐसी जल्दी क्यों करें जिससे कि वह अकाल बन्धन में पड़ जाएँ। उदार और समझदार गुरु या श्रावक तो उल्टा धैर्य का अभ्यास करेगा और गम्भीर उम्मीदवार को धैर्य और ज्ञान के विकास का पूरा अवसर मिलेगा।

आचार्य हेमचन्द्र का दृष्टान्त दिया जाता है किन्तु पिछले ८०० वर्ष में कोई दूसरा हेमचन्द्र तो नहीं पैदा हुआ। हेमचन्द्र के दृष्टान्त को समक्ष रखकर दी जानेवाली बालदीक्षा और बालदीक्षा के परिणामस्वरूप जो सैकड़ों अनर्थकारी हो रही हैं, उन्हें जानते हुए भी त्यागी और अमुक गृहस्थवर्ग उन्हें ढकने का ही प्रयत्न करते हैं। आजन्म दीक्षा की प्रतिज्ञा में बिना बद्ध हुए छोटी उम्र से कुमार व कुमारिकाएँ धार्मिक शिक्षण लें और परिशीलन करें। यदि उनमें प्रतिभा होगी तो १८ वर्ष की आयु में दीक्षा लेने पर भी वह चमक उठेगी।

जैन सिद्धान्त की अवगणना

भूतकाल व वर्तमानकाल के बीच बड़ा अन्तर है। प्राचीन काल में जैन त्यागी वर्ग मुख्यतः गांव व नगर के बाहर उपवन में निवास करते थे जहां मोहक वातावरण शायद ही होता हो। आज तो गांव और शहर के बीचों-बीच ऐसे मोहक वातावरण में ही भिक्षुक लोग रहते हैं जिससे कि उनका शान्त मन भी सरलता से चलायमान और विकृत बन जाता है। अतएव भूतकाल के दृष्टान्तों के आधार पर आज बाल-दीक्षा का समर्थन करना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के जैन-सिद्धान्त का मूल्य कम करने जैसा है। क्या दीक्षा धार्मिक जीवन का ही प्रश्न है या सामाजिक जीवन का भी है? यह प्रश्न सामान्यतः बहुत लोगों को कठिनाई में डाल देता है। अतएव इस विषय में भी यहां स्पष्टीकरण आवश्यक है। दीक्षा आध्यात्मिक जीवन की एक प्रक्रिया है क्योंकि उसका स्वीकार पूर्व जीवन और भावी मुक्त जीवन की कल्पना के आधार पर किया जाता है। ऐसा होने पर भी दीक्षा के ध्येय की साधना तो वर्तमान जीवन की एक विचारपूत प्रक्रिया है। और वर्तमान जीवन सामाजिक जीवन का एक भाग है। अतएव एक ओर जैसे कोई भी साधक समाज का अवलम्बन छोड़कर या सर्वथा समाज से विमुख होकर अपनी साधना नहीं कर सकता, वैसे ही दूसरी ओर उसके अच्छे-बुरे जीवन का अच्छा-बुरा असर समाज को स्पर्श किए बिना भी नहीं रहता। अतएव सामान्यतया व्यक्तिगत या धार्मिक दिखलाई पड़नेवाली जिस साधना का असर समाज के ऊपर बुरा हो या बुरा होने की संभावना हो, उस साधना को केवल धार्मिक प्रश्न कह कर टाला नहीं जा सकता बल्कि उसको एक आवश्यक सामाजिक प्रश्न मानकर उसका उस दृष्टि से भी विचार करना ही चाहिए। इस विषय में अन्य प्रकार से विश्लेषण करना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि दीक्षा लेने के बाद यह प्रश्न धार्मिक हो जाता है, किन्तु वह किन परिस्थितियों में दीक्षा लेता है, दीक्षा लेने के बाद उसका उस व्यक्ति के लिए और समाज के लिए, आस-पास के अनेक दृष्टान्त देखते, कैसा परिणाम आना संभव है और अन्त में उसके सामाजिक जीवन पर कैसा असर पड़ेगा आदि दृष्टियों से सोचने पर तो यह केवल सामाजिक प्रश्न ही है। अतएव जिस वस्तु का परिणाम समाज पर बुरा होने वाला हो, उससे समाज को बचा लेने के लिए आवश्यक उपायों की योजना करना, सर्वप्रथम समाज-व्यवस्थापकों के लिए और यदि वे नहीं समझें तो अन्त में सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है। अतएव यह सब सोचकर जब सरकार बाल-संन्यास-

दीक्षा प्रतिबन्धक कानून बनाने का कदम उठाती है तो वह धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत दीक्षा की आध्यात्मिक पवित्रता को पुष्ट करने के साथ ही साथ समाज-शुद्धि का ही काम करती है और कल्याण-राज्य की दिशा में ही एक कदम आगे बढ़ाती है।

राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से

समग्र देश का कल्याण जिसके बिना सम्भव नहीं, उस राष्ट्रीयता की भावना की दृष्टि से भी इस विषय का विचार आवश्यक है। सामान्यतः रूढ़िवादिता राष्ट्रीयता की भावना की हमेशा ही विरोधी रही है और उसमें से सदैव कट्टर साम्प्रदायिकता का ही जन्म होता रहा है और इसी कट्टर साम्प्रदायिकता ने देश का कितना नुकसान किया है, इसके तो हमारे इतिहास में अनेक दृष्टान्त मौजूद हैं। हमारे स्वातन्त्र्य की लड़ाई गांधीजी के नेतृत्व में सभी धर्मों के प्राण-स्वरूप सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त पर लड़ी गई थी फिर भी उसमें अपने त्यागी वर्ग या साधु समुदाय ने कितना सहयोग दिया या समर्थन किया, इसका इतिहास उज्ज्वल तो नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि इस त्यागी वर्ग ने उसका विरोध और निन्दा की है। उस वर्ग ने गांधीजी को उद्दिष्ट करके जो लिखा, वह उसके त्यागी जीवन के लिए लज्जास्पद भी है। इसका मूल कारण कट्टर साम्प्रदायिकता ही है और ऐसी कट्टर साम्प्र-दायिकता साधु वर्ग में आज भी काफी अंश में मौजूद है। उसमें भी जिस व्यक्ति को बिल्कुल छोटी उम्र में दीक्षा दी गई हो, उसके समक्ष राष्ट्रीय, सामाजिक या सर्वधर्म-समभाव के विचारों के स्थान पर केवल अपने सम्प्रदाय या पन्थ के सर्वश्रेष्ठ होने के एकांगी विचार ही आने से और उसका अध्ययन व्यापक और सर्वग्राही होने के बदले अमुक पन्थ में ही मर्यादित होने से और सम्पर्क की दृष्टि से भी उसका समाज या देश के विभिन्न सुयोग्य व्यक्तियों के सम्पर्क के स्थान पर अपने ही पन्थ के और वहाँ भी इने-गिने व्यक्तियों से ही सम्पर्क होने से उसका सर्वांगीण विकास होने के बजाय उसमें केवल कट्टर साम्प्रदायिकता ही पुष्ट होती है। यह समाज व देश के कल्याण की दृष्टि से और स्वयं उस व्यक्ति के विकास की दृष्टि से भी अति विघातक है। अतएव ऐसे अनिष्ट से व्यक्ति, समाज और देश को बचा लेने के लिए सरकार बाल-संन्यास-दीक्षा प्रतिबन्धक कानून यदि बनाती है तो वह उसका सच्ची दिशा में ही कदम है, ऐसा हम मानते हैं। अतएव हम उस कानून का समर्थन करते हैं।—'तरुण' से



उज्जैन में सर्व धर्म सम्मेलन

—डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी.

[गतांक से आगे]

कुछ व्यक्तित्व

बड़े आयोजनों में जो कुछ निश्चय किया जाता है तथा जो वातावरण बनता है उसके अतिरिक्त उनका बहुत बड़ा लाभ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। वैसे ही समय छिपी हुई प्रतिभा एवं व्यक्तित्व आगे आते हैं। सम्मेलन का परिचय देते समय उनका परिचय देना अत्यन्त आवश्यक है।

इस सम्मेलन के अध्वर्यु पं० मुनि श्री सुशीलकुमार जी थे। उन्होंने इसी प्रकार का सफल आयोजन बंबई में भी किया था। मुनिश्री में सूझ है, लगन है, वक्तृत्व है, शक्ति है और लोक-संग्रह की कला भी। उनके भाषणों का जनता पर जादू-सा प्रभाव होता है। यदि समाज ऐसे प्रतिभाशाली एवं उत्साही त्यागियों को प्रोत्साहन दे तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। वयोवृद्ध मुनि श्री सौभाग्यमलजी का वरद हस्त उन पर रहा है। और सम्मेलन की सफलता का मूल इसी में सन्निहित है। सम्मेलन के द्वारा उन्होंने समस्त साधु समाज के सामने एक कार्यक्रम उपस्थित किया है।

सम्मेलन के लिए उदारतापूर्वक दान देने वाले सेठ लालचन्द जी का उत्साह भी प्रशंसनीय है। मुझे उनसे कुछ क्षणों के लिए ही मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी एक मात्र उत्कंठा है—सभी धर्म मिलकर कुछ ठोस कार्य करें। यदि वास्तव में रचनात्मक कार्य हो तो सेठ जी अपना हाथ कभी नहीं खींचेंगे और हमारा विश्वास है, आर्थिक कठिनाई उपस्थित नहीं होगी।

मध्यभारत के वित्त मंत्री श्री सौभाग्यमल जी जैन का व्यक्तित्व इस सम्मेलन में नया रूप लेकर आया। इस सम्मेलन में मुझे उन्हें अधिक निकट से देखने का अवसर मिला। उन्हें देखकर यह प्रतीत होता है कि शासक

होना और जनसेवक होना परस्पर विरोधी तत्व नहीं हैं। पीढियों से शासक होने का दम भरने वालों के सामने उनका जो रूप देखा उससे उनकी शासकीय प्रतिभा व दृढता का साक्षात्कार हुआ, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वे पहले जनसेवक हैं, फिर शासक। उनका हृदय जन सेवक है, और बाह्य रूप शासक। उनके साथ संबन्ध होने के कारण उनकी मोटर को भी दोनों रूप लेने पड़ते हैं। यह कभी तिरंगे झंडे के साथ शासन का संकेत लेकर चलती है और कभी दूसरों का परिवहन करती हुई जनसेवक का रूप ले लेती है। जैन साहब चाहते हैं, जिस प्रकार पार्थिव जागीरें समाप्त हो गईं और उनका उपयोग जनकल्याण के लिए किया जा रहा है उसी प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाली मानसिक जागीरें भी खतम हो जाएँ और सब के सब प्राणी मात्र के कल्याण में जुट जाएँ।

इस अवसर पर श्री पारसचन्द मूथा बी० एस-सी० को भूल जाना चित्र का वर्णन करते समय आधार पट को भूल जाना होगा। यदि सुशीलकुमार जी चित्रकार हैं और विभिन्न धर्म नायक एवं अन्य नेता चित्र के विविध रंग, तो पारसचन्द जी वह यंत्र है जो चित्र के पीछे छिप जाता है, जिसका कोई नाम नहीं लेता किन्तु जिसके बिना चित्र का कोई आधार नहीं रहता। वे कभी मंच पर नहीं आए।

अतिथियों एवं प्रतिनिधियों की सुविधा का उन्हें पूरा ध्यान था। समस्त सूत्र का संचालन उन्हीं के हाथ में था। समाज एवं राष्ट्र को ऐसे मूक सेवकों की आवश्यकता है। वे भी नवयुवक हैं फिर भी अपनी अपेक्षा कार्य को चमकाना अधिक पसन्द करते हैं।

इनके अतिरिक्त श्री सूर्यनारायण जी व्यास, सेठ सुगनचन्द जी, श्री पांचूलाल जी, श्री कुसुमकान्त जी जैन, टी. जी. शाह, तथा स्वयंसेवकों का उत्साह भी प्रशंसनीय था।

भविष्य

अधिवेशन ने सम्मेलन को स्थायी रूप देने का निश्चय किया है। उसकी रूपरेखा बनाने के लिए उपसमिति भी बन गई है। हम कुछ सुझाव देना चाहते हैं। और उपसमिति के सदस्य एवं अन्य विचारशील महानुभावों को अपना-अपना परामर्श देने के लिए आमंत्रित करते हैं। उन सुधारों के आधार पर एक कच्ची रूपरेखा तैयार की जाएगी और उस पर उपसमिति विचार करेगी।

(१) सर्व धर्म सम्मेलन का उद्देश्य सभी धर्मों को एक बनाना नहीं है किन्तु उनमें ऐसा सामंजस्य स्थापित करना है जिससे वे एक दूसरे के पूरक हो सकें। उदाहरण के रूप में—जैन धर्म व्यक्तिगत त्याग, संयम एवं आत्म-विकास को प्रधानता देता है तो दूसरी ओर वैदिक धर्म समाज एवं भौतिक समृद्धि की ओर झुका हुआ है। व्यक्ति और समाज, त्याग और मर्यादित भोग दोनों जीवन के आवश्यक दृष्टिकोण हैं। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म की अन्तरात्मा और दृष्टिकोण का पता लगाया जाए और उन सब को मिलाकर समग्र मानवता का निर्माण किया जाए। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के प्रति सहनशीलता ही नहीं किन्तु विध्यात्मक आदर का भाव उत्पन्न होगा।

(२) धर्मों का उपरोक्त दृष्टि से अध्ययन करने के लिए एक अनुशीलन पीठ स्थापित किया जाए। यदि अलग संस्था न बन सके तो मध्यभारत सरकार से प्रार्थना की जाए कि "विक्रम विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन एवं धर्म का एक विभाग रहे और उसके लिए प्रोफेसर एवं अन्य प्राध्यापक रखे जाएँ। विभाग द्वारा अध्यापन एवं अनुशीलन दोनों प्रकार का कार्य हो। विश्वविद्यालय के पाठ्य क्रम में भी 'भारतीय धर्म एवं दर्शन' एक विषय रहे और एफ. ए., बी. ए., तथा एम. ए. सभी कक्षाओं में उसका अध्यापन हो।"

(३) इस विषय के अध्ययन एवं अनुशीलन के लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी छात्रवृत्तियां प्राप्त की जाएं जिससे विद्यार्थी उसे पढ़ने में प्रोत्साहित हो सकें।

अखिल भारतीय सर्व धर्म सम्मेलन के अन्तिम दिवस पर एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया गया। प्रस्ताव जैन मुनि श्री सुशीलकुमारजी ने रखा जिसका समर्थन श्री धन महाराज तथा अनुमोदन राजस्व मंत्री श्री सौभाग्यमल जी जैन, भोपाल के स्पीकर श्री सुलतान मोहम्मद, प्रो० इन्द्रचन्द्र आदि ने किया।

प्रस्ताव निम्न प्रकार है —

(अ) अखिल भारतीय सर्व धर्म सम्मेलन ने अपने इस अधिवेशन में जो सफलता प्राप्त की है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि इसे एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में स्थायी बना दिया जाए।

[शेष पृष्ठ २९ पर]

पुस्तक-सूची

—महेन्द्र राजा एम० ए०

(गत दिसम्बर अंक से आगे)

आधुनिक पुस्तकालयों में पुस्तक-सूची के प्रायः निम्न रूप देखने को मिलते हैं :—

(१) **कार्ड-सूची**—इस प्रकार की सूची में प्रत्येक पुस्तक के लिए एक अलग कार्ड होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी भी पुस्तक को किसी भी समय शामिल किया जा सकता, निकाला जा सकता अथवा बदला जा सकता है। साथ ही साथ प्रत्येक पुस्तक के लिए अलग-अलग बनाए गए इस प्रकार के कार्डों को इच्छानुसार ढंग से[१] व्यवस्थित भी किया जा सकता है। ये कार्ड एक ट्रे में पुस्तकालय में अपनाई हुई प्रणाली के अनुरूप क्रमानुसार रखे जाते हैं। इस कार्ड रखे जानेवाली ट्रे को 'केटलग-केबिनेट' कहा जाता है। इस प्रकार की सूची में आवश्यकतानुसार पुस्तकों की क्रमबद्ध व्यवस्था की जा सकती है। पुस्तकालय में चाहे जितनी अधिक से अधिक पुस्तकें आ जाएँ, उनकी व्यवस्था करने अथवा उनकी सूची बनाने में किसी प्रकार की परेशानी नहीं होगी। पिछले लेख में मैंने पुस्तक-सूची के जो प्रमुख उद्देश्य बतलाए हैं, कार्ड-सूची उनमें से अधिकांश की पूर्ति करती है। क्योंकि—

(अ) उसमें समयानुसार नई आई हुई पुस्तकों के नाम यथास्थान बिना किसी असुविधा के जोड़े जा सकते हैं।

(आ) वह पूर्णतः आ-दिनाङ्क (अप-टू-डेट) रखी जा सकती है। उसमें कोई भी पुस्तक, पैम्फलेट, पत्रिका आदि शामिल की जाने से रह नहीं सकती।

(इ) एक ही लेखक या एक ही विषय की समस्त कृतियाँ एक ही स्थान पर क्रमानुसार रखी जा सकती हैं।

(ई) नष्ट हुई, फटी हुई या गुमी हुई पुस्तकों के नाम आसानी से हटाए या निकाले जा सकते हैं।

---

[१] इस संबंध में आगामी किसी अंक में विस्तार से लिखा जाएगा।

(उ) उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।

(ऊ) पाठकों को उसे समझने में किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती।

(२) मुद्रित सूची – इस प्रकार की सूची का प्रचलन बहुत समय से है। इस सूची में सभी पुस्तकों के नाम पुस्तक रूप में छपवा लिए जाते हैं। इस प्रकार यह सूची स्वयं एक पुस्तक बन जाने के साथ ही साथ, सूची तैयार होते समय पुस्तकालय में उपलब्ध सभी पुस्तकों की एक स्थायी सूची बन जाती है। सबसे बड़ी परेशानी जो इस प्रकार की सूची में होती है, वह यह कि सूची तैयार होने के बाद में आई हुई नई पुस्तकों के नाम इसमें नहीं जोड़े जा सकते। नई पुस्तकों के नाम जोड़ने के लिए सूची को पुनर्मुद्रित कराना आवश्यक है, जो अत्यन्त ही व्यय साध्य है। और यह प्रत्येक पुस्तकालय के वश की बात नहीं। अतः इस प्रकार की सूची में प्रमुख दोष जो होता है वह यह कि यह बहुत जल्दी पुरानी (out of date) हो जाती है।

मुद्रित सूची तैयार कराने में व्यय भी बहुत होता है। हमारे यहाँ के सामान्य पुस्तकालयों के लिए यह संभव नहीं। पर इस प्रकार की सूची से एक महत्वपूर्ण लाभ होता है कि यह 'चल' वस्तु होती है अतः इसका उपयोग कहीं भी सुविधा के साथ किया जा सकता है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी कोई दिक्कत नहीं होती। इसे पाठक अपने घर पर भी ले जा सकते हैं। इसका उपयोग भी आसानी से ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार किसी अन्य पुस्तक का। इस प्रकार की सूची में कम से कम समय में एक साथ एक ही विषय की अनेक पुस्तकों के नाम देखे जा सकते हैं। कार्ड सूची में यह सुविधा नहीं है। क्योंकि उसमें प्रत्येक पुस्तक के लिए अलग कार्ड होता है। कार्ड सूची की अपेक्षा मुद्रित-सूची जगह भी अत्यल्प घेरती है। जितनी जगह एक कार्ड सूची के लिए आवश्यक है उतनी जगह में कम से कम १०० मुद्रित सूचियां रखी जा सकती हैं।

फिर भी इसके दोषों की तुलना में इसके ये गुण नगण्य ही हैं।

पहले जिन पुस्तकालयों में मुद्रित सूची थी, वहाँ सूची को 'आ-दिनाङ्क' बनाए रखने के लिए पुस्तकालय की ओर से बुलेटिनों का प्रकाशन होता था। इनमें प्रति मास आई हुई नई पुस्तकों की सूची दी रहती थी। यद्यपि अभी भी यह प्रणाली विदेशों के कुछ बड़े पुस्तकालयों में प्रचलित है पर भारत जैसे देश के आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी पुस्तकालयों के लिए यह संभव नहीं।

(३) **शीफ सूची**—शीफ सूची में प्रत्येक पुस्तक के लिए एक स्वतंत्र कार्ड या स्लिप रहती है और फिर ये क्रमानुसार एक फाइल में रखी जाती हैं। यह फाइल खोलने व बंद करने में बड़ी आसानी होती है। कार्ड सूची के समान इसमें भी नई पुस्तकों के नाम आसानी से मिलाए जा सकते अथवा फटी हुई या गुमी हुई पुस्तकों के नाम निकाले जा सकते हैं। पुस्तक सूची का यह रूप बहुत कम प्रचलित है।

[पृष्ठ २६ से आगे]

विभिन्न धर्मों के दार्शनिक तथा मौलिक तत्वों एवं साधनों की प्रतिक्रियाओं में भेद होने पर भी सम्मेलन का विश्वास है कि जीवन का उत्थान एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप लक्ष्य एक है।

सम्मेलन का यह भी विश्वास है कि एक ऐसे संघ का निर्माण किया जा सकता है जहां सभी धर्म अपने वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखते हुए सम्मिलित हो सकें। इसलिए यह निश्चय करता है कि नीचे लिखे सदस्यों की योजना समिति बनाई जाए जो सम्मेलन का संविधान एवं स्थायी रूपरेखा तैयार कर सके। इसके लिए समिति को विभिन्न धर्मों के अधिकारी एवं धर्म गुरुओं से सम्पर्क स्थापित करने का अधिकार रहेगा। समिति अपनी योजना अगले अधिवेशन में प्रस्तुत करेगी। सदस्य निम्न हैं—श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री (संयोजक), स्वामी प्रेमानन्द जी, राजस्व मंत्री श्री सौभाग्यमल जी जैन, श्री लालचन्द जी सेठी, श्री सू. ना. व्यास, श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, श्री मगनभाई दोशी, श्री सुशीलकुमार जी तथा दो सदस्यों को कोआप्ट करने का अधिकार समिति को दिया गया।

दुर्बलता का पाप

–श्री विनोदराय जैन

—जैन साध्वी संघ की स्थिति पर एक दृष्टिपात और अच्छे संगठन की आवश्यकता तथा समाज की जलती हुई मनस्थितियों का यथार्थ चित्रण—

जीवन को महान साधना पथ पर अग्रसर करने वाला साधक कांटों का राही है। विघ्नों के विष-बुझे पाप भी उस सैनिक को समर विमुख नहीं कर सकते, बाधाओं की लोह शृंखलाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं, परिस्थितियों की विषमताएँ क्षुब्ध महासागर की उच्छ्वसित तरंगों की भांति बढ़ २ कर भी धैर्य की उस महाशिला से टकराकर वापिस लौट जाती हैं। साधना के अडिग चरणों को कंपित कर देने की क्षमता जनमत के क्षुब्ध झंझावात में भी नहीं है।

फिर भी साधक साधक ही है। मानवसुलभ दुर्बलता से बच निकलना उसके लिए असंभव नहीं तो अशक्य अवश्य है। जीवन जीवन है, जय पराजय एक ही सूत्र से बँधे रहते हैं। माना कि मानव परिस्थितियों का विधाता है दास नहीं पर बार बार की असफलताएँ रस में विष घोल देती हैं, साहसी वीर के धैर्य को विचलित कर देती हैं। पर उसके लिए बहुधा बाह्य परिस्थितियाँ ही दोषित ठहराई जाती हैं।

इस वाक्य की स्पष्ट ध्वनि यह हो सकती है कि श्रावकों का अविवेक साधुओं में शैथिल्य ला देता है, गृहस्थों की अन्ध श्रद्धा प्रेरित भक्ति ने कितने साधकों को साधना पथ से विलग कर दिया है। इतिहास का प्रेमी पाठक इस सत्य से अपरिचित न होगा।

फिर भी पतन के लिए गृहस्थ को पूर्णतः दोषी ठहराना सत्य का गला घोंटना होगा तो यह कथन भी शायद ही असत्य होगा कि पतन की प्रेरणा या शैथिल्य मंद भावना को उखाड़ देने के प्रसाधन श्रावकों की ओर से प्राप्त होते हैं; ७५ प्रतिशत साधु दोषी हैं तो २५ प्रतिशत के लिए श्रावक वर्ग भी इन्कार नहीं कर सकता।

मूर्ति पूजक वर्ग के संपर्क में आने वाले फलतः उससे प्रभावित होने वाले सौराष्ट्र के स्थानकवासी समाज में जब उकाले के (उबाले हुए) पानी के बहराने का रिवाज हो गया, उंगली को जला देने वाला पानी काष्ठ पात्रों की देह भस्म

करने लगा और रंग बारनिस को दो दिनों में बाष्प के साथ उड़ाने लगा तो वहां पानी को ठंडा करने के लिए परात का आगमन हुआ। स्वच्छता और चमक-दमक पर मोहित होने वाले समाज ने साबुन को आमंत्रण दिया। गृहस्थों की भक्ति ने बड़े २ शहरों में पूरे २ आरामदेह स्थानकों का निर्माण कराया। आत्म चिंतन में लीन श्रमण वर्ग को बाह्य प्रवृत्ति में घसीट लाने का श्रेय भी तो शायद शब्द माधुरी पर मुग्ध होने वाले गृहस्थों के अतिरिक्त किसे दिया जा सकता है। स्वाध्याय वाचन के दोपहर के सारे समय को बातों में बिता देने के लिए महिलाओं का विशाल झुंड ही साधुओं को बाध्य करता है। पर यह सब लिखने का ध्येय श्रावक वर्ग पर एकांगी प्रहार नहीं है। पर इतना तो सुनिश्चित है कि "कुछ मियाँ जी ढीले तो कुछ आटा गीला।"

सादड़ी सम्मेलन का डिम-डिम नाद अन्तर में क्रांति का महाघोष लिए हमारे सामने आया। जागरण के अरुणोदय ने हमारी स्वप्निल पलकों की निद्रा को दूर कर नव आशा का संदेश दिया। शासक मनोवृत्ति के प्रतीक समाज के नेताओं ने युग स्पर्श चेतना से अपने को स्पंदित पाया। युग के साथ कदम मिला कर चलने में उन्हें अपने शासकत्व की सुरक्षा दिखाई दी। नव जागरण के शीर्षासन ने क्रान्ति की गौरव गरिमा के साथ समाज के मंच पर पदार्पण किया। नव विधान, कार्य क्रम, नवीन योजनाएँ सामने आईं, समाज अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। एक आचार्य की योजना ने मूर्त रूप पाया। मंत्रियों के प्रांत विभाजन के साथ कार्य विभाजन भी हुआ। फूट और विद्वेष फैलाने वाले तत्वों के सामने यह सम्मेलन लाल बत्ती लेकर खड़ा हुआ, प्राणों में एकत्व का वायु बहने लगा। समाज की बिखरी कड़ियां संघ ऐक्य के महान सूत्र में आबद्ध हुईं।

ऊपर से दिखाई तो यह दे रहा है। भीतर भले ही संप्रदायों के एकीकरण के लिए मंत्रित्व का सेलूशन ही क्यों न काम में लाया गया हो। महान आदर्श के बीच आज भी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के वे ही तत्व पनप रहे हैं। पर मोह उतना ही तीव्र है। नामों में भले ही परिवर्तन आ गया हो।

पूज्य का स्थान मंत्री ने ले लिया है। योजनाओं व कार्यक्रमों की विस्तृत सूची पंचवर्षीय योजना की याद दिला देती है। नियमों की संख्या आज के टैक्सों की संख्या की दौड़ में है।

आज का फैला हुआ कार्य जाल बीहड़ वन हो गया है, जहां पर कि स्वल्प से कार्य के लिये कागजों के घोड़े दौड़ने लगते हैं। इसमें समाज को

लाभ हो या नहीं। पर पोस्ट आफिस का खजाना तो अवश्य भरता है। अधिकारी वर्ग की मनस्तुष्टि का यह उपहार समाज के सिर पर बोझ हो गया है। पृथक २ कार्य के लिए पृथक डिपार्टमेंट खुल गए हैं। क्या कहना असत्य होगा कि आज की साधु नीति राजनीति के पथ पर है।

आज के हमारे यहां के संघ को हाई कोर्ट की संज्ञा देना अनुचित न होगा। कानून बहस वकालत मामले की तहकीकात आदि बातों में वह एक दम भी पीछे नहीं है। उसके न्याय अन्याय की तराजू है बड़ों की कार्य परिणति अर्थात् बड़े जो कुछ करें वह सब विधेय है, पुण्य है, और छोटे करें वह सब अवैधानिक पाप है। हमारे कर्णधारों के अद्भुत दूरवीक्षण यंत्र (दुर्बीन) में छोटे साधुओं के छोटे पाप बड़े रूप में दिखाई देते हैं। और बड़ों के बड़े पाप लघुतर रूप में। कभी २ तो आंखों से ओझल भी हो आते हैं, या कर दिए जाते हैं। अपनी प्रतिष्ठा की दुग्ध धवलता को स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक भी है। दूसरी ओर दुर्बलता ही पाप है।

भेड़िया नदी में पानी पी रहा था, नीचे की ओर कुछ दूरी पर छोटा सा भेड़ का बच्चा भी पानी पी रहा था। बच्चे को देख भेड़िया के मुँह में पानी आ गया। उसे उदरस्थ कर जाने की योजना चलने लगी। पर आज के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के युग में बिना अपराध मढ़े खा जाना तो न्याय की हत्या होती। भेड़िया बोला—क्यों रे, पानी क्यों झूठा कर रहा है? बच्चा नम्रता पूर्वक बोला—आप तो ऊपर की ओर हैं। मैं तो उधर से आता हुआ आप का झूठा पानी पी रहा हूं। भेड़िया बोला—क्यों रे, तू ने एक साल पहले गाली क्यों दी थी?

बच्चा बोला—बापूजी! मेरी उम्र ही ६ महीने की है। तब भेड़िये ने कहा—अच्छा तो कल तेरी माता मुझे क्यों कोस रही थी? बच्चे ने कहा—साहब! मेरी माता को मरे दो मास व्यतीत हो चुके हैं।

अपनी युक्तियों पर पानी फिरते देख भेड़िया लाल आँखें कर बोला—क्यों रे, तू मेरी मुँहजोरी करता है। एक झपट मारी और उस नन्हें बच्चे को अपना ग्रास बना लिया।

छोटे का प्रत्युत्तर भी मुँहजोरी है, क्योंकि दुर्बलता का प्रत्येक कार्य पाप ही है। आज से नहीं सदियों से दुर्बल हड्डियों पर ही सिंहासन रचे गए हैं। दुर्बल कंधे बलवानों के वाहन बने हैं। आज का कानून ही ऐसा है जिसमें सजा उसको नहीं दी जाती जो अपराध करता है, बल्कि सजा तो उसे मिलती है

जो अपराध छिपाना नहीं जानता। समाज की जलती हुई मनिस्थितियाँ इस कथन की सत्यता स्वीकार करती हैं। हाँ, तो हमारे यहाँ संघ में साधुओं (छोटे) के लिए कानून का विस्तृत जाल बिछा दिया गया है। पर उस में हमें यह देखना है कि शासकत्व के पोषण के अतिरिक्त समाज के दलितों के हाहाकार के शमन के लिए कुछ प्रयत्न भी हो रहे हैं क्या? महासम्मेलनों का आयोजन होता है। प्रस्तावों की बाढ़ आती है। पर यह बाढ़ त्राण देने के लिए आई है या डगमगाती नैया को आकंठ डूबने के लिए एक धक्का और देती चली जाती है? भाग्य पीड़ित जनों के त्राण के लिए भरते हैं ये सम्मेलन।

नाम तो यही होता है। पर चमचमाते टुकड़ों के महाघोष में क्षीण कंठ की करुण स्वर लहरी को पहुँचने की क्षमता ही कहाँ? मूक वेदना का मुखरित गान उनके सुदीर्घ कर्णों का प्रवेश द्वार भी कैसे पा सकता है?

समाज के निखिल उत्थान पतन को एक क्षण में नाप जाने वाले कर्णधारों से मैं पूछता हूँ कि दुःख-जर्जर मुख की उन क्षीण रेखाओं में विषाद के कौन से अक्षर अंकित हैं? गड्ढों में धँसी चंचल आँखें विषाद के कौन से सूत्र पिरो रही हैं। हमारे सूत्रधारों के सुदीर्घ लोचन उसे जानने का प्रयास ही क्यों करेंगे? वृद्धा आर्या हाथों में सूत की माला फेर रही है, आँखों में मोतियों की। उस व्यथा-स्नात मन की कसक सुनने के लिए कभी दो मिनिट भी मिले क्या? क्या किसी छोटे गाँव में बैठी अकेली साध्वी धीरे धीरे डग भरती हुई बाहर निकल रही है। उसके लड़खड़ाते कदमों में कौन सी वेदना कसक रही है? सूत्रधारों की सुतीक्ष्ण दृष्टि यशोलिप्सा और पदमोह की चकाचौंध को भेद कर ग्रामों में रही इन जर्जर देहों पर भी पड़ सकेगी? अपने-अपने बोर्डिगों, गुरुकुलों, मंडलों और समितियों में प्रतिवर्ष हजारों की थैलियाँ जिनके एक भ्रू-भंग पर पहुँच जाती है क्या कभी उन थैलियों के टुकड़े इनकी औषधि के लिए भी काम आ सकेंगे? इनकी शिक्षा के लिए भी कभी विचार होगा? साध्वी वर्ग को विदुषी बनाने का अर्थ है, स्त्री समाज की स्थिति सुधारना।

करुणा के अजस्र स्रोत भगवान महावीर ने तपःपूत मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधकों के वार्धक्य की विश्राम भूमि स्थविरवास की योजना बना दी थी, जो आज भी चली आ रही है। पर वह योजना आज ढांचा मात्र रह गई है। उसके प्राण तत्व कभी के नष्ट हो चुके हैं। वह योजना बड़े २ मुनिराजों के लिए उसी रूप में जीवित हैं। पर आर्यिकाएँ जिनके पास कोमल कंठ से

कलित मधुर व्याख्यान नहीं है उनके लिए वृद्धावस्था अभिशाप बन चुकी है।

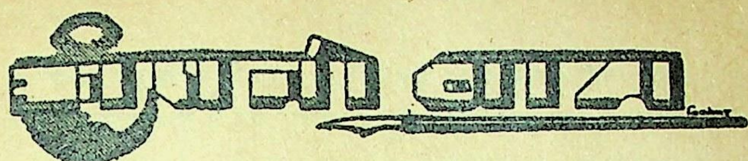
समाज की उपेक्षा व तिरस्कार सह कर भी वे उसी गांव में रहने को बाध्य होती हैं, जहां पर कि उन्हें औषधियों के स्थान पर वेदनीय कर्म की दुहाई मिलती है, और वस्त्र के लिए साधु धर्म की दस शिक्षाएँ। माना कि उसके लिए बहुधा साध्वी जी की तेज प्रकृति और जीभ की अनियंत्रिता भी आभारी है, फिर भी बकरे और कबूतरों की रक्षा करने वाले समाज के पास इन त्याग की प्रतिमाओं के लिए दो बूंद भी स्नेह के नहीं मिल सकेंगे ?

हां तो मैं समाज के कर्णधारों का ध्यान इस बात पर केन्द्रित करना चाहूंगा कि समाज की दुःख विगलित मूर्तियों की समस्या को समझें। छोटे २ गांवों में स्थित साध्वियों को एक बड़े शहर में एकत्रित कर उनको औषधि वस्त्र आदि समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं को उनके लिए सुलभ बना दें। सुयोग्य सेवाभावी आर्यिकाओं को रख कर शेष व्याख्यानी महासतियों को वहां से मुक्त कर अपनी प्रतिभा का आलोक बिखेरने के लिए अवसर प्रदान करें। साथ ही हमारे महासंघ के न्यायालय में उनकी प्रत्येक पुकार की पहुंच हो।

एक बात और। साधुओं के लिए तो दंड विधान बन चुका है। पर क्या उन गृहस्थों को लिए भी न्याय विधान बनेगा, जो कि दुर्बलता को आश्रय बनाकर अपने मान की वृद्धि चाहते हैं। अर्थात आए दिन हमेशा जो अपना ज्ञान का ढिंढोरा पीटने के लिए छोटे-बड़े साधु-साध्वियों को नाना विध प्रश्न पूछ कर लज्जित करने में नहीं चूकते हैं। अथवा अपनी स्वार्थ साधना के लिए साधुवर्ग को बदनाम करने में भी नहीं हिचकिचाते हैं। क्या उनके लिए कानून की पुस्तक में एक शब्द भी नहीं हैं ?

क्या आशा की जाए कि यह सब निकट भविष्य में मूर्त रूप लेकर दुर्बलों के आँसू पोंछेगा ? हमें इसका सक्रिय रूप अपेक्षित है, अन्यथा विधान व पुस्तकें सब ही धरे रह जाएंगे। प्रस्ताव केवल कागज रंग कर चप हो जाएंगे। उनसे फाइलों की शोभा बढ़ सकती है। जीवन की समस्याएँ हल न हो सकेंगी।

समाज के नेताओं के हृदय स्पंदन के वगैर योजनाएं वह पार्ट अदा न कर सकेंगी जो जीवन निर्माण के लिए अपेक्षित हैं। हमें जीवन की धड़कन चाहिए। हिलते-डुलते प्राणियों की समस्याएं सुलझाना हैं। हमारे सूत्रधार कल्पना के मनोरम लोक से उतर कर यथार्थ ठोस भूमि पर आएँ, यहां की समस्या को समझें। तभी समाज और धर्म की नैया ठीक ठिकाने लग सकेगी।



बाल दीक्षा और उसका प्रतिबन्धक बिल

इन दिनों जैन समाज और जैन पत्र-पत्रिकाओं में इस बात की बड़ी चर्चा है कि छोटी उम्र के बालक-बालिकाओं को दीक्षा दी जाय या नहीं। थोड़े दिन हुए कलकत्ता में एक सभा हुई थी, जिसमें वाद-विवाद इतना बढ़ा कि लोग मारपीट तक पर उतारू हो गए थे। कुछ लोगों को चोटें भी आईं। यह सब हुआ धर्म के नाम पर। ये बातें जैन धर्म की अहिंसा को लजाने वाली हैं। बात यह थी कि बम्बई की राज्य विधान सभा में वकील श्री प्रभुदास भाई ने बालदीक्षा प्रतिबन्धक बिल उपस्थित किया था। सरकार इस बिल के पक्ष-विपक्ष में लोगों के विचार जानना चाहती थी। इसीलिए यह बिल १२ जनवरी १९५६ तक रोक दिया गया था। जहाँतक हमें मालूम है इस बिल के संबन्ध में सबसे अधिक चर्चा श्वेताम्बर जैन समाज में है। दिगम्बर समाज पर इस बिल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उसमें बालदीक्षा के लिए गुंजाइश ही नहीं। उसके दिगम्बर मुनियों का आचार-विचार इतना कठिन है कि छोटी उम्र के किसी बालक को दीक्षा देने या लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां तो मुनि बनने से पहले वर्षों तक ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदि के रूप में साधना करनी पड़ती है। तब कहीं कोई मुनि बनने का साहस कर सकता है। श्वेताम्बर समाज में भी जब तक साधु-आचार की कठोरता थी, बालदीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता था। बहुत कम माई के लाल इस मैदान में उतरते थे। साधुवृत्ति ज्यों ज्यों सरल व शिथिल होती जाती है, उसमें कई तरह के आकर्षण बढ़ते जाते हैं, फलतः बालदीक्षा की समस्या समाज के सामने आ रही है। साधुसमाज में दशवैकालिक का 'एगभत्तं च भोअणं' अर्थात् चौबीस घंटों में एक बार भोजन का नियम भी चालू रहता, तो भी बालदीक्षा का प्रश्न नहीं उठता। छोटे बच्चों के लिए अच्छे से अच्छा खाना और पहनना ही तो सबसे बड़ा आकर्षण होता है। दोनों बातें आज के साधुसमाज में मिलती हैं। इसीलिए बालदीक्षाएँ भी होने लगी हैं। थोड़े में कह सकते हैं कि साधु-आचार की शिथिलता के साथ ही बालदीक्षा का संबन्ध है। साधु-आचार जितना कठोर होगा, बालदीक्षा चल ही नहीं सकती। कुछ ही समय पहले जब श्वेताम्बर समाज में साधु-आचार कठोर था, बालदीक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं था। दिगम्बर समाज की तरह

दीक्षाएँ प्रायः बड़ी उम्र में ही होती थीं। आगमों में या बाद में जो कहीं कहीं बालदीक्षा के उदाहरण मिलते हैं, वे अपवाद रूप में ही समझने चाहिए।

आजकल जैन समाज में बालदीक्षा के समर्थक मुख्य रूप से दो आचार्य हैं। एक तो तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी गणी जी और दूसरे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के श्री विजय रामचन्द्र सूरि जी। इन दोनों के पास छोटे छोटे बच्चे साधु बने हुए मिलेंगे। बालदीक्षा में एक रहस्य यह भी है कि जो साधु-साध्वी जितने ही महत्वाकांक्षी होंगे, वे अधिक से अधिक दीक्षा देने के पक्ष में मिलेंगे। जैन समाज की नाड़ी या कमजोरी को वे खूब जानते हैं कि शिष्यों की जितनी अधिक संख्या होगी उतनी ही प्रतिष्ठा ज्यादा मिलती हैं। हम देखते हैं कि अकेले दुकेले अच्छे से अच्छे विद्वान साधु की जैन समाज उतनी परवा नहीं करता, जितनी कि अधिक परिवार वाले साधु या आचार्य की। जो साधु इस रहस्य को समझते हैं, वे दीक्षा देने दिलाने में योग्य-अयोग्य का भी विशेष ध्यान नहीं रखते। उन्हें तो शिष्य संख्या के बढ़ाने से प्रयोजन है। कुछ तो पहले से ही यह प्रतिज्ञा सी कर लेते हैं कि कम से कम सौ शिष्य बनाऊंगा। यह ऐसा ही है, जैसे कि गृहस्थ लोग धन को महत्व देते हैं। एक गृहस्थ धन का महत्व खूब समझता है। इसी तरह महत्वाकांक्षी साधु भी शिष्य-संख्या के महत्व को पहचानता है।

हम यह भी देखते हैं कि जब कभी बालदीक्षा के विरोध में कोई बिल सरकार या किसी व्यक्ति की ओर से आता है, तो तेरापंथ समाज में सबसे ज्यादा बेचैनी फैलती है। श्वेताम्बर जैन समाज के स्थानकवासी एवं मूर्तिपूजक संप्रदायों में भी कुछ साधु पक्ष-विपक्ष में मिलते हैं। फिर भी उनका विरोध तेरापंथ समाज की तरह इतना कड़ा नहीं होता, सिवाय श्री विजय-रामचन्द्र सूरि जी जैसे दो चार साधुओं को छोड़कर। इन बातों का सीधा सा अर्थ है कि जैन समाज में बालदीक्षा का प्रचार है। यह मानना होगा। बालदीक्षा उचित है या अनुचित वह बात दूसरी है।

स्थानकवासी समाज में दोनों विचारों के साधु मिलते हैं। कुछ तो बालदीक्षा के पक्ष में हैं और कुछ इसे अच्छा नहीं समझते। अभी अभी १५ जनवरी के जैन प्रकाश के मुख पृष्ठ पर श्रमण संघ के प्रधान मंत्री पं० रत्न श्री आनन्द ऋषि जी का अभिप्राय छपा है। जिसमें उक्त बालदीक्षा प्रतिबन्धक बिल का साधुभाषा में विरोध प्रकट किया गया है। और साथ में यह भी कहा गया है कि "यदि कोई बालक-बालिकाओं को बहका कर, भगाकर

या अन्य किसी अनुचित तरीके से अथवा बिना संरक्षक की आज्ञा के दीक्षा देता है तो हम उसके विरोधी हैं।" इस विरोध का इतना ही अर्थ है कि दीक्षार्थी के लिए १८, १९ वर्ष की अवस्था का कानूनी बन्धन नहीं होना चाहिए। हम देखते हैं कि स्थानकवासी समाज में यह परंपरा चालू है कि १५-१६ साल से कम के बच्चों को दीक्षा प्रायः नहीं दी जाती। १०-११ साल की अवस्था का दीक्षित बालक देखने में नहीं आया। यदि कोई साधु छोटी अवस्था के किसी बच्चे को दीक्षा देने का प्रयत्न करता है, तो समाज का विरोध खड़ा हो जाता है। इसलिए साधु साहस भी नहीं करते। स्थानकवासी कान्फरेंस के मद्रास अधिवेशन में तो यह प्रस्ताव भी पास हुआ था कि—"यह कान्फरेंस हमारे पूज्य मुनिवरों एवं महासतियों से सविनय प्रार्थना करती है कि वे देश काल एवं समय की गति-विधि का ध्यान रखते हुए राजकीय कानून हो इसके पूर्व ही १८ वर्ष से कम किसी को भी बालदीक्षा न देने का निश्चय करके देश के सामने आदर्श उपस्थित करें।"

यही कारण है स्थानकवासी समाज की ओर से बालदीक्षा प्रतिबन्धक बिल का विरोध नहीं के बराबर है। परन्तु तेरापंथ समाज की ओर से बहुत कड़ा विरोध चल रहा है। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की पत्रिका 'जैन भारती' ने तो बालदीक्षा विशेषांक निकाल कर इस बिल का प्रबल विरोध किया है। पहले भी जब कभी बालदीक्षा विरोधी बिल कहीं आया, तो तेरापंथ समाज की ओर से घोर विरोध किया गया। थोड़े वर्ष पहले भीनासर निवासी सेठ चम्पालाल जी बाँठिया—जो कि वर्तमान में अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी कान्फरेंस के प्रमुख हैं—इस बिल को बीकानेर की विधान सभा में लाए थे। राजस्थान में तेरापंथ समाज का सक्रिय प्रभाव होने से उक्त सभा में यह बिल पास नहीं हो सका था। अब फिर यह बम्बई राज्य विधान सभा में आया है। इस समय भी उक्त समाज की ओर से घोर विरोध खड़ा किया गया है। उक्त जैन भारती पत्रिका के बालदीक्षा विशेषांक के देखने से मालूम होता है कि आचार्य तुलसी गणी और उनके भक्त जन इस विरोध में बहुत ही सक्रिय हैं। आचार्य तुलसी गणी जी भले ही आदर्श और सुधार की बातें करें, पर उनका असली अभिप्राय बालदीक्षा के समर्थन का रहता है। यह इसीलिए कि वे १८-१९ साल से कम उम्र के बच्चों को दीक्षाएँ देते हैं। कई बार १०-११ साल तक के बच्चों को भी दीक्षा देते हुए नहीं झिझकते। इसके समर्थन में वे स्वयं अपना ही उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि—"विक्रम संवत् १९८२ से लेकर आजतक

मेरा जो अनुभव है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि योग्य बालदीक्षा में कोई बुराई नहीं है। बालदीक्षित साधुओं ने संस्था और समाज का नैतिक धरातल जितना ऊँचा किया है उतना वयस्क दीक्षितों ने संभवतः नहीं किया है। बालजीवन में जितने अच्छे संस्कार बनते हैं उतने अवस्था पकने पर नहीं बनते। मैं औरों को क्यों देखूं, स्वयं को ही देखूँगा। यदि मैं ११ वर्ष की अवस्था में पूज्यपाद कालूगणी के चरण कमलों में न आता, ११ वर्ष तक उनकी सेवा न कर पाता तो संभवतः आज जन-कल्याण में मैं इतना योग-दान नहीं दे सकता"। और भी देखिए—"मैं आप को अपनी स्थिति बतलाऊँ। तेरापंथ शासन में यहाँ ९ आचार्यों में से ८ आचार्य बालदीक्षित हुए।

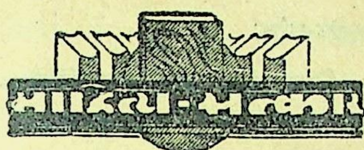
—जैन भारती, बालदीक्षा विशेषांक पृ० २–३

ऊपर के इन उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि तेरापंथ समाज में छोटी ही अवस्था के बालक-बालिकाओं को दीक्षित करना अच्छा समझा जाता है। स्वयं आचार्य तुलसी गणी ११ वर्ष की अवस्था में और उनके पूर्ववर्ती आचार्य प्रायः बालदीक्षित थे। इसके समर्थन में कहा जाता है कि—"जैन-सिद्धान्तानुसार आठ वर्ष के बच्चों को दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त है।"

—जैन भारती का उक्त अंक, पृ० २, कालम १. पंक्ति ४.

स्थिति यह है कि जैन आगमों में एक-आध बालदीक्षित का उदाहरण मिल जाने से अथवा सुप्रसिद्ध हेमचन्द्र आदि एक-आध आचार्य बालदीक्षित थे, इसलिए सबके लिए बालदीक्षा को राजमार्ग मान लेना बड़ी भूल होगी। सामान्य समझ की बात यह है कि दीक्षा लेने वाले को अपनी जिम्मेवारी का पूरा भान होना चाहिए। उसे यह समझ होनी चाहिए कि मुझे कठोर साधुवृत्तिको जीवनपर्यन्त निभाना है, किसी तरह की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, किसी की छोटी से छोटी वस्तु बिना दिए नहीं लेना, पूर्ण ब्रह्मचारी रहना और किसी चीज का संग्रह नहीं करना होगा। जो लोग जैन दीक्षा के महत्व को समझते हैं, कभी नहीं कह सकते कि एक १०-११ सालका बालक उक्त इतनी बड़ी जिम्मेवारी को समझ-बूझ कर उठाने के लिए तैयार होगा। जन्म-जन्मान्तर के प्रबल संस्कारों के कारण एक-आध अपवाद मिल जाय तो बात दूसरी है। इस अपवाद में भी सारी जिम्मेवारी तो गुरु पर ही रहती है। गुरु ही जाँचता है कि यह बालक कैसा है। स्वयं बालक भी संभवतः अपने बारे में इतना दावा नहीं कर सकता। इसलिए बालदीक्षा के समर्थकों का मार्ग खतरे से खाली नहीं है। उन पर

[शेष पृष्ठ ४० पर]



जैन दर्शन

लेखक—प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य

प्रकाशक—गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी,

मूल्य ७) रुपया, पृष्ठ सं. ६५१.

प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय के बौद्ध-दर्शनाध्यापक पं० महेन्द्रकुमार जी की कृति है। इसमें विद्वान् लेखक ने जैन दर्शन से संबन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का शास्त्रीय शैली से विचार किया है। दर्शन की भूमिका के रूप में प्रारम्भ में कुछ परम्परागत तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग पर कुछ साम्प्रदायिक मतभेद वाली बातों का समावेश होना भी स्वाभाविक ही है। विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है अतः प्रस्तुत ग्रंथ केवल जैन दर्शन के मूल सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है अपितु अन्य भारतीय दर्शनों के सामान्य ज्ञान के लिए भी इसकी उपयोगिता स्वीकृत की जा सकती है। प्रारम्भ के तीन प्रकारण भूमिका के रूप में है जिनमें जैन परम्परा के इतिहास का विचार करते हुए भारत की मूल विचार धाराओं का विवेचन किया गया है तथा भारतीय दर्शन को जैन दशन की क्या देन है, इस पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम प्रकरण तत्त्वविवेचन से सम्बन्ध रखते हैं। अष्टम, नवम और दशम प्रकरण में ज्ञान-वाद और प्रमाण शास्त्र का विविध दृष्टिओं से व्याख्यान किया गया है। इनमें से अष्टम प्रकरण प्रमाणमीमांसा पर है जिसमें लेखक ने अपने न्यायशास्त्र के ज्ञान का पूर्ण उपयोग किया है। ग्यारहवाँ प्रकरण केवल छः पृष्ठ का है जिसमें लेखक ने जैनदर्शन से विश्वशान्ति की संभावना का जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। अन्तिम प्रकरण में जैन दार्शनिक ग्रंथों की सूची दी गई है जिसे लेखक ने संकलित की है। यह सूची और विस्तार से दी जाती तो जैन दार्शनिक साहित्य का ज्ञान करने में विशेष सहायता मिल सकती। प्रकाशकों के नामों का उल्लेख भी आवश्यक था। ग्रंथ अभिनंदनीय है।

—मोहन लाल मेहता

'कल्याण' का सत्कथा-अंक

कथा संख्या ८७३, चित्र संख्या १३३, पृष्ठ संख्या ७०४, मूल्य ७॥) रु०।
मिलने का पता—व्यवस्थापक, कल्याण, पो० गीता प्रेस (गोरखपुर)

इस वर्ष जनवरी मास के 'कल्याण' का 'सत्कथा-अंक' के नाम से बृहत् विशेषांक निकला है। कथाएँ छोटी-छोटी जीवन एवं हृदय-स्पर्शी हैं। संकलन बड़ा सुन्दर हुआ है। भाषा और भाव दोनों सरस-सरल हैं। बहुत-सी कथाएं सच्ची घटनाओं और इतिहास को लेकर हैं, जिनसे मानव हृदय को विशेष प्रेरणा मिलती है। कई कथाएँ जीवन को बदल देने का प्रभाव रखती हैं। महिलाओं और बच्चों के लिए तो बहुत ही मनोरंजक एवं उपयोगी हैं। कई कथाओं के चित्र भी दिये हैं, जिससे कथा का भाव हृदय पर अंकित होने में बड़ी सहायता मिलती है। चित्र कई-रंगे और सादे हैं। पर हैं मनोहर और साफ-सुथरे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी साहित्य में मासिक 'कल्याण' का कितना बड़ा स्थान है। इसके पाठकों की संख्या भी बहुत बड़ी है। इसके विशेषांकों की प्रतीक्षा तो लोग दूज के चाँद की तरह करते रहते हैं। फिर भी कल्याण का प्रचार जितना अधिक बढ़ेगा, मानवीय सद्भावों को प्रेरणा मिलेगी। छपाई-सफाई आदि में भी गीता प्रेस का अपना विशिष्ट स्थान है।

—कृष्णचन्द्राचार्य

[पृष्ठ ३८ से आगे]

धर्म, समाज और राष्ट्र का बहुत बड़ा दायित्व आता है। भला एक १०-११ साल का बालक साधु जीवन की जिम्मेवारियों को कैसे समझ सकता है और वह भी जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त के लिए।

हम समझते हैं बालदीक्षा प्रतिबन्धक बिल का अभिप्राय इतना ही है कि छोटी अवस्था में बालक-बालिकाओं को दीक्षित न किया जाए। साधु लोग पहले अच्छी तरह पढ़ा-लिखा कर अच्छा विद्वान बन जाने पर दीक्षित करें तो इसमें कानून बाधक नहीं हो सकता। ऐसा करने से विद्या संबन्धी साधु समाज का स्तर भी ऊँचा होगा, और दीक्षित होने से पहले कई साल तक साधक-अवस्था में रहने से सच्चे साधुभाव की वृद्धि भी होगी। अतः जैन समाज को ऐसे बिलों का हृदय से समर्थन करना चाहिए। —कृष्णचन्द्राचार्य

जैन साहित्य का इतिहास

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम द्वारा संचालित जैन साहित्य निर्माण योजना के अन्तर्गत सर्व प्रथम जैन साहित्य का सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास प्रकाशित किया जाएगा। इस इतिहास को तैयार करवाने के लिए लगभग दो वर्ष से अनवरत परिश्रम एवं प्रयत्न किया जा रहा है। बीच-बीच में कुछ लेखकों ने अपनी शारीरिक अस्वस्थता आदि के कारण इस कार्य में सहयोग देने की असमर्थता प्रकट की। ऐसी स्थिति में योजना-समिति को उनका कार्य भार अन्य विद्वानों को सौंपना पड़ा। इस प्रकार की अनेक कठिनाइयों के सामने रहते हुए भी समिति ने अपनी पूरी शक्ति से इस कार्य को पूर्ण करने का संकल्प किया है। वह इस कार्य को सब प्रकार के विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करके आगामी छः मास में अपने सहयोगी लेखकों की सहायता से पूरा करने के लिए कृतसंकल्प है। समिति का यह विचार है कि ग्रन्थ के चार भागों में से प्रथम भाग अर्थात् आगमिक साहित्य की सामग्री को सबसे पहले पूर्ण करा लिया जाए। जैसे ही यह भाग तैयार हो, उसके मुद्रण का प्रबन्ध किया जाए। इस तरह से कम से कम समय में योजना की पूर्ति की सम्भावना सिद्ध हो सकेगी। इस योजना की पूर्ति से जैन समाज का अभूतपूर्व उपकार होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे जैन संस्कृति का विशाल साहित्य संसार की दृष्टि में आ सकेगा और अनुसन्धान के क्षेत्र में बड़ी सहायता पहुंचेगी।

यह कार्य इतना विशाल है कि इस एक ही ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिए ४०-५० हजार रुपये की आवश्यकता होगी। जिसके लिए समग्र जैन समाज के सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। आशा है इस कार्य में विद्वज्जन अपनी विद्या द्वारा और धनिक बन्धु धन द्वारा सहयोग देकर हमारी हर तरह से सहायता करेंगे।

इस संबन्ध में सब प्रकार का पत्र-व्यवहार कृपया निम्न पते पर करें—

दलसुख मालवणिया
मन्त्री, जैन साहित्य निर्माण योजना समिति
जैनाश्रम,
हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस की

स्वर्ण-जयन्ती

परम हर्ष के साथ निवेदन है कि श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी की ८२वीं जन्म-जयन्ती तथा स्याद्वाद महाविद्यालय की स्वर्ण जयन्ती माघ की अमावस्या शनिवार तथा शुक्ला प्रतिपदा रविवार (११-१२ फरवरी '५६) को श्रीसम्मेदशिखर (मधुवन) में मनानेका निश्चय हुआ है। उत्सव का प्रारम्भ माघ कृष्ण १४ शुक्रवार (१०-२-५६) को पुरुदेव श्री १००८ ऋषभदेव की जयन्ती से होगा।

अपनी सरलता, उदारता, शिक्षा एवं साहित्य प्रेम तथा वदान्यता के लिए विश्रुत भारत के प्रमुख उद्योगपति साहु शान्ति प्रसादजी उत्सवों के सभापति पद को सुशोभित करेंगे।

शिखरजी का जलवायु इस समय अत्यन्त अनुकूल होने से सरल यात्राका सुयोग, मुनिदर्शन, वर्णीजी के प्रवचन, रथयात्रा, त्यागी-समागम तथा विद्वानों के भाषण आदि अनेक शुभ संयोग एक ही साथ सुलभ होंगे।

अतएव आपसे साग्रह प्रार्थना है कि हजार काम छोड़कर इस समय शिखर जी अवश्य पधारें तथा इन धार्मिक आयोजनों को सफल बनाएँ।

निवेदक—

सरूपचन्द्र हुकुमचन्द्र (सभापति)

सुमतिलाल जैन (मंत्री)

छोटेलाल जैन (स्वागत मंत्री)

गजराज गंगवाल (स्वागताध्यक्ष)

पं० कृष्णचन्द्राचार्य अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस-५ में प्रकाशित, तथा रामकृष्णदास, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस में मुद्रित।





श्रमण

वर्ष	सम्पादक	अंक
७	पं० कृष्णचन्द्राचार्य महेन्द्र राजा एम.ए.	५



पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में—

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस का

वार्षिकोत्सव

ता० २५ मार्च सन् १९५६ रविवार को सम्भवतः डॉ० हीरालाल जैन, डाइरेक्टर वैशाली ज्ञानपीठ, पटना की अध्यक्षता में उत्साह से मनाया जाएगा। इस उत्सव में पंजाब के कई प्रतिष्ठित सज्जन व कार्यकर्ता भी सम्मिलित होंगे। हिन्दू विश्वविद्यालय के विशिष्ट विद्वान तथा विद्यार्थी भी उपस्थित रहेंगे। विद्याप्रेमियों से निवेदन है कि उपस्थित होकर अपने विद्याप्रेम का परिचय अवश्य देने की कृपा करें। कार्यक्रम आदि बाद में छपेगा।

आपका दर्शनाभिलाषी

कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम,
हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५.

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ मार्च १९५६ अंक ५

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङमय का स्वाध्याय—

—११—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी ॥

—११—

सुन करके यह नमि का उत्तर
युक्ति तर्क से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ॥

—१२—

एस अग्गी य वाऊ य
एयं डज्झइ मन्दिरं ।
भयवं अंतेउरं तेणं
कीस णं नावपेक्खह ॥

—१२—

वायु-प्रेरित अग्नि-ज्वाला
जला रही है तव प्रिय मन्दिर ।
अन्तःपुर के सन्मुख भगवन् !
क्यों न देखते आप ऋषीश्वर ॥

—१३—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी ॥

—१३—

सुन करके इस इन्द्र-प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ॥

—१४—

सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचणं ॥

—१४—

सुख से करता जीवन यापन
यहाँ नहीं है मेरा किंचन ।
मिथिला के जल जाने पर भी
मेरा तो नहीं जलता किंचन ॥

—१५—

चत्तपुत्त-कलत्तस्स,
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जई ॥

—१५—

सुत-दारा से और जगत के
व्यापारों से सदा दूरतर।
जो हैं भिक्षुक कहीं न उनके
अप्रिय कोई और न प्रियतर ॥

—१६—

बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगंत-मणुपस्सओ ॥

—१६—

अनगार जो भिक्षुक है जग-
जंजालों से सदा विमोचित ।
आत्म-भावरत उस मुनिवर को
सभी ओर से सुख है निश्चित ॥

—१७—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्ववी ॥

—१७—

सुन करके यह नमि का उत्तर
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ॥

—१८—

पागारं कारइत्ताणं
गोपुरऽट्टालगाणि य ।
उस्सूलग-सयग्घीओ
तओ गच्छसि खत्तिया ॥

—१८—

गोपुर साल और अट्टालक
परिखा महाशतघ्नी भीषण ।
निर्मित करके क्षत्रिय-पुंगव !
फिर तुम करना मुनिव्रत धारण ॥

—१९—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्ववी ॥

—१९—

सुन करके इस इन्द्र-प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ॥

—२०—

सद्धं नगरं किच्चा
तव-संवर-मग्गलं ।
खंतिं निउण-पागारं
तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥

[उत्तरा., अध्य. ९, गा. ११-२०]

—२०—

श्रद्धा रूपी नगर बना कर
क्षमता का प्राकार मनोहर ।
संयम की रख कपाट-अर्गला
गुप्ति-त्रय को विजय शस्त्र कर ॥

क्रमशः—

—अनु० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

जैन समाज के लिए नई दिशा

ता० ११ फरवरी १९५६ के दिन सम्मेदशिखर जी की तलहटी मधुवन में क्षुल्लक श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी की ८२ वीं जन्म-जयन्ती और स्याद्वाद विद्यालय काशी की स्वर्ण जयन्ती की अध्यक्षता साहू शान्ति प्रसाद जी जैन ने की थी। इस अवसर पर आपने जो अपना महत्व का भाषण पढ़ा था, उसका प्रमुख अंश नीचे दिया जाता है। पाठक देखेंगे कि साहू जी ने इसमें जैन समाज के लिए सांस्कृतिक दृष्टि से कितना अनूठा पथ-प्रदर्शन किया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में नई चेतना का उदय हुआ है। देश का जो नया विधान बना है उसमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और नैतिक मूल्यों के संबन्ध में कुछ आधारभूत सिद्धांत माने गए हैं। ये सिद्धान्त शासन की नीति में अपनाए जा रहे हैं और हमारे जीवन को नित्य नई दिशाएँ दे रहे हैं। समाज का ढाँचा तेजी से बदल रहा है। आर्थिक क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण उलट-फेर हो रहा है। बड़ी-बड़ी रियासतों, जागीरों और जमींदारियों के आधार पर टिकी अर्थ-व्यवस्था समाप्तप्राय है। औद्योगिक विकास का युग जोर पकड़ रहा है। राज्य की धार्मिक नीति निष्पक्ष और निरपेक्ष घोषित की गई है। यद्यपि राज्य की ओर से किसी धर्म-विशेष की शिक्षा या प्रचार की नीति नहीं अपनाई गई है फिर भी देश की सामूहिक संस्कृति, दर्शन और धर्म के प्रति विशेष रुचि सब ओर जग रही है। भारतीय संस्कृति के आधार-भूत सिद्धान्तों की प्रेरणाओं और स्रोतों को परखा जा रहा है। धर्म को जीवन के मूल्य पर तोला जा रहा है। यह वातावरण सचमुच ही जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के अनुकूल है। विदेशों में भी जैनधर्म के प्रति नई जिज्ञासा प्रकट हो रही है। किन्तु हमारे पास इस अवसर के उपयुक्त उचित रूप और शैली में प्रकाशित पर्याप्त साहित्य नहीं है और न ऐसे विद्वानों का बाहुल्य है जो आज की माँग को पूरा कर सके। इस दिशा में जो नए प्रयत्न जहाँ-जहाँ भी प्रारम्भ हुए हैं उन्हें प्रोत्साहित करना हम सबका कर्तव्य है।

विश्वविद्यालय में दर्शन की ऊँची डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र जैन दर्शन को स्वतन्त्र विषय के रूप में कहीं-कहीं ले सकते हैं; यह क्षेत्र बढ़ाया भी जा सकता है किन्तु जैन विद्या के अन्य अंगों का स्वतन्त्र अध्ययन सामान्य स्कूल, कालेजों और विश्वविद्यालयों में आज सीधे रूप में संभव नहीं। इसके लिए हमें ऐसे विद्वानों की आवश्यकता है जो कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाने की

योग्यता प्राप्त किये हुए हों, अर्थात् विभिन्न विषयों में एम० ए०, पी-एच० डी० अथवा डी० लिट्० हों और जिन्होंने अपने विषय का इस दृष्टि से भी अध्ययन किया हुआ हो कि जैन विद्या की देन इस विषय में क्या है।

साहित्य का शिक्षक जब कालेज या विश्वविद्यालय में साहित्य पढ़ाए तो वह बता सके कि संस्कृत, प्राकृत, मागधी, अपभ्रंश या हिन्दी में जैन लेखकों की क्या देन है; व्याकरण, छन्द, अलंकार, नाटक, गद्य, कविता आदि के क्षेत्र में किन रचनाओं ने साहित्य को प्रभावित किया और शैली के निर्माण में जैन लेखकों ने क्या योगदान दिया। इतिहास का शिक्षक न केवल जैन राजाओं, मन्त्रियों और योद्धाओं के जीवनवृत्त और कार्यकलापों से परिचित हो, किन्तु संस्कृति का उसे इतना समुचित ज्ञान हो कि वह भारत के चारों कोनों में और भारत से बाहर फैलने वाले जैन सस्कृति के प्रभाव का, आदान-प्रदान के रूप को और क्रिया-प्रतिक्रिया के सूत्रों को सुलझाकर विद्यार्थियों के सामने रख सके। इसी प्रकार जैन कला, जैन शिल्प, जैन तक्षण और स्थापत्य के विषय का भी ज्ञान प्राप्त किया हुआ विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में कला का शिक्षक बने; यह हमारा प्रयत्न हो। ऐसे शिक्षकों की भावना पक्षपात की तो न हो किन्तु यह अवश्य हो कि जैन-विद्या की देन को उचित स्थान मिले और उपेक्षा या अज्ञान के कारण हमारे देश की ज्ञानराशि अनमोल रत्नों से वंचित न रह जाए।

मेरी भावना है कि हमारा स्याद्वाद महाविद्यालय अपने विकास की दिशा का विस्तार इस ओर करे। विद्यालय यदि उक्त प्रकार के शिक्षक उत्पन्न करेगा तो वह जैन धर्म और जैन संस्कृति की समयानुकूल सेवा तो करेगा ही, स्नातकों को भी जीविका के लिए भटकना नहीं पड़ेगा और न उन्हें अपने रहन-सहन के स्तर को लाचारी से नीचा रखना पड़ेगा। ऐसे स्नातकों को यदि विश्वविद्यालयों में तत्काल स्थान न भी मिला तब भी वे उच्चकोटि के लेखक के रूप में बहुमूल्य साहित्य प्रस्तुत कर सकेंगे जिस साहित्य की माँग देश में भी होगी और विदेशों में भी। विद्यालय ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है जिसका परिणाम संतोषजनक हुआ है।

इधर पिछले कई वर्षों से समाज में कई स्थानों पर जैन हाईस्कूल और कालेज खोले गए हैं। प्रगति की यह दिशा भी अच्छी है। ऐसे स्कूल कालेजों में प्रायः सीधे रूप से जैन धर्म की शिक्षा दी जा सकती है और संस्कृति के अनुकूल वातावरण बनाया जा सकता है। अध्यापकों की नियुक्ति में सामान्य तौर पर यह दृष्टि रखी जा सकती है कि ये अध्यापक संस्कृति के

संबन्ध में उदार दृष्टिकोण रखते हों और जैन संस्कृति के योगदान के महत्व को जानते हों।

जैन संस्कृति के समर्थक जहाँ पूरे स्कूल या कालेज का भार स्वयं न उठा सकते हों, वहाँ वे अन्य शिक्षा-संस्थाओं की प्रबन्ध समिति में सम्मिलित हों, शिक्षा-संस्थाओं को सब प्रकार का सहयोग दें और पाठ्य पुस्तकों तथा शिक्षकों के उपयुक्त चुनाव द्वारा ऐसी भारतीय संस्कृति की शिक्षा का प्रबन्ध करवाएँ जिसमें सत्य, अहिंसा, समता, उदारता, अनेकांत आदि भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। इन सिद्धांतों का प्रचार चाहे जैन नाम से न भी हो, फिर भी धर्म का वास्तविक प्रयोजन इससे सध जाता है। ऐसी संस्थाओं में अन्य संस्कृतियों के प्रति भी उदार दृष्टिकोण बरता जाए; किसी प्रकार का अप्रिय आग्रह न दर्शाया जाए।

स्याद्वाद विद्यालय उत्तर भारत के हाईस्कूलों में पढ़ाने वाले जैन शिक्षकों की सूची बनाकर उन्हें समय-समय पर प्रशिक्षण केन्द्रों में बुलाकर जैन धर्म और जैन संस्कृति के संबन्ध में व्याख्यानमालाओं का प्रबन्ध कर सकता है। शिक्षण संघ जो व्याख्यानमालाएँ आयोजित करे वह मात्र जैन संस्कृति की परिचायक ही न हों वरन अन्य संस्कृतियों का अध्ययन भी सामान्य अनुपात में सम्मिलित किया जाए। ये व्याख्यान सार्वजनिक हों। दूसरा कार्यक्रम यह भी हो सकता है कि हम श्रमण संस्कृति, अहिंसा, समता, समन्वय, जिज्ञासा आदि व्यापक नामों के आधार पर सभाएँ और अध्ययनशालाएँ स्थापित करें जिनमें साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक चर्चाएँ हों, विचार-विनिमय हो। यदि ऐसी संस्थाओं का संगठन जैन नवयुवक और जैन शिक्षक करेंगे तो भारतीय संस्कृति के व्यापक संदर्भ में जैन संस्कृति को प्रमुख महत्त्व मिलेगा ही। स्याद्वाद विद्यालय इस दिशा में नेतृत्व करके उत्तर-भारत में योजनाबद्ध काम कर सकता है।

ये ऐसे सांस्कृतिक कार्य हैं जिन्हें हमारी अखिल भारतीय जैन संस्थाएँ भी यदि अपनाएँ तो अपने अस्तित्व को सार्थक बना सकती हैं। संस्थाओं के संबंध में एक बात स्पष्ट रूप से समझनी होगी। जैनधर्म और जैन संस्कृति से संबन्धित किसी भी प्रश्न या समस्या के संबंध में संस्थाओं का प्रभाव इस बात से नहीं बढ़ेगा, न नेतृत्व पुष्ट होगा कि वे कितने महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती हैं या अपने मुख पत्रों में कितने लेख लिखती हैं या उनके व्याख्याता सभा-भवनों में कितनी बार कितने जोश से बोलते हैं!

आज तो जनता यह देखेगी कि जिन धार्मिक सिद्धान्तों की महत्ता के बारे में इतना आग्रह दिखाया जा रहा है, जिस अहिंसा, सत्य, शान्ति, समता, मानव की बात को उच्च स्वर से घोषित किया जा रहा है, अपेक्षा तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति से की जाती है कि वह इन सिद्धांतों को अपने व्यवहार से स्पष्ट करे किन्तु संस्थाओं की सामूहिक गतिविधि और उनके दृष्टिकोण का व्यावहारिक रूप तो खास तौर से इसी कसौटी पर कसा जाता है। यदि इन संस्थाओं को व्यक्तिगत प्रभाव, या अनुचित होड़ या संकुचित विचारों के समर्थन का क्षेत्र बनाया जाएगा या इनके कार्यकर्ताओं की कथनी और करनी में, उनके सिद्धांत और व्यवहार में तादात्म्य न होगा तो न सिर्फ यह कि ये संस्थाएँ जन जीवन को स्पर्श नहीं करेंगी बल्कि यह कि ये अपने समर्थकों और अनुयायियों को निराश करेंगी और उन्हें उपहास का पात्र बनाएँगी।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, आज देश की इस नई जागृति के दौर में जैनधर्म के उदार मानवीय सिद्धान्तों के प्रचार का अनोखा अवसर हमारे सामने है। हमारी समाज में विलक्षण प्रतिभा है, प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने की क्षमता है, हमारे पास अनुभव है, कौशल है, साधन है; लेकिन नेतृत्व नहीं। ऐसा नेतृत्व जो युग की माँग को समझे, इस अवसर की दुर्लभता को पहचाने और वक्तव्य को कर्तव्य की इतिश्री न माने। आज हमें अपने धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति की अक्षय आत्मा को ऐसे नए परिधान में प्रस्तुत करना है कि देखने-सुनने वालों को लगे कि यह धर्म का भुस भरा चर्म नहीं, यह किसी म्यूजियम या संग्रहालय की खंडित प्राणहीन मूर्ति नहीं अपितु जीवन धर्म का वह दीप्त रूप है जो अपने नए वेश में यौवन की आभा से, उज्ज्वल प्रेरणा से परिपूर्ण और आकर्षण में अद्वितीय है।

आपको यह जानकर संतोष हुआ होगा कि इधर हाल में भगवान महावीर की जन्मभूमि वैशाली में, जो बिहार में मुजफ्फरपुर के पास है, एक जैन ज्ञानपीठ की स्थापना हुई है जिसमें बिहार सरकार ने क्रियात्मक सहयोग दिया है। इस वैशाली जैन इन्स्टीटयूट के डायरेक्टर के पद पर जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० डॉ० हीरालाल जैन एम० ए०, पी-एच० डी० की नियुक्ति हुई है। मुझे विश्वास है कि इस संस्था द्वारा ऐसा ठोस कार्य हो सकता है जो जैन धर्म और जैन दर्शन की वास्तविक उन्नति को साधेगा। इस संस्था के प्रयत्नों से यदि जैन साहित्य को समुचित मान मिला, और जैन तीर्थङ्करों

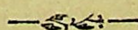
के प्रति सर्वसाधारण में पूज्य भाव की बढ़ोतरी हुई, उनके तीर्थ की लोकोदय-कारिणी विचारधारा प्रतिष्ठित हुई तो हमारी पीढ़ी संतोष अनुभव करेगी कि उसके जीवन में भी एक उपयोगी कार्य की नींव पड़ी।

मेरा अनुरोध है कि स्याद्वाद विद्यालय तथा उत्तर भारत की अन्य संस्थाएँ डाक्टर हीरालाल जी से सम्पर्क स्थापित करें और विभिन्न सांस्कृतिक योजनाओं को एक सूत्रता में पिरोने के लिए प्रयत्नशील हों। आज तक समाज में जो भी बड़े काम हुए हैं, वे सार्वजनिक सहयोग के बल पर ही सफल हुए हैं।

यह कार्य और ये सब योजनाएँ भी समाज के ही विस्तृत सहयोग और बहु-मुखी सहायता के आधार पर ही सफल हो सकेंगी। यदि स्याद्वाद महाविद्यालय और वैशाली ज्ञानपीठ कन्धे से कन्धा मिलाकर इन योजनाओं की प्रगति में आगे बढ़ेंगे तो जैन संस्कृति के अभ्युत्थान के हमारे बड़े से बड़े स्वप्न भी सार्थक हो सकेंगे।

समाज के मंच पर मैं पुनः कई वर्षों के बाद आया हूँ। सामाजिक प्रश्नों के संबन्ध में पिछली बार मैंने अपने विचार परिषद के दिल्ली अधिवेशन के अवसर पर व्यक्त किये थे। सामाजिक क्षेत्र में, सामाजिक कार्यों में, मेरी रुचि सदा से है और सदा रहेगी। जिन त्यागी वर्ग और पंडित वर्ग का समाज के दैनंदिन जीवन से सम्पर्क है, वे जैन संस्कृति की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और उसे जिस प्रकार का व्यावहारिक रूप दिये रहने के पक्ष में हैं, वह जैन संस्कृति की उस व्याख्या से भिन्न है जिसे मैंने बहुत निष्ठा और श्रद्धा से समझा है और जिसकी सत्यता के विषय में मेरे मन में तनिक भी सन्देह नहीं। विरोध में काम करने की मेरी रुचि नहीं। समाज में वैमनस्य बढ़े, यह मुझे वांछित नहीं। इसलिए मैं दूर ही रहना अच्छा समझता रहा हूँ। पिछले दिनों बम्बई में जो दिगम्बर साधु ठहरे हुए थे उनके जुलूस का प्रश्न जब वहाँ उठा तो मैंने समाज के कतिपय वर्ग की मनोवृत्ति को देखा। यदि हम सत्य का प्रसार झूठ के माध्यम से करना चाहें, यदि हम अपरिग्रह की प्रतिष्ठा परिग्रह के प्रदर्शन द्वारा करना चाहें तो आज यह संभव नहीं; यह नियम न्याय और सिद्धांत के विपरीत है।

आपके स्नेह के आधार पर मैंने अपने मन की बातें और अपनी कल्पनाएँ आपके सामने रखी है। आपने जिस धैर्य से मेरी बात सुनी, उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ।



भयंकर अपराध है !

अपनी आत्मा का हनन करना भयंकर अपराध है।
दूसरों को हानि पहुँचाना भयंकर अपराध है।
अन्याय-अत्याचार के सामने सिर झुकाना भयंकर अपराध है।
आज का काम कल पर टालना भयंकर अपराध है।
वचन देकर उसे पूरा न करना भयंकर अपराध है।
छल कपट से काम लेना भयंकर अपराध है।
कहना कुछ और करना कुछ भयंकर अपराध है।
झूठी हां में हां मिलाना भयंकर अपराध है।
अपनी कमजोरियों और भूलों को छिपाना भयंकर अपराध है।
समय का दुरुपयोग करना भयंकर अपराध है।
किसी को अपना गुलाम बनाना भयंकर अपराध है।
पैसे को ही सर्वस्व मान लेना भयंकर अपराध है।
सब को अपनी दृष्टि से देखना भयंकर अपराध है।
जबरन किसी पर अपने विचार लादना भयंकर अपराध है।
कर्तव्य व जिम्मेवारी से दूर भागना भयंकर अपराध है।
दूसरों की अंधाधुंध नकल करना भयंकर अपराध है।
श्रम से जी चुराना भयंकर अपराध है।
धर्म के नाम पर खून बहाना भयंकर अपराध है।
क्रान्ति के मार्ग में रोड़े अटकाना भयंकर अपराध है।
किसी की उन्नति को देखकर जलना भयंकर अपराध है।
अपनी कमजोरी को सुनकर भड़क जाना भयंकर अपराध है।
किसी पर झूठा आरोप लगाना भयंकर अपराध है।
बिना सोचे समझे कोई काम करना भयंकर अपराध है।
मन ही मन कुढ़ते और जलते रहना भयंकर अपराध है।
गिरगिट की तरह रंग बदलते रहना भयंकर अपराध है।
निराश होकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना भयंकर अपराध है।

—भाई बंसीधर जी

जैन आगमों की निर्युक्तियां

—श्री मोहनलाल मेहता, एम. ए., पी-एच. डी.

आवश्यक-निर्युक्ति

आवश्यक-निर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु की सर्वप्रथम कृति है। यह विषय-वैविध्य की दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोटयाचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर प्रभृति आचार्यों ने विविध व्याख्याएँ लिखी हैं। आवश्यक-निर्युक्ति की गाथा-संख्या भिन्न भिन्न वृत्तियों में भिन्न भिन्न रूपों में मिलती है। किसी किसी वृत्ति में कहीं कहीं जिनभद्रकृत विशेषावश्यक-भाष्य की गाथाएँ निर्युक्ति-गाथाओं में मिली हुई प्रतीत होती हैं। माणिक्यशेखर-कृत आवश्यक-निर्युक्ति-दीपिका में निर्युक्ति की १६१५ गाथाएँ हैं। आवश्यक-निर्युक्ति आवश्यकसूत्र के सामायिकादि छः अध्ययनों की सर्वप्रथम पद्यबद्ध प्राकृत व्याख्या है। इसके प्रारंभ में उपोद्‌घात है जो प्रस्तुत निर्युक्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। यह अंश एक प्रकार से समस्त निर्युक्तियों की भूमिकारूप है। इसमें ज्ञानपंचक, सामायिक, ऋषभदेव-चरित्र, महावीर-चरित्र, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित्र, निह्नवमत (सप्त निह्नव) आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। ऋषभदेव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के वर्णन के साथ ही साथ उस युग से संबन्धित आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेखन, गणित, रूप, लक्षण, मानदण्ड, पोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध, घात, ताडना, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह, दत्ति, मृतकपूजन, ध्यापन, स्तूप, शब्द, खेलापन, और पृच्छन—इन चालीस विषयों का भी निर्देश किया गया है। चौबीस तीर्थंकरों के भिक्षालाभ के प्रसंग से निम्न नगरों के नाम दिये गए हैं: हस्तिनापुर, अयोध्या, श्रावस्ती, साकेत, विजयपुर, ब्रह्मस्थल, पाटलिखण्ड, पद्मखण्ड, श्रेयःपुर, रिष्टपुर, सिद्धार्थपुर, महापुर, धान्यकर, वर्धमान, सोमनस, मंदिर, चक्रपुर, राजपुर, मिथिला, राजगृह, वीरपुर, द्वारवती, कूपकट, और कोल्लाकग्राम। धर्मचक्र

का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार ने बताया है कि बाहुबलि ने अपने पिता ऋषभदेव की स्मृति में धर्मचक्र की स्थापना की थी।

उपोद्घात के बाद नमस्कार, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। नमस्कार-प्रकरण में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का भी विचार किया गया है। प्रतिक्रमण-प्रकरण में नागदत्त, महागिरि, स्थूलभद्र, धर्मघोष, सुरेन्द्रदत्त, धन्वन्तरी वैद्य, करकंडु, पुष्पभूति आदि अनेक ऐतिहासिक पुरुषों के उदाहरण भी दिए गए हैं।

दशवैकालिक-निर्युक्ति

दशवैकालिक-निर्युक्ति में दश, एक, काल, ओघ द्रुम, पुष्प, धर्म, मंगल, अहिंसा, संयम, तप, हेतु, उदाहरण, विहंगम, श्रमण, पूर्व, काम, पद, क्षुल्लक, महत्, आचार, कथा, जीव, निकाय, शस्त्र, पिण्ड, एषणा, धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद, वाक्य, शुद्धि, प्रणिधि, विनय, सकार, भिक्षु, चूलिका, रति आदि पदों का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया गया है। हेतु और दृष्टान्त के स्वरूप का विवेचन करते हुए निर्युक्तिकार ने अनुमान के निम्न अवयवों का निर्देश किया है १-प्रतिज्ञा, २-विभक्ति, ३-हेतु, ४-विभक्ति, ५-विपक्ष, ६-प्रतिषेध, ७-दृष्टान्त, ८-आशंका, ९-तत्प्रतिषेध, १०-निगमन। धान्य तथा रत्न का व्याख्यान करते हुए प्रत्येक की चौबीस जातियां बताई हैं। धान्य की जातियां इस प्रकार हैं १-यव, २-गोधूम, ३-शालि, ४-व्रीहि, ५-षष्टिक, ६-कोद्रव, ७-अणुक, ८-कंगु, ९-रालग, १०-तिल, ११-मुद्ग, १२-माष, १३-अतसी, १४-हरिमंथ, १५-त्रिपुटक, १६-निष्पाव, १७-सिलिंद, १८-राजमाष, १९-इक्षु, २०-मसूर, २१-तुवरी, २२-कुलत्थ, २३-धान्यक, २४-कलाया। रत्न की चौबीस जातियां ये हैं १-सुवर्ण, २-त्रपु, ३-ताम्र, ४-रजत, ५-लोह, ६-सीसक, ७-हिरण्य, ८-पाषाण, ९-वज्र, १०-मणि, ११-मौक्तिक, १२-प्रवाल, १३-शंख, १४-तिनिश, १५-अगरु, १६-चंदन, १७-वस्त्र, १८-अमिल, १९-काष्ठ, २०-चर्म, २१-दंत, २२-वाल, २३-गंध, २४-द्रव्यौषध। चतुष्पद प्राणियों के आचार्य ने दस भेद बताये हैं १-गो, २-महिषी, ३-उष्ट्र, ४-अज, ५-एडक, ६-अश्व, ७-अश्वतर, ८-घोटक, ९-गर्दभ, १०-हस्ती। काम दो प्रकार का है संप्राप्त और असंप्राप्त। निर्युक्तिकार ने संप्राप्त काम के चौदह एवं असंप्राप्त काम के दस भेद किये हैं। संप्राप्त काम के चौदह भेद ये हैं १-दृष्टिसपात, २-संभाषण, ३-हसित, ४-ललित, ५-उपगूहित, ६-दंतनिपात, ७-नखनिपात, ८-चुंबन, ९-

आलिगन, १०-आदान, ११-करण, १२-आसेवन, १३-संग, १४-क्रीडा। असंप्राप्त काम दस प्रकार का है: १-अर्थ, २-चिंता, ३-श्रद्धा, ४-संस्मरण, ५-विक्लवता, ६-लज्जानाश, ७-प्रमाद, ८-उन्माद, ९-तद्भावना, १०-मरण।

उत्तराध्ययन-निर्युक्ति

इसमें उत्तर, अध्ययन, श्रुत, स्कन्ध संयोग, गलि, आकीर्ण, परीषह, एकक, चतुष्क, अंग, संयम, प्रमाद, संस्कृत, करण, उरभ्र, कपिल, नमि, बहु, श्रुत, पूजा, प्रवचन, साम, मोक्ष, चरण, विधि, मरण आदि पदों की निक्षेपपूर्वक व्याख्या की गई है। यत्र तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी संकलित किए गए हैं। अंग की निर्युक्ति में गंधांग, औषधांग, मद्यांग, आतोद्यांग, शरीरांग, और युद्धांग का भेद-प्रभेदपूर्वक विवेचन किया गया है। मरण की व्याख्या में सतरह प्रकार की मृत्यु का उल्लेख किया गया है।

आचारांग-निर्युक्ति

इस निर्युक्ति में आचार, वर्ण, वर्णान्तर, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, पृथ्वी, वध, अप्, तेजस्, वनस्पति, त्रस, वायु, लोक, विजय, कर्म, शीत, उष्ण, सम्यक्त्व, सार, चर, धूत-विधूनन, विमोक्ष, उपधान, श्रुत, अग्र, आदि शब्दों का व्याख्यान किया गया है। प्रारंभ में आचारांग प्रथम अंग क्यों है एवं इसका परिमाण क्या है, इस पर प्रकाश डाला गया है। अंत में निर्युक्तिकार ने पंचम चूलिका निशीथ का किसी प्रकार का विवेचन न करते हुए केवल इतना ही निर्देश किया है कि इसकी निर्युक्ति मैं फिर करूँगा। वर्ण और वर्णान्तर का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने सात वर्णों एवं नव वर्णान्तरों का उल्लेख किया है। एक मनुष्य-जाति के सात वर्ण ये हैं १-क्षत्रिय २-शूद्र, ३-वैश्य, ४-ब्राह्मण, ५-संकरक्षत्रिय, ६-संकरवैश्य, ७-संकरशूद्र। संकर ब्राह्मण नाम का कोई वर्ण नहीं है। नव वर्णान्तर इस प्रकार है १-अम्बष्ठ, २-उग्र. ३-निषाद, ३-अयोगव, ५-मागध, ६-सूत, ७ क्षत्त, ८-विदेह, ९-चाण्डाल।

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति

इसमें आचार्य ने सूत्रकृतांग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र, अलम् आदि पदों का निक्षेप पूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा

(११९) में निम्नोक्त ३६३ मतान्तरों का उल्लेख किया है: १८० प्रकार के क्रियावादी, ८४ प्रकार के अक्रियावादी, ६७ प्रकार के अज्ञानवादी, और ३२ प्रकार के वैनयिक।

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति

प्रस्तुत निर्युक्ति के प्रारंभ में निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने प्राचीन-गोत्रीय, चरम सकलश्रुतज्ञानी तथा दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार-सूत्र के प्रणेता भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार किया है। इसमें समाधि, स्थान, शबल, आशातना, गणी, संपदा, चित्त, उपासक, प्रतिमा, पर्युषणा, मोह आदि पदों का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। पर्युषणा के पर्याय-वाची शब्द ये हैं—परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समव-सरण, स्थापना, ज्येष्ठग्रह।

बृहत्कल्प-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति भाष्यमिश्रित अवस्था में उपलब्ध है। इसमें ताल, प्रलम्ब, ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राज-धानी, आश्रम, निवेश, संबाध, घोष, आर्य, उपाश्रय, उपधि, चर्म, मैथुन, कल्प, अधिकरण, वचन, कण्टक, दुर्ग आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पदों का व्याख्यान किया गया है। बीच बीच में दृष्टान्तरूप कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। इस निर्युक्ति के विशेष परिचय के लिए बृहत्कल्प के दोनों भाष्य देखने चाहिएं।

व्यवहार-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति भी भाष्य में मिल गई है। इसमें साधुओं के आचार-विचार से संबन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण पदों एवं विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। एक प्रकार से बृहत्कल्प-निर्युक्ति और व्यवहार-निर्युक्ति परस्पर पूरक हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्ति-परिचय से स्पष्ट है कि जैन परंपरागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियों में ही की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संसार की चार उपमाएँ

—श्री प्रेमी जी

बड़े बड़े तत्वज्ञानियों ने संसार की उपमा समुद्र से दी है। यह उपमा बैठती भी ठीक है। जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं वैसे ही संसार में विषय-वासनाओं की तरंगें उठा करती हैं। जैसे समुद्र ऊपर से समतल मालूम होता है वैसे ही संसार भी ऊपर से सरल दीखता है। जैसे समुद्र बहुत गम्भीर होता और कहीं-कहीं उसमें भँवरें पड़ती हैं वैसे ही संसार काम-विषय-प्रपञ्चों से गम्भीर है और उसमें मोह रूपी भँवर पड़ते हैं। जैसे समुद्र तूफानों से नौका को हानि पहुँचाता है वैसे ही संसार में भी काम रूपी तूफान से आत्मा की हानि होती है। जैसे समुद्र ऊपर से अपनी अगाध सलिलराशि से शीतल जान पड़ता है पर उसके अन्दर वड़वानल (समुद्र की अग्नि) होता है, उसी प्रकार संसार में लोभ रूपी अग्नि जलती रहती है।

संसार की दूसरी उपमा अग्नि से भी दी जाती है। जैसे अग्नि से विकट सन्ताप उत्पन्न होता है, वैसे ही संसार से त्रिविध ताप की उत्पत्ति होती है। जैसे आग का जला जीव बुरी तरह छटपटाता है वैसे ही संसार रूपी ताप से जला हुआ जीव बुरी तरह नाना प्रकार की पीड़ाओं से बिलखता है। जैसे अग्नि सब को भस्म कर देती है वैसे ही संसार के विषय-भोग लोगों का विनाश कर छोड़ते हैं। अग्नि में ज्यों-ज्यों घी और ईंधन पड़ता है, वह अधिकाधिक प्रज्वलित होती जाती है। संसार में भी ज्यों-ज्यों तीव्र मोहिनी रूप घी और विषय रूपी ईंधन पड़ता है, वह बढ़ता जाता है।

संसार की तीसरी उपमा अन्धकार से दी जाती है। जैसे अन्धकार में रस्सी में साँप का भान हो जाता है वैसे ही संसार में सत्य असत्य और असत्य सत्य मालूम होता है। जैसे मनुष्य अन्धकार में इधर-उधर भटक कर पथ भूल जाता है, वैसे ही लोग संसार में अपने असली मार्ग और उद्देश्य भूल कर विपत्ति भोगते फिरते हैं। अन्धकार में हीरा और काँच समान दीखते हैं और दोनों में कौन क्या है, इसका निर्णय नहीं होता, वैसे ही संसार में भी विवेक और अविवेक की पहचान नहीं होती। जैसे अन्धकार में आँखों

के होते हुए भी आदमी अन्धा हो जाता है उसी प्रकार संसार में बुद्धि और शक्ति रखते हुए भी आदमी मोहान्ध और अशक्त हो जाता है।

संसार की चौथी उपमा गाड़ी के पहिए की है। जैसे पहिया चक्कर काटता है वैसे ही जीव भी संसार में पागल सा फिरता है। जैसे गाड़ी का पहिया बिना धुरी के नहीं चल सकता, वैसे ही संसार भी मिथ्यात्व के बिना नहीं चल सकता। गाड़ी का पहिया, बीच की लकड़ियों पर टिका रहता है, इसी प्रकार संसार भी शङ्का और प्रमाद पर अवलम्बित है।

इन उपमाओं का तत्त्व समझकर संसार से मुक्त होने का उपाय ढूंढ़ निकालना चाहिए।

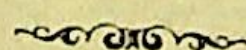
सागर जैसे सुदृढ़ नौका और विश्वसनीय कर्णधार की सहायता से पार किया जा सकता है वैसे ही संसार रूपी सागर भी सद्धर्म रूपी नौका और सद्-गुरु रूपी नाविक की सहायता से पार किया जा सकता है।

जैसे अग्नि सबको भस्म कर डालती है पर पानी से बुझ जाती है वैसे ही संसाराग्नि संयम और वैराग्य रूपी पानी से बुझ जाती है।

जैसे अंधकार में दीपक जलते ही सब कुछ दिखाई पड़ने लगता है, वैसे ही संसार रूपी अन्धकार में ज्ञान का दीपक प्रकाश फैलाकर सबको ठीक-ठीक प्रकाशित कर देता है।

जैसे गाड़ी का पहिया बैलों के बिना गन्तव्य स्थान पर नहीं जा सकता, वैसे ही संसार चक्र भी रागद्वेष के बिना नहीं चल सकता। संसार चक्र त्यागने की इच्छा वालों को रागद्वेष का त्याग करना चाहिए।

—'आदर्श जैन चरित माला' से



वीरों की सेना

तत्ववेत्ता स्व० श्री वाड़ीलाल मोतीलाल शाह के गुजराती लेख से साभार अनूदित

एक तरफ हटो ! ठहरो !! दम भरो !!! देखो, सामने से वज्रमय कोट के समान क्या चला आ रहा है ? सावधान ! कहीं उसके वेग की झपेट में मत आ जाना !

पर ठहरो ! यह तो वीर सेना है ! इसका प्रस्थान देखने के लिए और रोमाँच का अनुभव करने के लिए दम खींच कर तनिक एक तरफ खड़े तो हो जाओ ।

देखो ! दान की बुहारी से साफ किये हुए 'मार्ग' पर किस सफ़ाई और निर्विघ्नता पूर्वक यह वीर-सेना चली आ रही है ।

शील द्वारा एकत्रित वीर्य प्रभाव से वज्रमय बने हुए शरीरों का समूह जीते-जागते सुदृढ़ किले के समान झूमता हुआ बिना किसी परवाह के आगे बढ़ा चला जा रहा है ।

तप से प्रकट हुए पुरुषार्थ के प्रताप से निर्भय और निशंक हुई यह आगे कदम बढ़ाने वाली सेना जमीन पर चलते हुए भी उड़ती हुई अथवा पानी के पूर की तरह बहती सी दीख रही है । इसके बलशाली वेग के आगे कौन मनुष्य या असुर टिक सकता है !

भावना रूपी परों के सहारे उड़ती हुई और वायु वेग को भी मात करने वाली कहीं यह गरुड़ों की सेना तो नहीं है ? अथवा यह देवों की अमर सैन्य तो नहीं है क्योंकि वीरता ही तो दिव्यता है ।

प्रणाम ! हे वीर सेना, तुझे प्रणाम ? तूने अपने कूच का दृश्य दिखाकर वीरता के रोमांच का अनुभव करा दिया है और हमारे हृदय में वीरता का शौक पैदा कर दिया है । हम भी वीर सेना की शिक्षा लेंगे । दान, शील, तप, और भावना इन चारों शस्त्रों के साथ वीरों के वेग और प्रकाश को देखने के बाद ऐसा कौन अभागा होगा जो कीड़ों की तरह धरती को—जड़ता को पकड़ कर पेट के बल रेंगना पसन्द करेगा ?

[शेष पृष्ठ १९ पर]

ज्योतिर्धर दो जैन विद्वान

हरिभद्र और यशोविजय

—श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म में समय-समय पर अनेक प्रतिभाशाली महापुरुषों का उद्भव हुआ। उनकी महान देन चिरस्मरणीय है। इधर कुछ आचार्यों के व्यक्तित्व को परखने और प्रकाशित करने का भी प्रयत्न हुआ है। आचार्य सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक, हेमचन्द्र, सिद्धर्षि आदि की पांडित्य प्रतिभा भी प्रकाश में आई है। पर दो महान ज्योतिर्धर जिनकी प्रतिभा बहुमुखी होने के साथ-साथ उनकी रचनाएं भी बहुत अधिक मिलती हैं, उनके व्यक्तित्व व प्रतिभा का समुचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है। वे हैं आचार्य हरिभद्र और उपाध्याय यशोविजय। जैन साहित्याकाश के ये दो उज्जवल नक्षत्र हैं। उनकी पचासों रचनाएं आज भी प्राप्त हैं और वे बहुत मौलिक व गंभीर हैं। वास्तव में अधिकांश ग्रन्थकार चर्वित चर्वण ही किया करते हैं। जो कुछ इधर-उधर से मिला, उसकी जानकारी अपने शब्दों व शैली में लिपिबद्ध कर देना सरल है। अतः ऐसे व्यक्ति अधिक मिलते हैं पर चिंतन, नवीन दृष्टि व सुसंस्कृत शैली द्वारा कुछ नई देन देने वाले विरल ही होते हैं और जो थोड़े से हुए हैं उनकी रचनाएं अधिक संख्या में प्राप्त नहीं है। यद्यपि संख्या और परिमाण में में अल्प होने पर भी उनका महत्व निर्विवाद है पर जिनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक रचनाओं द्वारा प्रकाश में आई उनके महत्व का तो कहना ही क्या? आचार्य हरिभद्र और यशोविजय ऐसी ही विरल विभूति थे। उनकी बहुत सी रचनाएं प्रकाशित भी हो चुकी हैं फिर भी उनका सांगोपांग अध्ययन करके किसी ने उनके व्यक्तित्व को ठीक ढंग से जन साधारण के समक्ष नहीं रखा, यही आश्चर्य है।

हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि का समय जैनसंघ के लिए एक संक्रांति युग था। सारे भारतवर्ष के लिए ही वह युग अपनी विशेषता रखता है। इनके समय के संबन्ध में बड़ा विचार भेद रहा और कुछ अंशों में अब तक भी है। पर

मुनि जिनविजय जी के प्रयत्न से बहुत कुछ निश्चय हो चुका है। उसके अनुसार ये आठवीं शताब्दी में हुए। हरिभद्र नाम के कई आचार्य हो गए हैं, इसलिए या किसी अन्य आचार्य के साल के स्मृति दोष के कारण परम्परा इनका समय पहले का निर्देश करती है। पर इनके ग्रन्थों में जिन दार्शनिक और सैद्धांतिक जैन-जैनेतर विद्वानों का उल्लेख है उनके आधार से जो भी निर्णय किया जाएगा, ठीक हो सकेगा। श्री जिन विजय जी ने तो एक नई दृष्टि दी, नई शोध की पर अभी इस दिशा में बहुत कुछ कार्य करना अपेक्षित है। हरिभद्रसूरि का निर्देश करने वाले जो-जो ग्रन्थकार व ग्रन्थ हैं और उन्होंने उनके संबंध में जो कुछ कहा व लिखा है वह सब भी एकत्र कर फिर विचार करना होगा। हरिभद्रसूरि की रचनाओं का तलस्पर्शी अध्ययन करने से बहुत से नए तथ्य प्रकाश में आएँगे; क्योंकि उनकी देन बहुमुखी और महान है। आगमों पर संस्कृत टीका का आरंभ उन्होंने किया, योग के विषय में मौलिक विचारणा संप्रदायों में सर्व प्रथम उन्होंने की, जैनेतर आगमों पर सर्व प्रथम टीका उन्होंने ही बनाई, षट् दर्शन समुच्चय जैसा समस्त दर्शनों का परिचायक समुच्चय ग्रन्थ उन्हीं ने लिखा, छोटे-छोटे प्रकरणों की शैली भी उन्हीं से आगे बढ़ी, समराइच्चकहा जैसी प्राकृत भाषा में विस्तृत मौलिक कथा भी उन्हीं ने सर्व प्रथम लिखी। चैत्यवास का प्रबल विरोध करने वाले निर्भीक और तत्त्वज्ञानी यही थे। आवश्यक सूत्र की दो हजार श्लोक परिमाण वाली विस्तृत टीका आपके गंभीर आगमज्ञ होने की परिचायक है। धूर्ताख्यान आपका सर्वथा मौलिक और विशिष्ट ग्रन्थ है। पहले ब्राह्मण होने के नाते आपका वैदिक साहित्य का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था ही, फिर परम्परा के अनुसार बौद्धों से भी उनका संघर्ष हुआ। आपके दो शिष्य बौद्ध न्याय का गंभीर अध्ययन करने बौद्ध विद्यालयों में गए थे। जैनदर्शन के तो आप मर्मज्ञ थे ही। एक छोटी सी घटना ने आप के जीवन में कायापलट कर दी। आप का मध्यस्थ भाव अत्यन्त श्लाघनीय, अनुकरणीय और विरल है। इन सब बातों का सुमेल आपका महान व्यक्तित्व है। आपके संबन्ध में पण्डित सुखलाल जी जैसे विद्वान जो कुछ भी लिखा सकें, तुरंत ही प्रयत्न पूर्वक लिखा लेना चाहिए और उनके परामर्शानुसार व देख-रेख में किसी योग्य व्यक्ति को नियुक्त कर आचार्य हरिभद्र की सभी रचनाओं का आलोड़न कर एक विशिष्ट शोध पूर्ण ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाश में आना आवश्यक है। जैन धर्म, समाज और साहित्य का इससे गौरव बढ़ेगा, यह निःसंशय है।

उपाध्याय श्री यशोविजय

उपाध्याय यशोविजय १७ वीं सदी के उत्तरार्ध और १८ वीं के पूर्वार्ध में हो गए हैं। उनका स्वर्गवास हुए २६७ वर्ष ही हुए हैं पर खेद है कि आपके कई ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है पर उनकी प्रतियां नहीं मिलतीं। मालूम होता है कि आपकी रचनाओं के अध्येता बहुत ही कम हुए। राजस्थान के जैन भण्डारों में तो आपके दो-चार ही ग्रन्थ जानने में आए हैं। इससे स्पष्ट है कि आपकी रचनाओं का प्रचार अधिक नहीं हो पाया। कुछ रचनाएँ खंडित अवस्था में मिली हैं। आपके ग्रन्थों को प्रकाश में लाने की आचार्य विजय दर्शन सूरि जी की बड़ी लगन है और उन्होंने कुछ खोज और प्रकाशन किया भी है। मैं दो-तीन बार उनसे मिला तो उन्होंने यही चर्चा की कि उपाध्याय जी का अमुक ग्रन्थ नहीं मिला, अमुक अधूरा मिला है, इनकी कहीं खोज करो।

आपकी गुजराती व हिन्दी भाषा की रचनाओं का संग्रह तो दो भागों में छप चुका है और कुछ संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह तथा कुछ का स्वतंत्र रूप से प्रकाशन हो चुका है। अप्रकाशित ग्रन्थ थोड़े ही हैं। कुछ नहीं मिले या अधूरे मिले, वे ही शायद रह गए हैं। पंडित सुखलाल जी ने बहुत वर्षों पहले आप के संबन्ध में कुछ लिखा था पर अधिक विस्तार से लिखने की उनकी इच्छा थी उसका भी मौका नहीं मिला। इसलिए वे शीघ्र ही जो कुछ लिखा सकें, लिख लिया जाए। उनका लिखाया हुआ बहुत ठोस होगा।

खेद है कि उनकी स्वर्ग तिथि भी अभी निश्चय रूप से विदित नहीं है। मेरे खयाल से तपागच्छ के श्री पूज्यों के भण्डार अभी ठीक से देखे नहीं गए। पता नहीं उन भंडारों में पुरानी चिट्ठी-पत्रियों के कागज अब तक संभाल रखे हैं या नष्ट कर दिये गए। यदि वे सुरक्षित हों तो उनकी शोध करने पर, जब भी आपका स्वर्गवास हुआ है, उसके आसपास की चिटठी में स्वर्ग तिथि का निर्देश समाचार अवश्य मिलेगा। संभव है श्री पूज्यों के दफ्तर और अन्य कागजातों और अन्य पत्रों में आपके संबन्ध की और भी महत्व की जानकारी मिले। अभी उन सब की शोध होनी चाहिए।

दो-तीन वर्ष हुए विजय प्रताप सूरि के संघाड़े के विद्वान मुनि यशोविजय जी का ध्यान उपाध्याय जी के संबन्ध में कुछ विशेष कार्य करने की ओर गया था। यशोविजय सारस्वत महोत्सव मनाया गया, उनके स्वर्ग स्थान का भी जीर्णोद्धार हुआ, उनके संबन्धी लेखों का एक संग्रह भी प्रकाशित होने वाला था पर उसकी फिर क्या प्रगति हुई या हो रही है, अज्ञात है।

नव्य न्याय का सबसे तगड़ा अध्ययन जैन विद्वानों में उन्हीं का था। बनारस भेजकर उनको विशेष रूप से अध्ययन कराया गया था। कहा जाता है कि इन्होंने एक सौ रचनाएं तो केवल न्याय के विषय पर ही बनाई थीं। लोकभाषा में भी आप की रचनाएं बहुत चुस्त, सैद्धांतिक और भक्ति-पूर्ण हैं। कहा जाता है कि श्री आनन्दघन जी से आप मिले थे और उनके प्रभाव से आप में आध्यात्मिक अनुभव बढ़ा। आपके हिन्दी के कुछ पद बड़े सुन्दर हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय रास जैसी तात्विक दार्शनिक और सैद्धांतिक रचना गुजराती भाषा में लिखकर आपने एक नया द्वार खोला। उपाध्याय विनय विजय के बीच में ही स्वर्गवास हो जाने से उनका श्रीपाल रासो अधूरा रह गया था उसकी आपने पूर्ति की। वह रास बहुत ही प्रसिद्धि में आया। सच पूछिए तो सिद्धचक्र व नवपद आराधना का आज जो व्यापक प्रचार है उसका बहुत कुछ श्रेय इस श्रीपाल रास को है। इस रास की ढालें आदि ही नव पद पूजा के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों ज्योतिर्धर विद्वानों का वास्तविक मूल्यांकन किया जाना बहुत ही आवश्यक है। बहुत से जैन मुनि जो अच्छे विद्वान हैं और उनके प्रति बड़ा आदर भाव रखते हैं सबसे पहले उनका कर्त्तव्य है कि अपनी प्रतिभा का उपयोग इस शुभ कार्य में करें। श्री धुरंधर विजय, श्री जम्बू विजय जी, श्री यशोविजय जी आदि नए पढ़े-लिखे विद्वान इस कार्य को जरूर हाथ में लें। साथ ही पार्श्वनाथ विद्याश्रम का भी ध्यान मैं इस ओर आकर्षित करूँगा कि वे किसी रिसर्च स्कॉलर को यह विषय दें और पंडित सुखलाल जी, और श्री दल-सुखभाई आदि से ये जो कुछ भी लिखा सकें उसे प्रयत्न पूर्वक प्रकाश में लाएँ।

[पृष्ठ १५ से आगे]

आओ! मनुष्यो आओ!! हम सब देव बनने की शिक्षा लें, कि जिससे महावीर से भेंट करने के पात्र बनें। क्योंकि देवों का सम्मान करने के लिए सारी दुनियाँ तैयार खड़ी है, और दुनियाँ जैन को देव समझती है।

दुनियाँ को वीरों अथवा देवों अर्थात् जैनों की जरूरत है।

पृथ्वी जय का अनुसरण करती है। पृथ्वी-पति मूर्तिमान 'जय' है।

जनता 'जय' को ही पूजती है। जय का शरीर ही 'जैन' है।

जय हो जैन का त्रिलोक में, वर्तन-वचन-विचार में।

अनु०—श्री हजारीलाल 'प्रेमी'

गीत

स्वर्ग को मैं कल्पना कैसे करूँ
यदि मिले भी तो नहीं स्वीकार है ।
रूप धरती पर मनुज का मैं धरूँ
क्योंकि मुझको आदमी से प्यार है ॥
× × × ×
रूप का पानी चढ़ाकर देह पर
गर्व में डूबा हुआ संसार है ।
सामने से जा रही हैं अर्थियाँ
देख इनका कौन पहरेदार है ॥
× × × ×
आज तू ठुकरा न मुझको राह पर
यह समझकर एक मैं पाषाण हूँ ।
जो झुकाए शीश तू मुझको जरा
देख तेरी भक्ति का भगवान हूँ ॥
× × × ×
पत्थरों के शीश चढ़ने के लिए
मैं न डाली का बिकाऊ फूल हूँ ।
जो गले मुझको लगाए प्यार से
मैं स्वयं उसके चरण की धूल हूँ ॥

—शरदेन्दु एम० ए०

मोह

छोड़कर निश्वास कहता है नदी का यह किनारा
'उस किनारे पर जमा है जगत भर का हर्ष सारा ।'
वह किनारा किन्तु लम्बी सांस लेकर कह रहा है-
'हाय रे ? हर एक सुख उस पार ही क्यां बह रहा है ?'

भक्ति भाजन

रथयात्रा, भरपूर भीड़, घंटा निनाद, पंडों की बोली
पथ पर लोट-लाटकर करती है प्रणाम भक्तों की टोली ।
पथ का ख्याल, 'देवता हूँ मैं' रथ समझा अपने को स्वामी
मूर्त्ति सोचती 'मैं प्रणम्य हूँ,' हँसते मन में अन्तर्यामी ॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बिहार के संस्मरण

—श्री जयन्त मुनि जी म०

तपस्वी श्री जगजीवन जी म० और इनके सुयोग्य विद्वान शिष्य श्री जयन्त मुनि जी (श्री जयन्ती लाल जी) आज से ६-७ वर्ष पहले सौराष्ट्र से चल कर बनारस पधारे थे। बनारस में लगातार तीन वर्ष तक रहकर न्याय शास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन किया। इसके बाद आप कलकत्ता पधारे। अब तीन-चार साल से बिहार और बंगाल में विचर रहे हैं। उड़ीसा भी हो आए हैं। श्री जयन्त मुनि जी विद्वान एवं अच्छे वक्ता होने के साथ ही काफी निडर हैं। मन में उत्साह और साहस भी है। यही कारण है आप कई तरह के परीषहों का सामना करते हुए बिहार-बंगाल जैसे अपरिचित प्रदेश में भी धर्म का प्रचार कर रहे हैं। आप का मानव धर्म पर विशेष जोर रहता है।

यह शुभ संवाद है कि मुनिश्री अपने विहार (भ्रमण) के मधुर-कटु संस्मरण 'श्रमण' के द्वारा इसके पाठकों को सुनाते रहेंगे। इसमें संदेह नहीं कि संस्मरण महत्व के होंगे और एक नए इतिहास का निर्माण करेंगे। **—संपादक**

हम पटना—बांकीपुर में ठहरे थे। श्री विनयचंद्र जी अपनी समाज के उत्साही धर्मप्रेमी युवक है। उन्होंने पूछा—'महाराज साहब! आपने सेक्रिटेरियट देखा है?'

'नहीं, अभिलाषा है'—मैंने कहा।

उनने बताया—'आजकल बिहार-बंगाल-विलयन पर बहस चल रही है; आप पधारें—में दिखा दूं'

'अवश्य चलेंगे यदि बाधा नहीं आई'—मैंने उत्तर दिया।

हम लोग सोमवार को गए। १५-२० व्यक्ति संग थे। पहले छोटी सभा, बाद में बड़ी सभा देखी। सभाध्यक्ष उच्च स्थान पर बैठे थे। अर्ध-चंद्राकार, सही पूछो तो घोड़े के नाल की आकृति में खंड की व्यवस्था थी। सब सदस्य निश्चित एवं आरामप्रद स्थिति में विचार-विनिमय कर रहे थे। 'यदि बिहार को बंगाल से मिलाया गया—बिहारी के रक्त से रंजित होकर गंगा जी का जल हुगली में बहेगा'—एक सदस्य गर्जना कर रहे थे। हमारी मुखवस्त्रिका सब को आकर्षित कर रही थी। वहां से हम बड़ी सभा में आए—रचना छोटी

सभा की सी थी। हम गेलरी से देख रहे थे। इस समय बहुत से सदस्यों की दृष्टि मुखावरण पर पड़ी; वे आपस में चन्द सेकन्डों के लिए इस विषय की चर्चा करने लगे। आश्चर्य से देखते रहे।

हम बाहर आए। बाहर निकलते ही एक सदस्य प्रणाम कर बोले—'अरे! ऐसे पवित्र साधु बाबा को इस कर्दम-कोठड़ी (पापघर में) क्यों लाए ? अच्छा, ठीक ही हुआ, कुछ वायु-मंडल पवित्र होगा। इससे आप पता लगा सकते हैं—देश के भाग्य का निर्माण करने वाली उस राज्य संस्था के विषय में उसके सदस्यों के दिल में कैसे ख़याल हैं।

राज-भवन (गवर्नर-हाउस) नजदीक ही था। मैंने कहा—'हम लोग वहां चलें ?' विनयचंद्र जी ने कहा—'राजभवन देख सकेंगे; राज्यपाल से मिलना नहीं होगा।' मैंने कहा—'चलिये, जो मिलेगा वही देखेंगे।' वहां पहुँचे, प्रवेश द्वार पर एक खद्दरधारी भाई खड़े थे। हमने पूछा 'दिवाकर जी उपस्थित हैं ?' 'हां, अभी आये हैं।'

'हम मिलना चाहते हैं ?'

'ऐसे तो नहीं होगा।'

'आप जाकर पूछ आइये।'

'क्या आपने समय मांगा था ?'

'नहीं, आप कहिए, जैन-मुनि हैं'

'ऐसे हम नहीं जा सकते।'

'देखिए ! बाद में ज्ञात होगा, मुनि लोग आए थे, उनको दुख होगा।'

'यह तो आप सही कहते हैं; वे हैं धर्म-प्रेमी। बीड़ी तक नहीं पीते।'

'तब आप पूछिए।'

वे भीतर गए। हम अतिथि-प्रतीक्षालय में बैठे। थोड़ी विधि हुई। 'केवल दोनों मुनि जी से मिलेंगे'—अंगरक्षक ने कहा। समय १५ मिनट था। हम भीतर गए। श्री राज्यपाल दिवाकर जी खड़े हुए, प्रणाम किया। हमको कुर्सी पर बैठाया, फिर आप बैठे। वे सादी कुर्सी पर बैठे थे, कोट-पतलून पहने थे।

'बहुत अच्छा हुआ, आप मुनियों के दर्शन हुए'—वे बोले। 'आप कहां से आते हैं' ?

'हाल में रांची की ओर से आए हैं, वैसे हम गुजरात के हैं, चार साल से बिहार-बंगाल में ही विहार (भ्रमण) कर रहे हैं।'

'बहुत हर्ष का विषय है, पुनः आप इधर विचरण कर रहे हैं, मुस्करा कर बोले।

'इधर स्वतंत्र रूप से विचरना अधिक सफल होगा या राज्य का सहकार लेकर पर्यटन करना; इसमें आपका क्या अभिप्राय है ?'—मैंने प्रश्न किया।

'नहीं ! आप लोग मुनि-धर्मानुसार स्वतंत्र रूप से हितोपदेश दें और कार्य करें यही अधिक प्रभावोत्पादक होगा'—राज्यपाल जी ने उत्तर दिया।

एक मिनट सब मौन रहे। बाद में दिवाकर जी ने स्वयं अपनी ओर से प्रश्न किया—'मोक्ष के लिए क्यों प्रयत्न करना चाहिए ? जैसे शीत से बचने के हेतु वस्त्र पहनते हैं, जीवन के लिए भोजन करते हैं, मन-तृप्ति के लिए आनंद लेते हैं, वैसे मोक्ष का क्या प्रयोजन है ? मोक्ष के लिए क्यों यत्न करना चाहिए ?' मैंने उत्तर दिया—आपका प्रश्न सुंदर है, एवं गंभीर भी। यह आवश्यक प्रश्न है, इससे धर्म का रहस्य ज्ञात होता है। देखिए, मनुष्य जीवन में आंतर क्लेश होता है। इस आंतर क्लेश के बीज बहुत पुराने हैं, परंपरागत हैं। इस क्लेश से ही प्राणी अधिक पीडित हैं। इन आंतर क्लेशों से छूटने का ही नाम मोक्ष है, उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न किया जाता है। सर्व प्रथम भीतर में मोक्ष होता है। मोक्ष से पराधीनता दूर होती है, स्वातन्त्र्य मिलता है। इस प्रशस्त यत्न से बुराइयाँ खतम होती हैं। निर्बाध, निर्व्याज सुख का अनुभव मोक्ष का प्रयोजन है।

दिवाकर जी बोले—फिर यह अर्थ हुआ, जिससे दुःखानुभव हो, या बुराई हो उससे दूर रहना; किन्तु जिससे सुखानुभव हो, उसके त्याग की आवश्यकता नहीं—नाटक, मीठे भोजन आदि। कहा भी है—'अनुकूल वेदनीयं सुखं, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्'।

मैंने कहा—आपने जो कहा उसमें थोड़ा फरक है। आप जिसको सुख कहते हैं,वह सुख नहीं—सुखाभास है। वह पराधीन सुख है, इष्ट पदार्थ मिले तब सुख; अन्यथा दुःख। उसमें आकुलता, व्यग्रता एवं क्लेश है। मोह से ऐसा जान पड़ता है—अनुकूल वेदन है। जो स्वाधीन सुख है—उसमें पर-पदार्थ की अपेक्षा नहीं। ऐसे सुखानुभव में विरोध नहीं। यह स्वभाव-जन्य सुख है

यहां पर वार्तालाप समाप्त हुआ। इस बात से उन्हें आनन्द हुआ। फिर दिवाकर जी ने वैशाली के विषय में हमें अवगत कराया। अंत में हमने मांगलिक पाठ सुनाया। खड़े होकर उन्होंने वह श्रवण किया। बड़े हर्षपूर्वक हम अलग हुए। हमारा उनके लिए यह एक नूतन अनुभव था।

अहिंसक मधु

—श्री कस्तूरमल बांठिया

जैन शास्त्रों में मधु, मक्खन, मांस और मदिरा सब एक ही श्रेणी के अभक्ष्य कहे गए हैं। इन्हें महाविकृति या विगई भी कहा गया है जिनका प्रत्येक जैन को सर्वथा ही त्याग होना चाहिए। श्वेताम्बर जैनों में तो श्रावक के बारह व्रतों में से दूसरे गुणव्रत—भोगोपभोग परिमाण व्रत में इन चार महाविकृति या विगय का समावेश किया जाता है परन्तु दिगम्बर जैनों में तो स्वामी समंतभद्र से लेकर सभी आचार्यों ने श्रावक के अष्ट मूलगुणों में ही मांस, मदिरा और मधु तीनों को ले लिया है। स्वामी समंतभद्र ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जहां इनसे अतिरिक्त पाँच मूलगुणों में पाँच अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण लिये हैं, वहाँ अन्य आचार्यों ने पाँच उदुंबरादि फल—बड़ का फल, पीपल का फल, उंबर, अंजीर और उदुंबर गिनाए हैं। इन पाँच फलों के अभक्ष्य को अणुव्रत के समान महत्ता दिगम्बरों ने क्यों दी यह अवश्य ही विचारणीय है। जो भी हो, श्वेताम्बर आचार्य इस विषय में यह कहते पाए गए हैं कि 'यद्यपि मधु, मांस और मक्खन का तो साधु के लिए जीवन पर्यन्त सर्वथा परित्याग होता है तथापि अत्यन्त अपवाद दशा में बाह्य परिभोग वगैरह के लिए कभी ग्रहण करना पड़े तो ले सकता है, परन्तु चातुर्मास में तो सर्वथा निषेध है।'

जैन दर्शन सदा बुद्धिवादी रहा है। किसी भी बात को अंध श्रद्धा से मान लेने को वह नहीं कहता, इतना ही नहीं अपितु बुरा मानता है। परीक्षा के लिए उसने नयवाद का सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विवेचन किया है और इस विज्ञान को विकसित किया है। मौलिक पदार्थों का हमारा ज्ञान आज दिनों दिन इतना विकसित होता जा रहा है कि उनके संबंध में हमारे पूर्वजों का ज्ञान हमें अपूर्ण एवं त्याज्य सा लगता है। फिर उस ज्ञान में जब हम पूर्वाचार्यों में मतभेद पाते या देखते हैं तो भौतिक पदार्थों का उनका ज्ञान उचित साधनों के अभाव में आज जितना विकसित नहीं था, हमारी यह शंका और भी समर्थित हो जाती है। आज हम मधु संबन्धी हमारे प्राचीन ज्ञान की वर्तमान ज्ञान से तुलना करना चाहते हैं और आशा करते हैं कि हमारे आचार्यगण भी उस पर विचार करेंगे।

श्वेताम्बराचार्यों में दो मत

मधु की अभक्ष्यता के कारण के विषय में श्वेताम्बराचार्यों में दो मत हैं। एक तो कहता है कि मधु की प्राप्ति में असंख्य जीवों की हिंसा होती है और वह उच्छिष्ट है इसलिए मधु अभक्ष्य है। दूसरा मत कहता है कि मधु और मक्खन में उसी रंग के असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है, इसलिए वह अभक्ष्य है। आइए, पहले मधु की प्राप्ति संबंधी विज्ञान के विकास का ही विचार करें। यह तो स्वीकार कर लेना ही चाहिए कि आज भी इस देश में मक्खियों को भस्म कर, छत्तों को नष्ट कर और मक्खियों के अंडों और इल्लियों को कुचल कर ही अधिकांशतया मधु संग्रह किया जाता है हालांकि मधु प्राप्ति की अहिंसक रीति का आविष्कार हुए लगभग १०० वर्ष हो चुके हैं और पाश्चात्य देशों तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में अहिंसक मधु का बहुत बड़ा व्यवसाय ही स्थापित हो गया है। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग समिति अहिंसक मधु विज्ञान का प्रचार कर रही है और अपने तत्वावधान में कश्मीर में एवं अन्यत्र इस उद्योग को बढ़ा भी रही है। परंतु स्वीकार करना ही होगा कि यह उद्योग देश में अभी बाल्यावस्था में ही है। इसका एक कारण तो यह भी है कि हमारे यहाँ मधु का प्रयोग औषधि अनुपान के लिए ही होता आया है। मधु खाद्य रूप में भी अमूल्य है, इसे चाहे हम जानते रहे हों, परंतु उपयोग तो अभी तक भी नहीं करते हैं।

अहिंसक मधु कैसे प्राप्त होता है

जैसे सब जीव जीना चाहते हैं, मधुमक्खी भी जीना चाहती है। जब और जहाँ वह अपने जीवन को भयाक्रांत पाती है, वह अपनी रक्षा के लिए आक्रामक को दंशती या काटती है। अहिंसक मधुपाल मधुमक्खी में यह विश्वास जमाता है कि वह उसका रक्षक है, और ऐसा विश्वास जमा लेने पर उसे मक्खी कभी काटती ही नहीं है, यही नहीं उसे छत्ते में से मधु लेने में जरा भी बाधक नहीं होती है। इस वैज्ञानिक विधि का आविष्कार फ्रांसिस ह्यूबर नामक फरासीसी युवक ने किया था और उसके प्रचार के लिए उसने एक पुस्तक भी लिखी जो Huber's observation on Bees नाम से प्रकाशित हुई थी।

हमारे देश में इस विज्ञान का प्रारंभ सन् १८८४ ई० में श्री जे० सी० डगलस, डाक व तार विभाग के संचालक (Director) द्वारा हुआ था और उन्हें अपने अनुभव 'Hand book of Bee-keeping for India' पुस्तक में लिखकर प्रकाशित किये थे। एक दूसरा व्यक्ति था पादरी न्यूटन

जिसने त्रिचनापल्ली में मधुमक्खी पालन प्रारम्भ किया और इस कला में पर्याप्त प्रगति एवं विकास भी किया।

दैहिक रूप से मधुमक्षिका में एक अद्वितीय विचित्रता है। इस प्रजाति के किसी अन्य प्राणी में ऐसी विचित्रता नहीं पाई जाती है। वह विचित्रता है उसकी आंखें। इस जीव के पांच नेत्र होते हैं, तीन सामान्य और दो संयुक्त या मिश्र। पांच नेत्र होते हुए भी मधुमक्खी स्थिर या मंथर गति से चलने वाले पदार्थ को नहीं देख सकती। इससे मधुमक्खी पालक को मक्खियों का प्रबंध करने में बड़ी सहायता मिलती है।

कम नमी या सील और पर्याप्त वर्षा के प्रदेशों में मधुमक्खियां बहुत फलती-फूलती हैं क्योंकि ऐसे स्थानों में ही मकरन्द (nectar), पराग (polleu), छत्र-श्लेष (propolis) और जल उन्हें बहुलता से प्राप्त होता है। इन पदार्थों का संग्रह कर्मी मक्खी करती है जो अविकसित यौन गुणों वाली मादा-मक्खी ही यथार्थतः होती है। ये ही मक्खियां छत्ते का समस्त काम—जैसे कि छत्ता बनाना, उसे स्वच्छ रखना, उसकी रक्षा करना, अंडे सेना, रानी मक्खी की सेवा करना और सबके लिए भोजन लाना आदि करती हैं। मधुवृषभ यानी नरमक्ख निपट निकम्मे होते हैं। उनका पालन-पोषण और रक्षण इसीलिए किया जाता है कि वे रानी मक्खी से संयोग कर उसे निषिक्त करते हैं। रानी मक्खी सब छत्ते की माता होती है। वह मात्र अंडे देती है और तब तक जीवित रहती है जब तक कि उसकी अंडे देने की शक्ति क्षीण या नष्ट नहीं होती।

मधुमक्खियों का पालन संसार में आजकल इसलिए उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है कि इससे जहां मधु और मोम या मैन मिलता है, वहां ये मक्खियां खेतों और उपवनों के फलों के वृक्षों को जब वे उनसे मकरन्द एकत्रित करती हैं, परागित भी कर देती है और इस प्रकार फसलों की पैदावार में वृद्धि करती हैं।

इल्ली अवस्था में रानी और कर्मी मक्षिका में कोई अन्तर नहीं होता है। परन्तु रानी मक्खी का पालन राजस भोजन (Royal jelly) विशेष पर होता है जिसमें उसकी बढ़ौती त्वरित होती रहती है और वह पूर्ण रानी मक्खी बन जाती है। रानी अपने निकुंज में से १४ दिन पश्चात् जब बाहर निकलती है तब या तो वह सिंहासनस्थ रानी मक्खी द्वारा नष्ट कर दी जाती है या उसे कुछ कर्मी मक्खियों के साथ छत्ते से बाहर निकाल भगा देती है और छत्ते की रानी स्वयं बन बैठती है। फिर एक पर्याप्त उज्ज्वल दिन में यह रानी कुंतलाकार उड़ने लगती है और नरमक्ख उसका पीछा करते हैं। इनमें से एक

आगे बढ़कर आकाश ही में उससे संवेशित हो जाता है और संवेशित करते-रहते ही मर जाता है। इसके अनन्तर अन्य नरमक्ख उस छत्ते में से भगा दिये जाते हैं या स्वयं भाग जाते हैं क्योंकि वे तब भाररूप हो जाते हैं। संवेशन के ४८ घंटे पश्चात से रानी मक्खी अण्डे देने लगती है और छत्ते के अधोभागी एक-एक शायक कोश में एक-एक अण्डा देती जाती है। इन अंडों की परिचर्या परिचारक मक्खियाँ करती हैं, जिनमें से २० दिन के पश्चात् बच्चे निकल जाते हैं। वर्षा और शीत ऋतु में रानी मक्खी कम अंडे देती है। परन्तु वह दो से तीन वर्ष तक अंडे देती ही रहती है।

मक्खी पालक इन मक्खियों को आजकल ऐसी पेटी में रखते हैं जिनमें दो या अधिक खंड होते हैं। प्रत्येक खंड में अनेक काष्ठ चोखटे लम्बे लटकते रहते हैं। चोखटों के बीच में पर्याप्त अवकाश रहता है ताकि मक्खी स्वच्छन्दता से जा-आ सके। इस पेटी का सिर बन्द या ढका रहता है। मक्खियों का आना-जाना पेंदे से ही होता है। ऊपर के खंड के चोखटों में मोम छत्र होते हैं जिनमें कर्मी मक्खियाँ मधु संग्रह करती हैं। बीच के खंड के छत्ते अंडे देने के लिए ही काम आते हैं परन्तु उनके ऊपरी भाग में मधु संग्रह भी होता है। प्रत्येक चौखट के मधु संग्रह की या अभिजनन की स्वतंत्र रूप से परीक्षा की जा सकती है। जब मधुछत्र पूर्ण भर जाता है तो मक्खियाँ उन्हें पंखों द्वारा हवा कर बिजलीयत करती हैं। जल रहित हो जाने पर प्रत्येक कोष्ठ को मोम द्वारा ढककर मक्खियाँ ही बंद कर देती है।

इन मोम द्वारा ढके छत्र कोष्ठों से मधुनिष्काषिणी यंत्र द्वारा मधु निकाला जाता है। इस यंत्र में मधु भरा छत्ता रख दिया जाता और यंत्र घुमाया जाता है। घूमते हुए यंत्र में पड़े मधु छत्र से केन्द्रापग बल से (Centrifugal force) मधु अंडों, इल्लियों आदि को किंचिन्मात्र हानि पहुँचाए बिना ही निसर जाता है। मधु निःसारण पश्चात् छत्र पुनः पेटी में ज्यों के त्यों मधु संग्रहण के लिए रख दिये जाते हैं। निसृत मधु को छानकर बोतलों में भर उन्हें मोहर बंद कर बाजार में बिक्री के लिए भेज दिया जाता है।

संक्षेप में व्यवसाय रूप से मधु संचय करने की आधुनिक रीति उपर्युक्त है। इसका साहित्य अंगरेजी आदि भाषाओं में तो बहुत ही मिलता है, पर हिन्दी में भी विज्ञान कार्यालय, इलाहाबाद, और ग्रामोद्योग मंडल, मगनवाड़ी वर्धा से प्राप्त किया जा सकता है। खादी प्रतिष्ठान कलकत्ता ने भी इस पर एक अच्छा ग्रंथ (सचित्र) अंगरेजी में प्रकाशित किया है। प्रत्येक जैनाचार्य एवं जैन

श्रावक को मधुमक्खी पालन और मधु संग्रह प्रणाली को देखकर निर्णय कर चाहिए कि इस विज्ञान के विशेषज्ञों द्वारा उद्घोषित मधु संग्रहण पूर्णतया अहिं है या नहीं। पुरानी मान्यता विशेषकर भौतिक विषयों में जहां परीक्षणों द्वा नए-नए आविष्कार हो रहे हैं, टिकी नहीं रह सकती हैं। हमारा तो न निवेदन है कि मधु संग्रहण की आधुनिक रीति अवश्य ही अहिंसक है और दृष्टि से मधु अहिंसक रीति से संग्रह किया हुआ तो अभक्ष्य कदापि नहीं है

अब इसका भी विचार कर लिया जाए कि क्या मधु में असंख्य सूक्ष्म जीव की उत्पत्ति होती रहती है? जीवों की जहां उत्पत्ति होती हो, वह व सड़कर दुर्गंध देने लग जाती है। हमारे धर्मशास्त्रों में मक्खन और मधु उसी रंग के सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न होने की बात कही है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव को देखने के आजकल अणुवीक्षण यंत्र प्राप्य हैं। इन यंत्रों से परीक्षा क सत्यासत्य निर्णय कराना आज के बुद्धिवादी काल में अत्यन्त ही आवश्यक है मक्खन में अवश्य ही कुछ काल पश्चात् जीवोत्पत्ति हो जाती है और वह दुर्ग भी देने लगता है। परंतु प्रशीतकों (Refrigerator) अथवा बर्फ में रख से यह जीवोत्पत्ति स्थगित हो जाती है, यह अनुभूत सिद्ध है। आज के संसा में ये प्रसाधन जहां प्राप्त हों, वहां मक्खन को भी अभक्ष्य नहीं कहा जा सकता है। मधु में तो वर्षों तक जीवोत्पत्ति हुई नहीं देखी गई है। इसके अतिरिक्त मधु चाहे शर्करा के समान ही मीठा हो, परंतु शर्करा नहीं है। अतः उसके औषधिक गुण भी भिन्न हैं। इसीलिए आयुर्वेद में कितनी ही औषधियों को शर्करावर्जित रोगों में भी मधु के अनुपान से देना उपयोगी माना गया है। रासायनिकों ने परीक्षा द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उसमें ६१ से ७ प्रतिशत अंश उस शर्करा का होता है जिसे आज का चिकित्सा विज्ञान ग्लूकोज (Glucose) कहता है और १ प्रतिशत से भी न्यून साधारण शर्करा। आज के डाक्टर सभी प्रकार के रोगियों को शक्ति देने के लिए ग्लूकोज देना आवश्यक और अनिवार्य मानते हैं। मधु को आयुर्वेद में जो इतना महत्व दिया गया है इससे हमें अपने पूर्वजों की सूझ-बूझ की प्रशंसा करनी ही होगी।

मधु उच्छिष्ट होने से अभक्ष्य है, यह तर्क घृणा दिलाने के लिए ही दिया गया सा प्रतीत होता है। क्योंकि यदि मक्खियाँ फूलों में से मकरन्द अपने जीवन निर्वाह के लिए इकट्ठा करती होतीं तो फिर उन्हें मधुसंग्रह करने की आवश्यकता ही क्यों होती? और यदि यही सच हो कि उनका जीवन निर्वाह ही इस मधु से होता है तो भी वे इतना अधिक मधु संग्रह करती हैं जिसे वे खा नहीं

सकतीं। ऐसी दशा में उसको अहिंसक रीति से हम अपने उपयोग के लिए प्राप्त करें तो उसमें न तो कोई हिंसा है और न हानि ही।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं। आज के बुद्धिवादी युग में भौतिक जगत में 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक जगत की बात दूसरी है। इससे कोई इन्कार नहीं करेगा कि भौतिक चीजों के परीक्षण से आज सूक्ष्मातिसूक्ष्म यंत्र एवं ज्ञान जो हमें प्राप्त हैं, हमारे पूर्वजों को उनका स्वप्न तक भी नहीं था। इसमें सर्वज्ञता का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः हमें मधु की परीक्षा को ही लेकर भक्ष्याभक्ष्य की बातों का प्रत्यक्ष परीक्षण कराना चाहिए; यही नहीं परीक्षा के लिए ऐसी प्रयोगशाला ही स्थापित कर देनी चाहिए और यदि इस परीक्षण से प्राचीन मान्यताओं को हम प्रमाणित कर सकें तो हम जैन दर्शन पर अनेक भौतिकवादियों को विश्वास करा सकेंगे। और यह हमारी एक बड़ी सांस्कृतिक विजय होगी। भौतिक जगत में रहते हुए हम उसे हेय कहकर कदापि जीवित नहीं रह सकते।

हमारे आचार्यों अथवा आचार्यों द्वारा प्रेरित वैज्ञानिकों के परीक्षण और पर्यवेक्षण से यह संतोष हो जाए कि वैज्ञानिक रीति से मधुमक्खी पालन और मधुसंग्रह निःसंदेह ही पूर्ण अहिंसक है, तो इसको व्यावसायिक रूप से करने का जैनों को प्रोत्साहन भी दिया जाना चाहिए। इससे द्रव्य, धर्म और भाव —तीनों ही प्रकार से हमें लाभ होगा। मधुमक्खी पालन का व्यवसाय बिलकुल अवकाश के समय में अन्य व्यवसाय को चलाते हुए ही किया जा सकता है। फिर यह घाटे का व्यवसाय तो है ही नहीं। आय थोड़ी हो, पर अवश्य होती ही है। और सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि मधुमक्खी पालक के परिवार को अपने परिवार के बच्चे, बूढ़े और जवान सभी के लिए एक ऐसा पौष्टिक खाद्य भी मिल जाएगा जिसकी प्रशंसा में आयुर्वेद और एलोपैथी सभी एक मत हैं। अहिंसक व्यवसाय को प्रोत्साहन देना तो हम जैनों का परम कर्तव्य है। जितना ही देश में अहिंसक मधुमक्खी पालन व्यवसाय का प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही शीघ्र हिंसक मधु संग्रहण व्यवसाय बंद हो जाएगा। यही तो हमारे धर्म का मूल मंत्र है। हिंसक व्यापार व्यवसाय के निषेध का उपदेश देना जितना आवश्यक है उससे कहीं अधिक इस अहिंसक व्यवसाय के प्रचार का उपदेश देना आवश्यक है।

साधु सम्मेलन के लिए कुछ सुझाव

—श्री कृष्णचन्द्राचार्य

साधुभाव की स्थापना

आज से लगभग चार वर्ष पहले सादड़ी में बृहत् साधु सम्मेलन हुआ था। तब बड़ी संख्या में साधुओं ने मिलकर एक ऐसा क़दम उठाया था, जो जैन समाज के इतिहास में ही नहीं, बल्कि अन्यत्र भी बेजोड़ कहा जा सकता है। एक बहुत ही विचारशील साधु ने सादड़ी सम्मेलन की सफलता को सिद्धि कहा था। उसने यह भी कहा था कि इस सिद्धि को यों ही नहीं खो देना चाहिए। समूचे जैन समाज में इतने गच्छ, उपगच्छ एवं सम्प्रदाय भेद हैं, जिनकी गिनती करना सरल नहीं है। एक स्थानकवासी जैन समाज में ही, बीस-पचीस नहीं, बल्कि बत्तीस टोले कहलाने लगे थे। 'बाईस टोले' के नाम से तो यह प्रसिद्ध ही था। इस समाज के कुछ गृहस्थ नेता बड़े समझदार और क्रान्तिकारी निकले, जिन्होंने साहस करके कान्फरेंस के द्वारा इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया, तथा साधु समाज को संगठित होने के लिए विवश कर दिया। इस काम में जो कठिनाइयां थीं, उन्हें भुक्तभोगी ही जानते हैं। अन्त में कान्फरेंस और इसके नेताओं को बड़ा श्रेय मिला। सबसे बड़ी विशेषता थी, इस समाज के साधुओं की। जिन्होंने गुरु परंपरागत पदवियों को विशाल जनता के समक्ष बोसरा कर अभूतपूर्व त्याग का आदर्श उपस्थित किया। उस दृश्य को देखकर लगता था कि इस समाज में सचमुच जीवन है, और इस समाज के साधुओं में साधुभाव। दूसरी समाजों ने भी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की और अपने लिए स्थानकवासी जैन साधुओं के संगठन को एक प्रेरक उदाहरण माना।

जैन समाज के इतिहास में यह अपूर्व घटना थी, इसमें संदेह नहीं। पर इस संगठन का जो मुख्य प्रयोजन साधुभाव की स्थापना था, साधुओं के आचार-विचार की शिथिलता को हटाकर उनमें आत्म-जागृति पैदा करने का जो भाव था, वह पूरा नहीं हुआ। किसी समाज या संप्रदाय को बलवान बनाना ही साधु संगठन का प्रयोजन नहीं हो सकता। साधुओं में साधुभाव की वृद्धि हो, शिथिलाचार दूर हो तभी वे अपना व दूसरों का कल्याण कर सकते हैं।

इतना ही नहीं, राष्ट्र का कल्याण भी सच्चे साधुभाव में ही निहित है। अतः अब जबकि भीनासर (बीकानेर)में फिर से साधु सम्मेलन हो रहा है, सबकी यह इच्छा स्वाभाविक है कि संगठन के साथ ही साधुभाव की भी वृद्धि हो। स्थानकवासी जैन समाज का तो सारा दारोमदार ही साधुओं पर रहा हुआ है। जितने ही सच्चे त्यागी और वैरागी साधु होंगे, उतनी ही समाज को प्रेरणा मिलती है, उसकी श्रद्धा में वृद्धि होती है, गौरव का अनुभव होता है। साधुओं का आचार-विचार जितना शिथिल होगा, समाज भी श्रद्धाहीन व कमजोर बनता जाएगा। इसके पास साधुओं के सिवाय मंदिर, मूर्ति आदि दूसरे साधन भी तो नहीं हैं, जिससे श्रद्धा बनी रह सके। इसलिए यह आवश्यक है कि सभी साधु मिलकर इस बात पर भी भलीभांति विचार करें। इतिहास बतला रहा है कि बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचार-प्रसार रहने पर भी भिक्षुओं के आचार-विचार की शिथिलता के कारण ही वह भारत से लुप्त हो गया। इसके विपरीत अल्पसंख्यक जैनधर्म बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में से गुजर कर भी आज तक जीवित रह सका। इसमें मुख्यतया जैन साधुओं के त्याग-वैराग्य एवं आचार-विचार की ही विशेषता समझनी चाहिए।

सादड़ी सम्मेलन में साधुओं के संगठन का सबसे बड़ा प्रश्न हल हो जाने के बाद अब भीनासर के सम्मेलन का परम लक्ष्य साधुओं के आचार की शिथिलता को दूर करना ही होना चाहिए। साधु-आचार की शिथिलता की परिभाषा सरल नहीं है। फिर भी बहुत सी बातों का निर्णय आगमों को प्रमाण मानकर किया जा सकता है। कई बातें ऐसी हैं, जिनका निर्णय आगमों से भी नहीं हो सकता, उनका निर्णय समय व युग को पहचान कर करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए ध्वनिवर्धक यंत्र के उपयोग का प्रश्न विवादास्पद है। यह तो निश्चित है कि समाज के अच्छे से अच्छे प्रतिष्ठित साधु भी इसका उपयोग कर चुके हैं, फिर भी समाज में उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा है। युग की माँग इतनी जबरदस्त है कि आज आप मानें या न मानें, थोड़े ही दिनों में इसका उपयोग होने लगेगा। ऐसी स्थिति में बुद्धिमत्ता कहती है कि इस ध्वनिवर्धक यंत्र का उपयोग साधु के लिए वर्जित न रहे। हाँ, कुछ बातों का बन्धन अवश्य रहना चाहिए। स्वयं साधु इसके लिए कभी कुछ न कहे सुने, अनुमोदना तक न करे, गृहस्थ लोग स्वयं ही समझें, तो इसकी व्यवस्था करें या न करें। साधु सर्वदा तटस्थ रहे। वरन् इसका भी दुरुपयोग होने लगेगा। साधु परावलम्बी बनते जाएंगे। छोटी मोटी

परिषदा में भी उन्हें बोलना कठिन हो जाएगा। आज भी सार्वजनिक व्याख्यानादि का गृहस्थ लोग जैसे अपनी बुद्धि व समझ से समय देखकर स्वयं ही व्यवस्था कर लेते हैं, यही दृष्टि ध्वनिवर्धक यंत्र आदि के उपयोग में भी रहनी चाहिए। बिजली सचित्त है या अचित्त इसका निर्णय करना आज सरल नहीं है। यह सिर्फ केवलिगम्य है। युक्तियाँ दोनों ओर मिल जाती हैं। युग की माँग व आवश्यकता इसे लाकर रहेगी—यह भी निश्चित है। तब बुद्धिपूर्वक उपयोग में क्या बुराई है, अबुद्धिपूर्वक आने से तो दुरुपयोग ही होगा। इसी तरह केला सचित्त है या अचित्त, इसका निर्णय भी सरल नहीं है। केला भोग की चीज है। इस विषय में विवाद खड़ा न करके इच्छापूर्वक त्याग देने का मार्ग ही सबसे अच्छा हो सकता है। त्याग में कोई बुराई नहीं है।

साधु सम्मेलन के सामने सबसे जटिल प्रश्न नए और पुराने साधुओं के विचारों के संघर्ष का है। पुराने साधु जहाँ हरएक चीज पर बन्धन थोपना चाहते हैं, वहाँ नए युग के साधु विद्रोह करते हैं। इस बात से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। यह जीवन का परिचायक है। फिर भी कहीं न कहीं तो मर्यादा रखनी ही होगी। नवीन विचार के साधुओं को कोई बात ऐसी नहीं करनी चाहिए, जो साधु-आचार के विरुद्ध हो। उनके लिए सबसे मुख्य साधुभाव है, न कि प्रवृत्तियों में खुलकर दखल देना या दिलाना। उन्हें यह ध्यान रखना है कि साधुभाव यदि है, तो सब कुछ है, वरन् कुछ भी नहीं। वे इसके लिए प्रतिज्ञाबद्ध भी तो हैं। फिर भी धर्म के प्रचार-प्रसार आदि में ही उनका दिल लगता हो, तो अच्छा होगा कि दिगंबर समाज की तरह श्वेताम्बर समाज में भी ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक, मुनि आदि की तरह श्रेणियां बना दी जाएँ। इसका अर्थ यही है कि जैनधर्म का सर्वोच्च आदर्श जो साधुभाव है, उसे क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए।

कुछ बातें ऐसी सहज सी हो गई है कि उन्हें अब आचार की शिथिलता कहना या समझना ही कठिन हो रहा है। उदाहरणार्थ, दशवैकालिक के 'एग-भत्तं च भोयणं' को ही लीजिए। साधुओं की दिनचर्या में एक बार से अधिक भोजन के लिए कहीं गुंजाइश नहीं है। पर आज तो एक दो बार का भी प्रश्न नहीं रहा है। दिन रहते जब चाहें, जितनी बार चाहे भोजन किया जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं में आज भी दिन के बारह बजे के बाद विकाल भोजन गिना जाता है। सायंकाल को भोजन करने से रात्रि भोजन का दोष लगे बिना नहीं रह सकता, यह मानना होगा। भोजन संबन्धी शिथिलता

का प्रभाव साधुओं के आचार-विचार तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि समूचे साधु समाज के स्वास्थ्य पर भी इसका घातक प्रभाव पड़ा है। कोई ही भाग्य-शाली साधु-साध्वी होगा, जो रोगों से बचा हो। चौबीस घंटे में एक बार भोजन होता, तो आज साधु समाज का स्वास्थ्य कहीं अच्छा होता। कहने को कई बातें कही जा सकती हैं, पर अनुभव यह बता रहा है कि साधुओं के भोजन में सुधार हो जाए तो स्वास्थ्य लाभ के साथ-साथ साधुओं की कार्य करने की शक्ति में भी वृद्धि हो सकती है। मेरा यह आशय कदापि नहीं कि दिगम्बर मुनियों की तरह बिना सोचे समझे इतना कड़ा नियम बना दिया जाए कि भोजन के समय ही चौबीस घंटे के लिए जल भी पी लिया जाए। इस प्रवृत्ति की जड़ में भी विचारशीलता का अभाव है। शरीर व स्वास्थ्य के लिए भी यह प्रवृत्ति घातक है। होना यह चाहिए कि दिन में जल खुला रहे। अन्न वर्जित दूध व अचित्त फलादि पदार्थ भी दो से अधिक बार न लिये जाएँ। भोजन चौबीस घंटे में एक बार हो और वह भी मिताहार। त्यागी जीवन के लिए सचमुच ही यह वरदान सिद्ध होगा।

स्वाध्याय और ध्यान

दूसरी बात है स्वाध्याय और ध्यान की। साधु के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अनिवार्य होना चाहिए। प्रतिक्रमण के समय हर रोज पढ़ा जाता है कि 'चउकालं सज्झायस्स अकरणयाए' अर्थात् दिनरात में चार बार स्वाध्याय न करने से प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। आज साधु लोग इस बात को भूलते से जा रहे हैं। स्वाध्याय तो साधु जीवन का प्राण है। फिर आज के युग में तो केवल शास्त्र स्वाध्याय से भी काम नहीं चल सकता, जब कि ज्ञान-विज्ञान इतना बढ़ चुका है। जो त्यागी होकर भी ज्ञान-विज्ञान से परिचित नहीं होगा, वह भला समाज या राष्ट्र को क्या दे सकेगा? इसलिए शास्त्र-स्वाध्याय के साथ ही दूसरा अध्ययन होना भी जरूरी है। गृहस्थों को भी स्वाध्याय के लिए प्रेरित करना चाहिए।

रही बात ध्यान की। जैन समाज में क्रियाकांड पर जितना जोर दिया जाता है, उतना ध्यान व योग आदि पर नहीं। साधुभाव की वृद्धि के लिए इस ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

त्यागियों की श्रेणियाँ

सब से मुख्य बात है त्यागभाव में रस आने की। जब तक यह नहीं होगा, उक्त सब बातें सिद्धि देने वाली नहीं हो सकतीं। साधु-वेश धारण

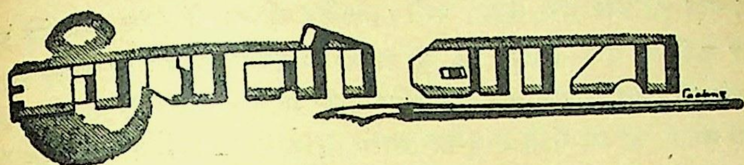
करते ही त्यागभाव आ जाता है, या साधुपन का स्पर्श हो जाता है, यह बात नहीं है। इसलिए सबसे अच्छा है कि त्यागियों की श्रेणियाँ बना दी जाएं। दिगम्बर समाज में ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, मुनि आदि की श्रेणियाँ हैं, श्वेताम्बर समाज में यह कुछ नहीं है। यही कारण है कि साधुभाव शिथिल हो रहा है। जिससे धर्म व समाज को भी बड़ी ठेस पहुँच रही है। त्यागियों की श्रेणियाँ बन जाने से अपनी-अपनी रुचि व सामर्थ्य के अनुसार चुनाव किया जा सकेगा। हम देख रहे हैं आज साधु समाज में बहुतेरे ऐसे हैं, जिनका झुकाव साधुभाव की ओर कम है, धर्म के प्रचार तथा राष्ट्र व समाज की सेवा में वे अधिक उत्साही हैं। उनके लिए भी समाज में प्रतिष्ठित स्थान होना चाहिए।

श्रमण संस्कृति के अनुकूल पद और नाम

सादड़ी साधु सम्मेलन में गणी, उपाध्याय आदि पद हटाकर प्रधान मंत्री, सहमंत्री आदि पद रखे गए थे। जिनका श्रमण संस्कृति तथा त्यागीभाव के साथ मेल नहीं बैठता। और न उन्हें शास्त्रों के अनुसार ही कहा जा सकता है। ये तो विशुद्ध राजनीतिक पद हैं। सच पूछा जाए, यह प्रधान मंत्री आदि पद एक त्यागी साधु के लिए निरे जंजाल से बनते जा रहे हैं। दफ्तरी कार्यवाही के बढ़ने से बाक़ायदा दफ्तर व फाइलें बनती जा रही हैं। अच्छा हो, भीनासर का साधु सम्मेलन इस बात पर पुनर्विचार करे। आवश्यकता होने पर उपाध्याय, गणी, वाचक आदि शास्त्रीय पद रखे जाएँ। यह भी उन्हीं को दिये जाएँ जिनमें उक्त पदवियों के योग्य गुण हों। उपाध्याय या वाचक वही बने, जो विद्वान होने के साथ अध्ययन-अध्यापन में पूरा रस लेता हो। यही बात गणी या प्रवर्तक आदि के बारे में भी होनी चाहिए।

रही बात साधुओं के नाम परिवर्तन की। स्थानकवासी तथा तेरापंथी साधु इस ओर ध्यान कम देते हैं। जैन दीक्षा लेने या त्यागी बनने के साथ ही पहले के गृहस्थ नाम में परिवर्तन अवश्य होना चाहिए। नाम श्रमण-संस्कृति एवं त्यागी-जीवन के अनुकूल होना चाहिए। नाम के अन्त में ऋषि, मुनि आदि का भी निश्चय किया जा सकता है, जैसा कि वर्तमान में कुछ-कुछ चालू भी है।

बहुत थोड़े में ये कुछ बातें रखी हैं। योग्य जँचने पर विचार व निर्णय हो तो अच्छा। हार्दिक भावना यह है कि भीनासर (बीकानेर) के साधु सम्मेलन में साधुभाव की स्थापना एवं वृद्धि हो।



मधुवन में

चौबीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि जैन तीर्थक्षेत्र सम्मेद-शिखर पर्वत की तलहटी मधुवन में ता० १०, ११, १२ फरवरी को एक विशाल सांस्कृतिक समारोह हुआ। इस अवसर पर भारत के सुप्रसिद्ध उद्योगपति दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी की अध्यक्षता में विख्यात आध्यात्मिक संत क्षुल्लक श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी की ८२ वीं जन्म-जयन्ती और स्याद्वाद महा-विद्यालय बनारस की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गईं। तथा साहू जी की धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी की अध्यक्षता में जैन महिला परिषद का ३८ वाँ अधि-वेशन भी हुआ। जनता आशा से बहुत अधिक पहुँची थी, जिससे स्थान आदि के प्रबन्ध में प्रबन्धकों को बड़ी कठिनाई हुई। दिगम्बर श्वेताम्बर तीनों विशाल धर्मशालाएँ और अन्य स्थान भी खचाखच भर चुके थे। बहुत सी तंबू-तंबोटियों का प्रबन्ध था। फिर भी बहुतों को खुले मैदान में ही रहना व सोना पड़ा। बिजली और पानी आदि की समुचित व्यवस्था थी। लगभग दस हजार आदमियों के बैठने योग्य एक विशाल पंडाल बनाया गया था, जो बिजली, तोरण, पताकाओं आदि से कलापूर्ण सजाया गया था।

ता० १० फरवरी को पहले दिन, दिन के १ बजे से भगवान ऋषभदेव की निर्वाण जयन्ती मनाई गई थी। आदिदेव भगवान ऋषभदेव के संबन्ध में पं० हीरालाल जी और श्री अगरचन्द जी नाहटा आदि विद्वानों के भाषण बहुत ही महत्व के और आकर्षक रहे। पूज्य वर्णी जी के प्रवचन प्रायः तीनों दिन होते रहे, जिनको जनता बहुत ही श्रद्धा और प्रेम से सुनती थी। कवियों के भजन व कवितापाठ भी बीच-बीच में होते रहे, जो कि बहुत ही मधुर-मनोहर एवं जीवन स्पर्शी थ।

ता० ११ फरवरी को प्रातः के अधिवेशन में वर्णी जी का बहुत ही हृदय-ग्राही प्रवचन हुआ और श्री विनयकुमार जी 'पथिक' ने आध्यात्मिक भजन सुनाया। पं० वंशीधर जी न्यायालंकार पर दोनों का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हृदय द्रावक दृश्य उपस्थित हो गया। पंडित जी भावावेग में वर्णी जी के पास आकर रोने लगे और वर्णी जी से प्रार्थना करने लगे कि मैं संसार के कष्टों से

ऊब गया हूँ, आप मेरा उद्धार करो। पंडित जी काफी समय तक रोते रहे और वर्णी जी उन्हें सांत्वना देते हुए अपनी चादर से उनके आँसू पोंछते रहे। वातावरण इतना स्निग्ध और द्रावक बन गया था कि स्वयं वर्णी जी, साहू जी तथा जनता की आँखों में आँसू छलछला आए। तब वर्णी जी ने पंडित जी को सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का व्रत दिया।

११ फरवरी की दोपहर को १ बजे से मुख्य अधिवेशन हुआ। उपस्थित सज्जनों में पूज्य वर्णी श्री गणेश प्रसाद जी आदि ३०–४० त्यागी ब्रह्मचारी, मुनि श्री मल्लिसागर जी आदि ६–७ दिगम्बर मुनि, पं० वंशीधर जी न्यायालंकार आदि अनेक विशिष्ट विद्वान, साहू शान्तिप्रसाद जी व सेठ गजराज जी आदि प्रतिष्ठित धनपति, आदर्शमूर्ति पं० चन्दाबाई व कृष्णाबाई जी आदि महिला रत्न तथा पं० विनयकुमार जी 'पथिक' एवं पं० ताराचन्द जी 'प्रेमी' आदि अनेक प्रसिद्ध कवि एवं गायक विद्यमान थे।

सर्व प्रथम मंगलाचरण के बाद समर्थन अनुमोदन होकर साहू शान्ति प्रसाद जी ने अध्यक्ष का आसन ग्रहण किया। स्वागताध्यक्ष सेठ गजराज जी ने अपना स्वागत-भाषण पढ़ा। पश्चात् अध्यक्ष महोदय ने अपना छपा हुआ भाषण पढ़ना शुरू किया। थोड़ी देर बाद आपने कहा, छपा हुआ भाषण तो आप सब लोग पढ़ ही लेंगे। अतः वे अपने विचार स्वतंत्र रूप से रखने लगे। साहू जी के धर्म, समाज तथा शिक्षण संबन्धी उदात्त एवं सुलझे हुए विचारों को सुनकर सभी प्रभावित हुए। सबको लगा कि साहू जी धनपति ही नहीं, बल्कि विचारपति भी हैं। बोलने का ढंग बड़ा सहज एवं सरल है। एक-एक बात का विश्लेषण भी खूब करते हैं। साहू जी के बाद उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् आदि विशिष्ट व्यक्तियों के संदेश पढ़े सुनाए गए। उपस्थित महानुभावों ने तथा श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस की ओर से मैंने वर्णी जी और स्याद्वाद विद्यालय के प्रति शुभ भावनाएँ व विचार रखे। अन्त में वर्णी जी ने अपना प्रवचन किया। साहू जी ने अपने भाषण के अन्त में दान की घोषणा कर दी थी, और साथ ही दान के लिए जनता से अपील भी साहू जी ने ही की थी। जिससे प्रभावित होकर जनता ने दान की वर्षा शुरु की। स्याद्वाद महाविद्यालय के लिए साहू जी ने ५१०००) रु० के दान की घोषणा की। स्वागताध्यक्ष सेठ गजराज जी के २१०००) रु० का दान साहू जी के द्वारा घोषित किया गया। ११०००) रु० सेठ माणिक चन्द जी काला ने कहा। विद्यालय के भूतपूर्व स्नातकों ने १००००) रु० का चैक पं० वंशीधर जी न्यायालंकार की मार्फत वर्णी जी के चरणों में भेंट किया। वर्णी जी ने उसे विद्यालय

को दे दिया। इसके बाद रात्रि में भी दान की घोषणाएँ हुईं। लगभग सवा लाख रुपये का दान विद्यालय को मिला। रात्रि में दान की वर्षा के साथ-साथ विद्वानों के भाषण और कवियों के कवितापाठ आदि भी हुए। अधिकतर भाषणों एवं कवितापाठों में वर्णी जी के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गई थीं।

ता० १२ फरवरी को तीसरा दिन था। प्रातः पं० जगन्मोहन लाल जी का प्रवचन बहुत ही प्रभावक था। बाद में डॉ० हीरालाल जी का महत्वपूर्ण भाषण हुआ। आप बिहार सरकार की ओर से भगवान महावीर की जन्मभूमि वैशाली में स्थापित होने वाले वैशाली जैन ज्ञानपीठ के डाइरेक्टर बने हैं। आपने अपने भाषण में वैशाली के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया कि वैशाली ही भगवान की जन्मभूमि क्यों है? आगमों में भगवान को 'अरहा भगवं वेसालिए' वैशालिक–वैशाली का निवासी क्यों कहा गया है। कुण्डलपुर को भ्रम से कुण्डपुर मान लिया गया है। कुण्डपुर वैशाली का ही उपनगर था। वैशाली के पास आज भी ढाई एकड़ जमीन ऐसी है, जहाँपर ढाई हजार वर्ष में किसानों ने कभी हल नहीं चलाया, सिर्फ दीपक ही जलाए जाते हैं। वैशाली के लम्बे-चौड़े खँडहर उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में मिलते हैं। जहाँ बिहार सरकार की ओर से प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को महावीर जयन्ती मनाई जाती है और एक लाख के लगभग जनता इकट्ठी होती है। इस प्रदेश की जथरिया जाति ही संभवतः ज्ञातृ जाति है, महावीर स्वयं ज्ञातृ जाति या वंश के थे।

इसके बाद वर्णी जी का प्रवचन हुआ। पश्चात् साहू शान्तिप्रसाद जी को 'श्रावक शिरोमणि' की पदवी देने का प्रस्ताव आया। अच्छे से अच्छे विद्वान भी साहू जी को पदवी देने के बहाव में बह गए पर साहू जी ने किसी तरह की पदवी लेना स्वीकार नहीं किया। इस अवसर पर वे दिल खोल कर बोले, जैन समाज और जैन पंडितों की संकीर्णता तथा रूढिप्रियता की खूब भर्त्सना की। अन्त में आपने भरे हुए कंठ से आभार प्रकट करते हुए कहा कि मैं बिना किसी तरह के पद के ही धर्म और समाज की सेवा करता रहूंगा। इस समय स्वयं साहू जी की आँखों से आँसू छलछला रहे थे, जनता भी हैरान थी। उस समय का दृश्य भी बड़ा ही हृदय-द्रावक बन गया था।

इसी दिन दोपहर में जैन महिला परिषद का ३८ वाँ अधिवेशन भी हुआ। अधिवेशन की स्वागताध्यक्षा सेठ गजराज जी की धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी थीं, और अध्यक्षा थीं साहू जी की धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी। इस

परिषद ने महत्व के प्रस्ताव पास किये। सभाध्यक्षा महोदया ने ११ हजार और स्वागताध्यक्षा ने ५ हजार के दान की घोषणा की। इस तरह से महिला परिषद को भी २५-३० हजार रुपया दान में मिला। इस परिषद की संस्थापिका व संचालिका आदर्शमूर्ति पंडिता चन्दाबाई आदि महिलाएँ हैं। परिषद के कारण महिलाओं में जागृति आई है, और उनका अच्छा संगठन हुआ है।

रात्रि में भी महिला परिषद का अधिवेशन चालू रहा। इस समय टीकमगढ की एक जैन बालिका की अद्भुत बुद्धि व क्षयोपशम का मंच पर परिचय दिया गया। यह लगभग पाँच साल की बालिका पुस्तक पर से हिन्दी, बंगला, संस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाएँ पढ़ सकती है। संस्कृत के कई स्तोत्र और आत्मसिद्धि आदि ग्रन्थ तो जबानी भी सुना देती है। यह बालिका अपने पिता के साथ आई थी, अपना नाम पद्मावती देवी बताती थी।

मैंने देखा कि इस समारोह के प्राण तीन व्यक्ति थे, जिन पर बहुत अधिक दायित्व था। परेशानी व परिश्रम भी उन्हें ही उठाना पड़ा। वे थे—स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, परमोत्साही प्रो० श्री खुशालचन्द जी गोरावाला, सुप्रसिद्ध समाजसेवक सेठ छोटेलाल जी कलकत्ता निवासी। इन तीनों और इनके कुछ उत्साही सहयोगियों के अथक प्रयत्नों के कारण मधुवन का यह सांस्कृतिक समारोह सफल और आकर्षक होने के साथ ही ज्ञानवर्धक भी रहा।

—कृष्णचन्द्राचार्य (दर्शक)

आचार्य नरेन्द्रदेव

जीवन रक्षा की लाख चेष्टा करने पर भी अखिल भारतीय प्रजा-समाजवादी दल के अध्यक्ष, सुप्रसिद्ध विचारक, शिक्षाविद्, वक्ता और लेखक आचार्य नरेन्द्रदेव जी का देहान्त गत १९ फरवरी को कोयम्बटूर में हो गया, यह समाचार 'श्रमण' के पाठकों ने बड़े ही शोकमग्न हृदय से सुना होगा।

आचार्य जी गत अक्टूबर में ६६ वर्ष के हुए थे। वे दमे से पीड़ित थे और उन्हें कभी-कभी सांस लेने में तकलीफ होती थी। लखनऊ के गांधी मेमोरियल अस्पताल में अरसे तक इलाज होते रहने पर भी जब उनके स्वास्थ्य में कोई विशेष सुधार न दिखा, तो वे विश्राम करने के लिए गत ६ जनवरी को कोयम्बटूर गए। वहाँ उनका स्वास्थ्य कुछ सुधार पर था। १९ जनवरी को देहान्त होने के करीब आधा घंटा पूर्व तक वे बिल्कुल ठीक दिखलाई पड़

रहे थे किन्तु बाद में अचानक ही उनकी हालत बिगड़ने लगी और सायं ठीक ५ बजकर १० मिनट पर सहसा हृद्गति बन्द हो जाने से उनकी मृत्यु हो गई।

आचार्य जी का जन्म ३१ अक्टूबर १८८९ को सीतापुर में हुआ था। आपकी शिक्षा म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद तथा क्वींस कालेज, बनारस में हुई। राजनीति की ओर आपका झुकाव प्रारंभ से ही रहा। आप प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री थे। काशी विद्यापीठ के आप करीब १० वर्ष तक आचार्य रहे। आप लखनऊ तथा काशी विश्वविद्यालय के कुलपति और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष भी रहे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी होने पर आचार्य जी में अहंकार लेशमात्र भी न था। व्यक्तिगत एवं राजनीतिक विचारों में मतभेद होते हुए भी वे विभिन्न राजनीतिक विचार धाराओं के लोगों से मुस्कराते हुए मिलते थे और मित्रवत् व्यवहार करते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक आचार्य जी कांग्रेस में थे पर बाद में मार्क्सवाद तथा समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए और कांग्रेस से पृथक होकर समाजवादी दल का संगठन किया।

वे त्यागी और साहसी नेता थे। उनकी सूझ-बूझ विलक्षण थी। भारतीय संस्कृति, इतिहास, संस्कृत भाषा, महायान, बौद्धदर्शन और पालि-प्राकृत के वे उद्‌भट विद्वान थे। जो गुण उनका निजी था, जो उनमें ही अनन्य-साधारण था, वह उनकी ऐसी मानवता थी जो एक क्षण के लिए भी भी उन्हें न भूलती थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'वे बोधिसत्व की साक्षात् प्रतिमा थे।' चरित्र और व्यक्तित्व के अनेक गुणों में वे बहुत ही ऊँचे धरातल पर थे। वे इतने निरभिमान थे कि उनके व्यक्तित्व को पद का गौरव कभी छू नहीं पाया और वे अपने शील से स्वयं इतने महान थे कि उन्हें और किसी प्रकार के कृत्रिम गौरव की आवश्यकता नहीं थी।

विद्वान के नाते वे समालोचक, नीर-क्षीर विवेकी और यथार्थवादी थे। बौद्धदर्शन उनका प्रिय विषय था। उन्होंने समग्र बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बौद्धदर्शन तथा पालि के क्षेत्र में उन्होंने जो कष्टसाध्य विद्वत्ता अर्जित की थी उससे कम लोग परिचित हैं। वस्तुतः इतिहास और संस्कृति के अध्ययन से ही वे बौद्धदर्शन की ओर आकृष्ट हुए। इतिहास, दर्शन तथा समाज शास्त्र के अध्येता के रूप में उन जैसा अन्य व्यक्ति कोई नहीं। उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द ने ठीक ही कहा है कि 'आचार्य जी प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के इने-गिने विद्वानों में से थे जिनकी

संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है।' हिमाचल की तरह अचल तथा सिंधु की तरह गंभीर उनका व्यक्तित्व था। पालि, प्राकृत, संस्कृत, उर्दू और फारसी तथा फ्रेंच के प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ ही साथ वे पुरातत्व विद्या, समाजशास्त्र व बौद्धदर्शन पर अधिकार पूर्वक बातें करते थे। हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी पर उन्हें पूर्ण अधिकार था। तीनों में वे भाषण देने में दक्ष थे। उन जैसे वक्ता विरल ही हैं। अध्ययन और मनन उनका जीवन था। देश के माने हुए शिक्षाशास्त्रियों में उनकी गिनती थी।

आचार्य जी का निजी जीवन भी बड़ा निर्मल और आदर्शपूर्ण था। उनकी सारी जिन्दगी त्याग और संयम की कहानी है। उनके निजी जीवन का सबसे आकर्षक पहलू उनकी आत्मीयता और वजादारी थी। जाने-बेजाने और छोटे से लेकर बड़े तक सभी के साथ वे पूर्व परिचय की मुस्कराहट के साथ मिलते थे और दिल खोलकर बात करते थे। विनोद तो उनके स्वभाव में कूट-कूटकर भरा हुआ था। सिंह की तरह साहसी और मेमने की तरह मासूम आचार्य जी के व्यक्तित्व की अपनी विशेषता थी। वे देश के गिने-चुने श्रेष्ठ वक्ताओं में थे। आपके भाषण में विषय का विवेचन इतना सूक्ष्म और मार्मिक होता था कि युक्तियाँ श्रोता के हृदय में अच्छी तरह बैठ जाती थीं। वे जो कुछ बोलते थे नपे-तुले शब्दों में और गंभीर चिन्तन के बाद। एशिया की प्राचीन संस्कृति और उसके राष्ट्रीय जागरण के संबंध में आप की जानकारी बेजोड़ थी। आप का अध्ययन गहन और बुद्धि विशाल थी। प्रकाण्ड विद्वत्ता ने उनके व्यवहार को शिशुवत् बना रखा था। पुरानी दुनिया की नम्रता और सौम्यता उनके समग्र आधुनिक व्यक्तित्व में समाहित थी। उनकी विनम्रता सात्विक थी, आडम्बरी नहीं। डाक्टर केसकर के शब्दों में 'आचार्य जी इतने विनयशील थे कि अपनी योग्यता प्रदर्शित करने में उनको संकोच होता था।' वस्तुतः वे चिन्तक, मनीषी, त्यागी और तपस्वी अजातशत्रु थे। उनकी विद्या और उनके व्यक्तित्व का आदर उनका विरोधी भी करता था। उनके निधन से देश को अपूरणीय क्षति हुई है और अगले कई वर्षों तक उसकी पूर्ति की संभावना नहीं।

आचार्य जी के प्रति नतमस्तक होकर 'श्रमण' परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

—महेन्द्र राजा

'श्रमण' के विद्वान लेखकों और प्रेमी पाठकों से

निवेदन है कि आपकी सेवा में 'श्रमण' बराबर पहुँच रहा है, आपका शुभ नाम 'श्रमण' के विद्वान लेखकों की सूची में है। अतः हम आपके लेखादि पाने की प्रतीक्षा में हैं।

हर्ष की बात है कि इस वर्ष श्रमण की ग्राहक संख्या कुछ बढ़ी है। यह पत्र अधिक संख्या में न छपने पर भी भारत के कोने कोने तक जाता है। पंजाब में इसकी ग्राहक संख्या सबसे अधिक है। जैन समाज के सभी सम्प्रदायवाले इसे पसन्द करते हैं। जैन समाज के बाहर भी इसके ऐसे ग्राहक एवं प्रेमी पाठक हैं जो इसे बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। जैन समाज के गुरुकुल, विद्यालय, वाचनालय, हाई स्कूल, कालेज जैसी संस्थाओं में यह विशेष रूप से पसन्द किया जाता है। भारत की दूसरी प्रसिद्ध संस्थाओं में भी यह कई जगह जा रहा है। मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक आदि करीब ६०-७० पत्र-पत्रिकाओं के परिवर्तन में जाता है। जैन-जैनेतर कई पत्र इसके लेखों को बड़े उत्साह से उद्धृत करते हैं। इन बातों से यह पता चलता है कि सीमित क्षेत्र होने पर भी 'श्रमण' का अपना स्थान और इसकी अपनी आवाज है। श्रमण संस्कृति के आधार स्तम्भ अहिंसा, शान्ति और मानवता इसके निश्चित लक्ष्य है।

इस वर्ष आगामी २३ अप्रैल १९५६ को महावीर जयन्ती पड़ रही है। हम चाहते हैं 'श्रमण' के अप्रैल अंक में भगवान् महावीर के संबन्ध में ठोस सामग्री रहे। आपसे विशेष आग्रह है कि श्रमण के लिए और हो सके तो महावीर के सम्बन्ध में लेख, कविता, संवाद, कथा-कहानी, उपदेश-प्रवचन आदि जो भी आप पसन्द करें, अवश्य भेजने की कृपा करें। इस मानवतावादी पत्र को अपना कृपापात्र बनाकर उत्तम लेख सामग्री से आप सदा सुशोभित करते रहें। हम पूर्ण आशा रखते हैं कि आप २० मार्च से पहले-पहले भगवान् महावीर के संबन्ध में कुछ अवश्य लिख भेजने की कृपा करेंगे।

निवेदक

कृष्णचन्द्राचार्य

जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए
श्रीरामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
बनारस—५ में मुद्रित।

श्रमण

वर्ष ७ | सम्पादक पं० कृष्णचन्द्राचार्य, महेन्द्र राजा एम.ए. | अंक ६-७

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस

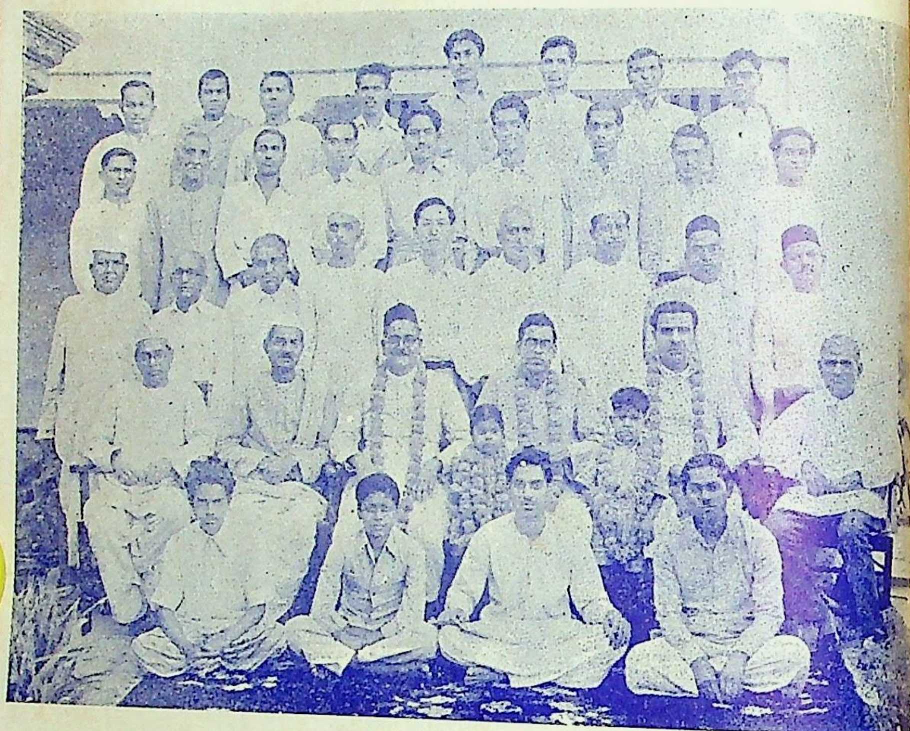
इस अंक में—

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस—५

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम के वार्षिकोत्सव एवं डॉ० मोहनलाल मेहता के अभिनन्दन का ग्रूप फोटो



बाएँ से (प्रथम पंक्ति जमीन पर)–श्री बाबूलाल, श्री निर्मल कुमार, ×, श्री कुलभूषण।

(द्वितीय पंक्ति कुर्सी पर)––पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० हीरालाल जैन (अध्यक्ष), डा० मोहनलाल मेहता, डा० चन्द्रधर शर्मा, सेठ रामजीदास जिन्दल।

(तृतीय पंक्ति खड़े हुए)—श्री चिरंजीलाल बड़जात्या, प्रो० विमलदास जी, श्री अत्रिदेव जी, पं० फूलचन्द शास्त्री, श्री ऊनो (जापानी जैन रिसर्च स्कालर), पं० कृष्णचन्द्राचार्य जी, श्री विजयकृष्ण जी, श्री हरजसराय जी (मंत्री) ला० सुन्दरलाल जी।

(चतुर्थ पंक्ति खड़े हुए)—प्रो० दलसुख मालवणिया, श्री शीतलदास जी, ला० शान्तिलाल जी, श्री सुदर्शन जी, प्रो० पद्मनाभ जी, श्री महेन्द्रराजा, श्री खुशालचन्द जी, श्री सुरेशदत्त शर्मा।

(पंचम पंक्ति खड़े हुए)—श्री मौजीलाल जी, श्री शीलाचार भिक्षु, श्री सूर्य-नारायण उपाध्याय, श्री मोहनलाल जैन, ×, श्री रतन पहाड़ी, श्री बाबूलाल गांधी, पं० जमनालाल जी।

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ | अप्रैल-मई १९५६ | अंक ६-७

वीर-स्तुति

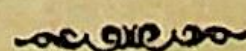
जयइ जग जीव जोणी-वियाणओ, जग-गुरू जगाणंदो।
जग-णाहो जगबंधू, जयइ जगपियामहो भयवं॥

जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो॥

—नन्दी सूत्र

जयति जगत की जीव योनि के
ज्ञाता जग के गुरु जगदीश्वर।
जगदानंदन जगन्नाथ जग-
बंधु पितामह जयति महेश्वर॥
उद्भवस्थानक जयति श्रुतों के
ज्योतिर्धारी चरम तीर्थंकर।
जयति लोक गुरु जयति महात्मा
जय जय जय जय वीर जिनेश्वर॥

—मधुकर मुनि



हे महावीर !

हे मानवता के ज्योति-दीप ! हे युग-पथ के शाश्वत प्रकाश !
हे दिनकर के आलोक ! भूमि पर शान्ति-सुमन के मुक्त हास !
हे सृष्टिकार ! हे शुभ ! विराट् ! हे निखिल सृष्टि के शिलाधार !
हे भूमि-गगन के गर्व ! और हे जगती के जीवन-विकास !

तुम उतरे भू पर ज्योति-किरण से, जला विश्व का अन्धकार
तुमने फैलायी निज बाहें सुन जगती की सकरुण पुकार,
तुमने आलिंगन में बाँधा, जग ने जिसको ठोकर मारी
तुमने अपने वक्षस्थल पर सब सहे काल के कटु प्रहार।

तुमने अपने चरणों की गति में बाँध दिये काल के चरण,
तुमने अशरण मानवता को दी है युग-युग के लिए शरण ;
तुमने निज मस्तक उठा दिया, झुक गया हिमालय चरणों में
तुमने आवाहन किया मृत्यु का, अमर हो गया स्वयं मरण।

हे महावीर ! हे मुक्ति-दूत ! हे गौतम के संदेश अमर !
हे ईसा की पावन करुणा ! हे राम-श्याम ! हे अविनश्वर !
तुमने जो मिट्टी छुई, वही मिट्टी हो गई देव-प्रतिमा
तुमने मानव की देह धार मानवता को कर दिया अमर !

लो झुका तुम्हारे चरणों में मानव-समुद्र का है वंदन,
हे महाप्राण ! स्वीकार करो जन-जन का यह भावाकुल मन ;
तुम जो कि मुक्ति के मंदिर से दे रहे मनुज को आश्वासन—
हे युग-युग के आराध्य ! देव ! तुमको मानव का अभिनन्दन !

—ज्ञानचन्द्र भारिल्ल, एम० ए०

भगवान् महावीरः एक श्रद्धाञ्जलि

—डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री

विश्व-जनीन मानव-संस्कृति के महान् प्रेरक, ब्राह्य तथा आभ्यन्तर बाधाओं से पीड़ित होकर बाह्य जगत् की कल्पित अथवा वास्तविक शक्तियों के सामने अशक्त बालक अथवा भय से संत्रस्त असहाय दुर्बल मानव की नाईं सहायता और आश्रय के लिए गिड़गिड़ाने से व्याकुल मानव-समाज को मानों हाथ पकड़ कर उठाकर उसको स्वावलम्बन के उत्कृष्ट पथ को, और अन्तः समीक्षण द्वारा चारित्र्य-शुद्धि, इन्द्रिय जय, और मनसा वाचा कर्मणा सत्य और अहिंसा के समाश्रय से उसकी उन्नति के संभावित ईश्वर-पद को अपने निजी पूर्णतः आदर्श-जीवन के उदाहरण से दर्शाने वाले भगवान् महावीर के पवित्र जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में नम्र श्रद्धाञ्जलि रूप में एक-दो रचनाएँ[1] हम यहाँ उपस्थित करते हैं।

(१)

चारित्र्य-चर्चा

~~चारित्र्य के ही महत्त्व को दिखलाने का नीचे के पद्यों में यत्न किया गया है—~~

चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥१॥

चारित्र्य धर्म है। चारित्र्य परम तप है। चारित्र्य के प्रभाव से ही मनुष्य मोह और जड़ता (अकर्मण्यता) के दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है।

चारित्र्यं नरवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
आकर्षणं तथैवात्र लोकानां रञ्जनं महत् ॥२॥

चारित्र्य मनुष्य-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात् जैसे किसी फूलने वाले पौधे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प-रूप में विकसित होता है,

[1] लेखक के शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ 'अमृत-मन्थन' से।

इसी तरह मनुष्य-जीवन का उत्कृष्ट सुन्दर रूप या परम ध्येय उदात्त चरित्र ही है।

सुन्दर सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

यथा हि लौकिकाः स्वीयं धनं पक्षन्त्यतन्द्रिताः ।
चारित्र्यस्य तथा रक्षा विधेयोत्कर्षमिच्छता ॥३॥

इसलिए, जैसे सांसारिक लोग बड़ी सावधानी से अपने धन की रक्षा करते हैं उसी तरह जो अपना उत्कर्ष चाहता है उसे चारित्र्य की रक्षा करनी चाहिए।

(२)

जीवन-यात्रा

सुदीर्घस्याध्वनः पारं गन्तुकामोऽत्र जीवने ।
स्वलक्ष्यैकमना नित्यं विचरेद्विजितेन्द्रियः ॥१॥
स्पर्धायाः शत्रुताया वा रागस्याप्यथ कुत्रचित् ।
प्रसङ्गोऽवसरोऽप्येवमुपयोगो न विद्यते ॥२॥
निरुद्देश्यं निरादर्शं कर्तव्येन विवर्जितम् ।
जीवनं यस्य, कामं स व्यर्थं तदतियापयेत् ॥३॥

जो मनुष्य इस जीवन के सुदीर्घ मार्ग को सफलता पूर्वक पार करना चाहता है, उसे इन्द्रियों को वश में रखते हुए सदा एक मात्र अपने लक्ष्य में मन लगाकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना चाहिए।

इस जीवन-यात्रा में किसी विषय के संबन्ध में स्पर्धा अथवा राग अथवा द्वेष का न तो प्रसङ्ग ही है, न अवसर (अवकाश); और कोई उपयोग भी नहीं है।

अभिप्राय यह है कि इस जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना इतना कठिन है कि वास्तव में मनुष्य को किसी के साथ स्पर्धा अथवा राग-द्वेष करने का न तो अवकाश ही मिल सकता है, न उनका कोई प्रसङ्ग उपस्थित होना चाहिए और न उनसे उसको कोई लाभ ही होता है।

हाँ, जिसका जीवन उद्देश्य-हीन, आदर्श-हीन और कर्तव्यता की भावना से रहित है, वह भले ही उसको व्यर्थ की बातों में नष्ट करे !

(३)

भाव-संशुद्धि

भाव-संशुद्धि चारित्र्य का मुख्य अंग है। भाव-संशुद्धि की क्यों आवश्यकता है ? इसी का उत्तर नीचे के पद्यों में दिया गया है—

गृहरूपं मनोऽस्माकं स्वच्छं शान्तं भवेद्यथा ।
तत्परेण मनुष्येण प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥१॥

हमारा मन एक प्रकार से हमारा घर है। वह हमारा गृह-रूपी मन जैसे भी स्वच्छ और शान्त रह सके, उसके लिए हमें तत्पर होकर प्रयत्न करना चाहिए।

सोपद्रवं तथास्वच्छं दुर्गन्धेन समाचितम् ।
अभद्रदर्शनं वेश्माध्युषितः कः सुखं व्रजेत् ॥२॥
भावसंशुद्धिमेतस्मात्सौमनस्यं तथैव च ।
सद्विचारसमृद्धिं च समीहन्ते मनीषिणः ॥३॥

उपद्रव या कोलाहल से युक्त, अस्वच्छ, दुर्गन्ध से भरे हुए और देखने में अभद्र या भद्दे घर में रह कर कौन सुखी हो सकता है ?

इसी से मनीषी लोग भाव-संशुद्धि, सौमनस्य और सद्विचारों की समृद्धि को चाहते हैं।

अभिप्राय यह है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए जैसे शान्त, स्वच्छ और सुन्दर घर की आवश्यकता होती है, उसी तरह आध्यात्मिक शान्ति और प्रसन्नता के लिए भाव-संशुद्धि आदि मानसिक गुणों की आवश्यकता है।

स एष परमः स्वार्थो दोषसंस्पर्शवर्जितः ।
परार्थजीवनस्यापि पात्रता तत्र जायते ॥४॥

भाव-संशुद्धि आदि उपर्युक्त मानसिक गुणों की प्राप्ति ऐसा उत्कृष्ट 'स्वार्थ' है जिसके साथ दोष का संस्पर्श भी नहीं है। इस 'स्वार्थ'-सिद्धि के हो जाने पर ही मनुष्य में परार्थ-जीवन की पात्रता आती है। अर्थात्, उक्त उदात्त

गुणों से युक्त मनुष्य में ही वास्तव में दूसरों के हित के लिए कार्य करने की योग्यता होती है।

वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः ।
एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः ॥५॥

वास्तव में मनुष्य के चरित्र की वही स्थिति पवित्र और उत्कृष्ट होती है जिसमें स्वार्थ और परार्थ की एकता या अभिन्नता हो जाती है। विद्वान् लोग उसी अवस्था को 'अद्वैत' की स्थिति कहते हैं।

(४)

सद्विचारों का विकास

सद्विचारों को चारित्र्य का शरीर कहना चाहिए। उनका विकास कैसे हो सकता है, इसी बात को नीचे के पद्यों में समझाने का यत्न किया गया है—

क्षेत्रे विना प्रयत्नेन वन्यतृणसमुद्भवः ।
भूयो भूयः कृषेः पक्षे महानर्थाय जायते ॥१॥

सब कोई जानते हैं कि प्रत्येक खेत में जंगली घास-पात बिना प्रयत्न के ही बार-बार उगती रहती हैं और खेती की बडी हानि होती है।

कृषकस्य प्रयत्नेन सावधानस्य नित्यशः ।
वारणं क्रियते तेषां कृषे रक्षा च जायते ॥२॥

सावधान किसान बराबर प्रयत्य-पूर्वक उस जंगली घास-पात को निकालता रहता है और इसी प्रकार खेती की रक्षा की जाती है।

एवं चित्ते स्वभावेन नानादुर्वासनोदयः ।
जायमानो मनुष्यस्य क्लेशसन्ततिकारणम् ॥३॥

इसी प्रकार मनुष्य के चित्त में स्वभाव से ही अनेकानेक दुर्वासनाएँ पैदा होती रहती हैं और उनके कारण उसको बराबर क्लेशों का अनुभव करना पड़ता है।

केवलं तत्र यत्नेन भूयोभूयः कृतेन वै ।
निरोधः शक्यते कर्तुं तासामुन्मूलनं तथा ।।४।।[१]

इस स्थिति में केवल बार-बार किये गए यत्न से ही उनका निरोध और उन्मूलन किया जा सकता है ।

धीरैरुत्साहसम्पन्नैः श्रद्धाविश्वासधारिभिः ।
कर्तुं तत्पार्यते, नैव संशयाविष्टमानसैः ॥५॥

यह कार्य (दुर्वासनाओं का निरोध और उन्मूलन) श्रद्धा और विश्वास को धारण करने वाले उत्साही धीर-वीरों द्वारा ही किया जा सकता है । जिनके न में संशय बैठा हुआ है वे इस कार्य को नहीं कर सकते ।

वासना याः शुभोदर्का विचारा ये च साधवः ।
कुशलं तत्र रोहन्ति स्वच्छे चित्ते न संशयः ।।६।।

शुभ परिणाम को उत्पन्न करने वाली वासनाएँ और अच्छे विचार स्वच्छ चित्त में ही अच्छी तरह पनपते हैं, इसमें कोई संशय नहीं हो सकता ।

तस्य देवस्य सवितुः प्रसवानां य ईशिता ।
प्रकाशप्रेरणां लब्ध्वा वस्तुता जीवनप्रदाम् ।।७।।
नष्टा ये दुष्टसंस्कारास्तेषां खाद्येन नित्यशः ।
सद्विचाराः प्ररोहन्ति शुभसंकल्पवारिणा ।।८।।

नाना प्रकार के दुष्ट संस्कारों से अभिभूत जीवन में उच्च आदर्शों और दुर्बलताओं की प्रकाश किरणों से समुत्थान की प्रेरणा और बल देने वाला जो हमारा उपास्य देव-स्वरूप आत्म-तत्व है उससे वस्तुतः जीवन को देनेवाली प्रकाश की प्रेरणा को पाकर, जो दुष्ट संस्कार बराबर नष्ट होते जाते हैं उनके खाद्य (खाद) से, और शुभ संकल्पों के जल से मनुष्य के चित्त में सद्विचार उगते और बढ़ते हैं ।

अभिप्राय यह है कि अच्छी खेती के लिए जैसे सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनुष्य के चित्त में सद्विचारों की उत्पत्ति

---

[१] तु० 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मः । ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।' (योगसूत्र २।३, १०, ११)

और पुष्टि के लिए भगवान् की प्रेरणा (या कृपा), दुष्ट संस्कारों का नाश और शुभ-संकल्प (क्रमशः सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी के स्थानीय), इनकी आवश्यकता होती है।

उच्छेद्या याश्च संरक्ष्या वासनास्तत्र संस्थिताः।
तासां विवेकः प्रथमं बुद्धिमद्भिरपेक्ष्यते ।।९।।

इस कार्य में सबसे पहले चित्त में रहनेवाली उच्छेदनीय (जिनका उन्मूलन करना है) और संरक्षणीय (जिनकी रक्षा करना अपेक्षित है) वासनाओं में परस्पर विवेक करने की आवश्यकता बुद्धिमानों को होती है।

चित्तभूमौ प्रयत्नेन पोषितैवं निरन्तरम्।
सद्विचारकृषिः कृषिः संस्कृतिर्वा मता बुधैः ।।१०।।

इस प्रकार चित्तरूपी भूमि में बराबर प्रयत्न-पूर्वक पोषित की गयी सद्विचारों की कृषि को विद्वान् लोग 'कृष्टि' अथवा 'संस्कृति' समझते हैं।

अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के सद्विचारों की समष्टि को ही 'संस्कृति' अथवा 'कृष्टि' इन शब्दों द्वारा कहा जाता है।

अक्षय्यममृतं पुण्यं दिव्यानन्देन संयुतम्।
तत्फलं तेन धनिनस्ते धन्यास्ते मनीषिणः ।।११।।

उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि का फल अक्षय्य, अमृत, पवित्र और दिव्य आनन्द से युक्त होता है। उस फल से जो धनी हैं वे, धन्य हैं, वे मनीषी हैं।

अभिप्राय यह है कि लोक-प्रसिद्ध कृषि से मनुष्यों को साधारण अन्नादि का लाभ होता है, परन्तु उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि से जो फल प्राप्त होता है वह अक्षय्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण अन्नादि से कहीं बढ़-चढ़ कर होता है।



पुनीत स्मरण !

—श्री देवेन्द्र कुमार शास्त्री

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, जन-जीवन के मानस में और सत्य के प्रकाश में, करुणा से उद्वेलित हो शान्ति के सहस्र निर्झरों से झर-झर् करती हुई आत्मविगलित परम पुञ्जराशि को समावृत कर, उच्छल जलधि में समाने वाले सीकर-समूह को पंकिलता से मुक्त कर; स्वच्छ, निर्मल, निरभ्र मण्डल का प्रतिबिम्ब मुखरित कर और हिमकर-कलित ज्योत्सना की प्रफुल्लता को दिशि-दिशि के अञ्चल में छिटका कर सुख-शान्ति के साम्राज्य का स्मरण दिला रही थी—

'महावीर—योद्धा और सच्चे शूरवीर !"

भूमण्डल कम्पित हुआ और क्षण भर को संग्राम स्तब्ध हो गया। पञ्चशरों का लक्ष्य भी आज चूक गया।

अब महावीर सच्चे अर्थों में वीर थे।

सर्वत्र हिंसा की भीषण ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी और धर्म के नाम पर मूक पशुओं की आहुति अर्पित को जा रही थी।

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि !'

उनका हृदय पिघल उठा और वे सर्वस्व त्यागकर प्राण-पण से सत्य की रक्षा में रत हो गए।

यह था उनके कर्तव्य का दिन !

तब से सहस्रों वर्ष बीत गए, न जाने कितनी प्रलय घटाएँ छाईं और झंझा आईं, पर उस महामानव की करुण पुकार भरसक मिटाने पर भी आज तक न मिट सकी।

शान्ति का संदेश और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श उसके जीवन के दो ओर-छोर थे।

आज उसके जन्म-दिवस पर एक बार फिर उस महामानव का पुनीत स्मरण !

अहिंसक समाज की रचना

—श्री जमनालाल जैन, साहित्यरत्न

जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी ढाई हजार वर्ष पहले हुए। इनके पहले के तेईस तीर्थङ्करों ने भी शाश्वत सत्य का प्रतिपादन अपने-अपने समय में किया था। महावीर ने भी अपने पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की भांति शाश्वत सत्यों व समाज तत्वों का प्रतिपादन किया। महापुरुषों के वचनों में परस्पर विरोध या विसंगति नहीं होती। सबका चिन्तन सही दिशा में जाता है, और वे संसार को सही रास्ता ही बताते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक जगह लिखा है कि 'करोड़ ज्ञानियों का एक विकल्प होता है और एक अज्ञानी के करोड़ विकल्प होते हैं।' इसका मतलब यही है कि महापुरुष जो कुछ कहते हैं, वह समाज के लिए हितावह, पोषक और अनुकरणीय होता है। लेकिन सब महापुरुष एक ही बात कहते हैं, इसका यह मतलब नहीं कि वे अपने काल की, अपने समय के समाज की परिस्थितियों से आँख मूँद लेते हैं और केवल वही कहते हैं, जो उनके पूर्ववर्ती महापुरुषों ने अपने समय में अपने समाज की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कहा होता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि महापुरुष लीक-लीक नहीं चला करता, वह तो अपने समय का महाद्रष्टा और क्रान्तिकारी होता है।

महावीर और गौतम बुद्ध, दोनों समसामयिक थे। दोनों ने धार्मिक मान्यताओं में क्रान्ति का शंखनाद किया। समाज-जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठापना की। भगवान् महावीर ने अहिंसा का जो दर्शन, जो तत्त्व और जो विचार प्रस्तुत किया, वह आज भी विचारकों के लिए चिन्तन की चीज है। समस्त प्राणीमात्र को अपने समान समझकर जीवन व्यवहार चलाना तथा उसके साथ सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि की साधना एक बहुत बड़ी बात है। द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा के रूप में उन्होंने अहिंसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण रखा कि सबके लिए तो क्या, लाखों में से दो चार के लिए भी उस आदर्श तक पहुँचना कठिन हो जाता है। उसी का यह परिणाम है कि भारत में मांसाहार के प्रति आदर के भाव नहीं पाये जाते। आज भी

करोड़ों लोग मांसाहार करते हैं, शौक के तौर पर भी करते हैं; लेकिन वे स्वयं जानते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह सामाजिक दृष्टि से निंदनीय है, त्याज्य है, नैतिक अपराध है। यही तो उस महापुरुष की अमूल्य देन है। समाज में आज भी चोरी और डकैतियां होती हैं, लेकिन चोरी डकैतियों के प्रति जिस तरह सारे समाज में तिरस्कार का भाव व्याप्त है, उसी तरह मांसाहार और मद्यपान आदि के बारे में है।

महावीर ने अहिंसा अवश्य दी। उनका देश के जीवन पर अत्यधिक, बल्कि सार्वकालिक प्रभाव भी पड़ा, लेकिन गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि उनकी अहिंसा व्यक्तिनिष्ठ रही, समाजगत न बन पाई। समाज में अहिंसा का प्रवेश हो जाना एक बात है और समूचे समाज का अहिंसक बन जाना बिलकुल दूसरी बात। बहुत अंशों में यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज का जो जैन समाज है, वह तो पूरा का पूरा अहिंसक ही है। हम इसे इस अर्थ में मानने को तैयार हैं कि जैन समाज मांसाहारी न होने के कारण अहिंसक है, पूरा अहिंसक है, लेकिन फिर भी राष्ट्रीय दृष्टि से जैन समाज अहिंसक समाज नहीं है। जैन समाज मांसाहारी नहीं है, इसमें उसकी कोई बड़ाई या गौरव नहीं है। पूर्वजों के अनुभवों का लाभ उसे अनायास मिल गया है। उसके पास इस युग का कोई नया अनुभव, नया प्रयोग नहीं है। जैन समाज की स्थिति तो वैसी ही है, जैसे एक श्रीमंत के अकर्मण्य अयोग्य पुत्र की होती है। महावीर के सामने जो परिस्थितियाँ थीं, उनमें यह सम्भव ही न था कि वे अहिंसक समाज की स्थापना पर बल देते। उनके सामने जो कुछ परिस्थिति थी, उसमें इतना ही सम्भव था कि व्यक्तिगत जीवन अधिक से अधिक शुद्ध, सात्विक ओर अहिंसक बने।

उस जमाने में अहिंसा की भी एक मर्यादा थी। महावीर उस मर्यादा के आगे गए, लेकिन समाज जहाँ का तहाँ रह गया। अहिंसा का एकांगी विकास ही हो पाया। महावीर ने तो अहिंसा की साधना को सफल और परिपूर्ण बनाने के लिए सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह ब्रह्मचर्य आदि गुणों का भी विधान किया। किन्तु फिर भी समाज में वह व्याप्त न हो सकी। अहिंसा का उनका प्रयोग प्राणी दया, मांस-परित्याग के आगे परिस्थिति वश न जा सका। महावीर का प्रयोग यद्यपि परशुराम, विश्वामित्र आदि से बहुत आगे बढ़ा हुआ था और उन्होंने बहुत आगे का दर्शन किया था, किन्तु फिर भी वह प्रयोग ही था।

कुछ लोगों का खयाल है और पुराणों में भी हम पढ़ते हैं कि जब-जब समाज और देश में धर्म की हानि होती है, अनाचार और पाप बढ़ते हैं तब अवतार या तीर्थंकर जन्म धारण करते हैं, और वे समाज को सही मार्गदर्शन करते हैं। इसी तरह की वाणी व्यापारी भी बोलते हैं। वे हर वर्ष यही कहते हैं कि 'इस साल से तो पिछला साल ही अच्छा था।' हमारे अनेक भाई यह ही कहते हैं और वे पुराणों का हवाला भी देते हैं कि यह तो पंचमकाल है, कलियुग है। इसमें न तो कोई अवतार होंगे, न तीर्थंकर। सब अवतार और सब तीर्थंकर तो चौथे काल में ही हो गए। चौथा काल, जैसा कि पुराणों में वर्णन मिलता है, बहुत सुन्दर रहा होगा। चौथे में ही सारे तीर्थंकरों के होने का मतलब तो यह हुआ कि इस काल की अपेक्षा चौथा काल ही अधिक जटिल और भयानक था। एक ओर तो हम पंचम काल को गिरा हुआ, पतनोन्मुखी मानते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि तीर्थंकर बुरे समय में ही होते हैं। दोनों बातों की संगति नहीं बैठती। इसलिए हमारा खयाल तो यह है कि अगर सारे तीर्थंकर चौथे काल में ही हो सकते हैं तो वह काल आज के काल से अधिक पतनोन्मुखी, बर्बर और जंगली रहा होगा। जिस काल में सारा समाज व्यवस्थित, विकसित होता है, अपने पैरों पर खड़ा रहता है, तब तीर्थंकर की या अवतार की क्या जरूरत? इतिहासकारों और वैज्ञानिकों का अन्वेषण तो यही बताता है कि आज की अपेक्षा पहले का आदमी निम्न कोटि का था, बर्बर था। पशु जैसा था। और अगर यह सही है, तो पुराणों का यह कथन भी गलत नहीं है कि उसी युग में सारे तीर्थंकरों और अवतारों को जन्म धारण करना पड़ा। आज का मानव-समाज तो काफी साधन-सम्पन्न, बुद्धि-सम्पन्न और विज्ञान-सम्पन्न है। आज के मानव के अनुभव-कोश में हजारों वर्षों के अनुभव हैं। यह कहा जा सकता है कि पहले की अपेक्षा आज का आदमी अधिक संघर्षों में उलझ गया है। पहले इतने संघर्ष नहीं थे। ज्यों-ज्यों भौतिक सुविधाएँ बढ़ती गईं, आदमी का असंतोष और उसकी वासनाएँ बढ़ती गईं। इस में तथ्य है, किंतु इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि पहले का आदमी अपनी नित्य की आवश्यक सामग्री को जुटाने में ही इतना त्रस्त और व्यस्त रहता था कि वह कार्य स्वयं संघर्ष था। आज संघर्ष जरूर बढ़ा है; किंतु आत्म-संतोष भी पहले की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो गया है।

आज विज्ञान काफी प्रगति कर चुका है। उसकी प्रगति का प्रवाह निरंतर

जारी है। वह रुक नहीं सकता। विज्ञान ने आदमी को, समाज को अभिभूत कर लिया है। कुछ धर्मवादी लोग विज्ञान को हेय दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं कि इससे संस्कृति का ह्रास हो रहा है, धर्म से लोग विमुख हो रहे हैं। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग स्वयं विज्ञान की सुविधाओं का उपयोग करने में गौरव का अनुभव करते हैं। एक बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि जो चीज मानव समाज के लिए घातक होती है, वह बढ़ती नहीं हैं। हाँ, वस्तु और साधनों के उपयोग में विवेक होना चाहिए। यह विवेक आत्मज्ञान से ही आ सकता है। विनोबा तो कहते हैं कि जब हम विज्ञान और आत्मज्ञान का सुमेल साध लेंगे, तभी हमारे जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी।

अब तक दुनियाँ में अहिंसा के अनेक प्रयोग हुए हैं। स्व० साने गुरु जी ने लिखा है—'अहिंसा के पीछे बहुत बड़ी तपस्या है। इसके लिए बड़े-बड़े प्रयोग हुए हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में यदि कोई स्वर्ण-सूत्र है, तो वह है अहिंसा। इस सूत्र के आसपास ही भारत में धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आंदोलन गुंथे हुए हैं। भारतवर्ष का इतिहास मानो एक प्रकार से अहिंसा के प्रयोग का ही इतिहास है।'

संत बिनोबा जी ने अहिंसा के प्रयोगों को मुख्यतः चार प्रकार के प्रयोगों में बाँटा है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'गीता प्रवचन' में कहा है—

'अहिंसा का विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। उससे यह समझ में आ जाएगा कि पारमार्थिक जीवन का विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगों के हमले से कैसे बचाव किया जाए? शुरू में समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय वर्ण बनाया गया। परन्तु वह आगे जाकर समाज-भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त क्षत्रियों से समाज का बचाव कैसे किया जाए, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुराम ने खुद अहिंसक होकर भी हिंसा का अवलंबन किया व क्षत्रियों का विनाश करने लगे। क्षत्रियों से हिंसा छुड़ाने के लिए वे स्वतः हिंसक बने। यह अहिंसा का ही प्रयोग था। परन्तु वह सफल नहीं हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार उन्होंने किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूल में ही गलत था। जिन क्षत्रियों को नष्ट करने वे चले थे, उनमें

एक और क्षत्रिय बढ़ गया। तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता। खुद ही हिंसक क्षत्रिय बन गया, वह बीज तो कायम ही रहा। बीज को कायम रखकर जो झाड़, पेड़ तोड़ता है, उसे वे पेड़ पुनः-पुनः ही पैदा हुए दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वतः क्षत्रिय बन कर वे पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह है कि उन्हें खुद से ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे खुद अपना ही सिर उड़ा देते, परन्तु मैं जो यहां परशुराम का दोष दिखा रहा हूं, सो इस खयाल से नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं, परन्तु उनके कंधे पर खड़ा हूँ, इसलिए हमें अनायास अधिक दूर दिखाई देता है। परशुराम के प्रयोग की बुनियाद ही गलत थी। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नहीं। इससे तो उल्टे हिंसकों की संख्या बढ़ती है। पर तु उस समय यह बात ध्यान में नहीं आई। उस समय के भले आदमियों ने, महान् अहिंसामय लोगों ने, जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस काल के महान् अहिंसावादी थे। हिंसा के उद्देश्य से उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा का अवलंबन किया था।

'किन्तु वह प्रयोग असफल हो गया। बाद में राम का युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणों ने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी। उन्होंने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसक रहेंगे ही नहीं। तब राक्षसों के आक्रमण से बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करने वाले तो हैं ही। उन्हीं से राक्षसों का संहार करा डालना चाहिए। काँटे से काँटा निकाल डालना चाहिए। हम खुद अपने अलग-अलग बने रहें। सो विश्वामित्र ने यज्ञ रक्षणार्थ राम-लक्ष्मण को ले जाकर उनके द्वारा राक्षसों का संहार करवाया। आज हम ऐसा विचार करते हैं कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पाँव नहीं हैं, ऐसी लूली-लगँड़ी अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी? परन्तु वसिष्ठ, विश्वामित्र, जैसों को क्षत्रिय के बल पर अपनी रक्षा करा लेने में कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परन्तु यदि राम के जैसा क्षत्रिय न मिला होता, तो विश्वामित्र ने कहा होता—'मैं मर भले ही जाऊं पर हिंसा नहीं करूँगा।' क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा करने का प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि खुद अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। कोई क्षत्रिय यदि नहीं मिला, तो अहिंसक मर जाना पसन्द करेंगे।

यह भूमिका अब तयार हो चुकी थी। विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम पूछते हैं—'ये ढेर किस चीज के हैं ?' विश्वामित्र ने कहा—'ये ब्राह्मणों की हड्डियों के ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणों को हड्डियों के ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणों ने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसों का प्रतिकार न किया। वे मर मिटे। उन्हीं की हड्डियों के ये ढेर हैं।' इस अहिंसा में ब्राह्मणों का त्याग तो था, परन्तु साथ ही दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलता के रहते हुए अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुँच सकती थी।

'आगे तीसरा प्रयोग संतों ने किया। उन्होंने तय किया हम अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता कदापि न लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा। इनका यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता को पहुँचा दिया। परन्तु आखिर रहा वह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगों के हमले होते व समाज संतों से आकर पूछता कि अब क्या करें, तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवन में परिपूर्ण अहिंसा ले आने वाले, वे संत समाज को यही जबाब दे पाते—'भाई, हम लाचार हैं।' संतों की इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल साहस है। परन्तु उनके कंधे पर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है, वही मैं बता रहा हूँ। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे। क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसा के साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करने की उन्हें प्रेरणा न हुई हो, ऐसा नहीं कह सकते, लेकिन उस समय की परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये, परन्तु ऐसे पृथक-पृथक किये गए प्रयोगों से शास्त्र की रचना होती है। सम्मिलित अनुभवों से शास्त्र बनता है।

'संतों के व्यक्तिगत प्रयोग के बारे में आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधन द्वारा हिंसा का प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अब तक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोग में अपूर्णता थी व है। विकास क्रम में यह बात अपरिहार्य ही है परन्तु यह तो कहना हीं होगा कि उस-उस काल के लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे, और दस हजार साल के बाद आज के इस हमारे अहिंसक युद्ध में बहुत कुछ हिंसा का भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसा के और प्रयोग होते रहेंगे।'

इस तरह हम देखते हैं कि अहिंसा के विकास में आज तक अनेक प्रयोग हुए और आगे भी होते रहेंगे। खेती का प्रयोग भी अहिंसा का ही प्रयोग था। भगवान् ऋषभदेव के नाम में ही खेती का बीज है। हमारी खेती का मूल आधार ऋषभ ही है। गाय की महत्ता इसीलिए स्थापित हुई। नर-मांस और पशु-मांस को त्याग कर लोग अन्न और दुग्ध पर आए। हो सकता है आगे अहिंसा के विकास में ऐसे भी प्रयोग हों कि दूध पीना ही हिंसा प्रधान कार्य माना जाए। तब, उस समय के लोग हम पर आश्चर्य करेंगे और कहेंगे कि हमारे पूर्वज कितने बर्बर थे कि दूध पीते थे!

यह विज्ञान का युग है। हम ऊपर कह चुके हैं कि विज्ञान काफी आगे बढ़ रहा है, बढ़ जाएगा। उसे रोका नहीं जा सकेगा। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं—या तो अति हिंसा का सहारा लिया जाए या अहिंसा को वेगवान बनाया जाए। पहले के जमानों में जो हिंसाएँ व्यक्तिगत या राष्ट्रीय स्वरूप की होती थीं, वे अत्यंत सीमित होती थीं, उनसे उतनी हानि नहीं थी जितनी आज संभव है। आज हिंसा सूक्ष्म और खतरनाक हो गई है। वह वेगवान हो गयी है। भरत और बाहुबली के युद्ध में व्यक्ति ही सामने आए, प्रजा और सेना शांत, निर्भय थी। बाद में रामायण और महाभारत काल में हम देखते हैं कि युद्ध तो हुए, परंतु सेनाएँ ही सामने आईं और उनके हथियार भी सीमित थे। युद्ध में प्रतिपक्षी होते हुए भी वे आपस में सलाह–मशविरा करते थे और स्वयं मारने-मरने वाले भी मिलकर एक दूसरे को बता देते थे कि किसका वध किस प्रकार होगा। बढ़ते-बढ़ते, बीच के काल में हमने देखा कि शस्त्र-अस्त्र बढ़ते गए। लाठी और तलवारों की जगह बंदूकें और तोपें आईं। अब तो एटम और हाइड्रोजन बमों के कारण राष्ट्रीय भय निर्माण हो गया है। बात की बात में लाखों की आबादी को धूल-धूसरित किया जा सकता है। यह विज्ञान की ही देन है। लेकिन यह विज्ञान की देन है, इसलिए विज्ञान से घबराने की जरूरत नहीं है। उसी विज्ञान की सहायता से हम अहिंसा को बढ़ा सकते हैं। अगर हम अहिंसा को नहीं बढ़ाते हैं तो सारी दुनिया खतरे में है। सीमित हिंसा के युग में सीमित अहिंसा कारगर हो सकती थी, किंतु इस अतिहिंसा के युग में पूर्ण अहिंसा ही कारगर हो सकती है। आचार्य विनोबा दृढ़ता के साथ कहते हैं—

"एक में (हिंसा में) मानव का पूर्ण विनाश होगा और दूसरे में (अहिंसा में) मानव को पूर्ण विकास का मौका मिलेगा। अगर अब समाज पर किसी की

सत्ता चलेगी, तो या तो उसका पूर्ण संहार करने वाली अतिहिंसा की ही सत्ता चलेगी या फिर वह विसर्जित ही होकर अहिंसा में परिणत होगी। तो, अब हमें वह पुरानी कल्पना छोड़कर मध्ययुगीन जमाने में जिन गुणों को लोगों ने सम्मान दिया, उन्हीं गुणों में सीमित रहने के बजाय अब जरा हिम्मत करके थोड़ा बल महसूस करना चाहिए और इस अतिहिंसा को समाप्त करके पूर्ण अहिंसा की तैयारी करनी चाहिए। जब से अहिंसा का यह रूप प्रगट हो गया है, तब से मुझ में बड़ा भारी उत्साह आया है। और उम्मीद हो गई है कि दण्ड मुक्त समाज अब जल्दी लाया जा सकेगा। जब कभी ऐटम और हाइड्रोजन बम की बात चलती है, तो मुझे लगता है कि एक ईश्वरीय प्रेरणा हो रही है और सारी समाज रचना अब मेरे हाथ में आने वाली है, वह जोरों के साथ हमारी तरफ आ रही है। वह पुकार कर कहती है कि अहिंसा देवी, तू आ जा और इस शान्ति को बचा ले।' अब हमारे लिए सोचने की बात है कि हमारा काम इसके आगे हमारे लिए आसान है या कठिन। कालचक्र ही इसको आसान बनाता जा रहा है। और उस दृष्टि से हिम्मत करके हमें आगे की सारी योजना करनी चाहिए। शासन मुक्त समाज के लिए ही अब तैयारी हो रही है।"

जब हम अहिंसक समाज की बात करते हैं, तब हमारे सामने कई प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं उसका स्वरूप नीचे लिखे आधारों पर निर्भर होगा—

१. उसमें अहिंसा–सिद्धि के लिए नित नए प्रयोग होते रहेंगे।

२. वह समाज अपने में स्वयं पूर्ण और स्वशासित होगा।

३. वह पूर्ण रूप से स्वावलंबी होगा।

४. वह सत्ता और शस्त्र से मुक्त होगा, उनसे निर्भय होगा।

५. उस समाज में व्यक्तिगत संपत्ति और परिग्रह का मूल्य कतई न रहेगा। परिग्रह और सपत्ति का व्यक्तिगत संचय चोरी की तरह राष्ट्रीय गुनाह माना जाएगा।

६. वह सेवा-निष्ठ, सेवामय समाज होगा।

७. वह समाज राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे उद्योग-धंधों को अपनाएगा जिनके द्वारा राष्ट्र स्वावलंबी, आत्मिष्ठ बनेगा। ऐसे उद्योगों में अगर थोड़ी बहुत

हिंसा होगी तो भी वह अहिंसा ही मानी जाएगी, और उसमें भी संशोधन होते रहेंगे। लेकिन उन उद्योगों को कतई प्रोत्साहन नहीं दिया जाएगा, जिनके कारण संपत्ति को महत्त्व प्राप्त हो और कुछ की पेटियां भरें तथा करोड़ों का पेट खाली रहे।

८. यंत्रों का विरोध न होगा, लेकिन उनके उपयोग की मर्यादा होगी। वह मर्यादा सामूहिक, सामाजिक विकास पर आधारित होगी और उसमें वर्ग विषमता तथा शोषण का कोई स्थान न होगा।

९. वह समाज श्रम-परायण होगा। हर व्यक्ति अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तुओं का ही उपभोग करेगा। जातिगत वर्णगत भेदभाव या छुआछूत को कतई स्थान न होगा। हर आदमी हर काम करने के लिए तैयार रहेगा। कोई भी कार्य छोटा-बड़ा, हल्का–भारी न होगा।

१०. व्यक्तियों द्वारा जो कुछ उत्पादन या निर्माण होगा, उस पर पूरे समाज की मालकियत होगी।

इस तरह हम देख सकते हैं कि अहिंसक समाज रचना की दिशा में कदम बढ़ाए जा सकते हैं। अहिंसा की सिद्धि के लिए यह बहुत ही अनुकूल जमाना है। बल्कि हम तो यहां तक कह सकते हैं कि जब कि अवतार और तीर्थंकर नहीं होने वाले हैं तब तो यही सिद्ध होता है कि अब मानव इतना विकसित हो चुका है कि अब इसको किसी अवतार की अपेक्षा नहीं रह गई है। उसमें अपने पैरों पर खड़ा होने का माद्दा आ गया है।

अहिंसक समाज की रचना का मतलब है, समाज के मूल्यों में परिवर्तन। आचार्य विनोबा जी कहते हैं—

"समाज में आज जो मूल्य स्थापित हैं, उन्हें ही हम बदल देना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि मेहतर से भंगी तक की सेवा का दर्जा समान बना दिया जाए। पैसे की कीमत मैं नहीं मानता। मैं पूछता हूँ कि जिन मेहतरों को स्वराज्य में प्रतिष्ठा हासिल नहीं है, उनके लिए स्वराज्य की क्या कीमत है? दूसरा सवाल मैं यह पूछता हूँ कि हम जैसों की क्या कीमत है, जो स्वराज्य में मेहतरों से इस तरह गुलाम बना कर काम लेते हैं? एक वह भी गिरे, हम भी गिरे। दोनों की नैतिक कीमत नहीं जैसी है।....बहनों को जड़वस्तु माना जाता है। इसके बजाय उनको पेटी में बन्द करके रखते, तो ज्यादा कीमत हो जाती।" वे एक जगह भारतीय समाजवाद का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते

हुए कहते हैं कि "हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं कि जिसमें हर घर हर एक का हो। जिसे जहाँ भूख लगे, वहीं वह नजदीक के घर में जाकर खाना माँग कर खा सके और कोई किसान रास्ता चलते आदमी को बुलाकर काम करा सके। हर घर हमारा हर भाई हमारा यही समाजवाद है।"

आज मानव का झुकाव अधिक से अधिक यंत्रीकरण की ओर हो रहा है। यंत्रीकरण के आकर्षण ने आदमी को भी यंत्रवत् बना दिया है। उसकी जीवनचर्या का हर कार्य अब यंत्रवत् होने लगा है। अहिंसक समाज में आदमी को अपने आत्मा पर, आत्मशक्ति पर और अपने पुरुषार्थ पर भरोसा होगा। यंत्रीकरण पर भरोसा करना नास्तिकता है, अपने आप पर अविश्वास करना है और अपने आप को विनाश की ओर ले जाना है। यंत्रीकरण शोषण की भूमिका है और शोषण हिंसा का मूल आधार है। इसी कारण देश के विचारक, जो अहिंसक समाज रचना में विश्वास करते हैं, कहते हैं कि हम केंद्रीकरण को भी देश के लिए उचित नहीं मानते।

विषय लम्बा है, इसलिए अधिक विस्तार में हम नहीं जाते। लेकिन अन्त में महावीर स्वामी के अनुयायी, अपने सहधर्मी बन्धुओं से अनुरोध अवश्य करेंगे कि वे अपने समाज की वर्तमान स्थिति पर विचार करें और वे समझें कि सही अर्थ में समाज अहिंसक नहीं है, तो उसके लिए उनके पास कौन से कार्यक्रम और आदर्श हैं, जिससे कि समाज को अहिंसक स्वरूप दिया जा सकता है।

ज्ञानी का सार-ज्ञान यही है कि वह किसी की किंचित् भी हिंसा न करे। 'अहिंसा सबसे ऊपर है'—यही विज्ञान है।

—महावीर

दयाभाव+समता+निर्भयता=अहिंसा।

—विनोबा

अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और उसका अर्थ है कष्ट सहने की अनन्त शक्ति।

—महात्मा गांधी

अहिंसा

—मुनि श्री नागराज जी

मानो कि कमरे के बीच स्याही से भरी दावात पड़ी है। कोई व्यक्ति अचानक आया, दावात को ठोकर लगी और स्याही इधर-उधर पुस्तकों व कपड़ों पर फैल गई। उस समय यदि गुस्से में आकर कोई उस व्यक्ति से कहता है, "अंधा हो कर चलता है ? तुझे इतनी बड़ी दावात भी नहीं दीखती ? कैसा मूर्ख है।" तो अवश्य उत्तर मिलेगा, "मैं क्या मूर्ख हूँ ? मूर्ख है दावात को यों ही बीच में रख देने वाला। यह भी कोई दावात रखने का स्थान है ?" यदि उस परिस्थिति में शान्ति एवं मधुरता से स्याही के बिखरते ही यह कहा जाता है—'किसने भूल कर दावात बीच में रख दी ?' तो सामने वाला व्यक्ति यह कहता है—'दावात रखने वाले की ही क्या गलती, मुझे भी तो देखकर चलना चाहिए था।' अस्तु, अहिंसा एक सधा हुआ मनोवैज्ञानिक प्रयोग होता है जिसे काम में लेकर सास बहू को, पिता-पुत्र को तथा भाई अपने भाई को बिना किसी कटुता के ही आत्म-निरीक्षण की भूमि पर ला सकता है।

परिवार से व्यक्ति का समष्टि जीवन आरम्भ होता है। वहाँ उसे माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी, पुत्र-वधू आदि के बीच अनुशासन मानते हुए और मनवाते हुए चलना पड़ता है। वहाँ यदि वह धैर्य, गाम्भीर्य व आर्जव गुणों को लेकर चलता है तो उसे आरम्भिक शान्ति, परिवारिक जनों का प्रेम, विश्वास और प्रोत्साहन मिलता है और जीवन की गाड़ी सुगमता से चलती रहती है। साथ-साथ क्रोध, मान आदि की अल्पता में निश्रेयस का मार्ग सधता ही जाता है। इसके बदले जहाँ व्यक्ति आवेश, अहं, स्वार्थ, अनीति व अन्याय का आचरण करता है वहाँ उसे नित्य कलह, आक्रोश, अपमान आदि भोगने पड़ते हैं। दूसरा पहलू अहिंसा का है जिसके प्रयोग की बात एकाएक मनुष्य सोचता ही नहीं। पर जीवन व्यवहार के प्रसंगों में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक सफल है।

—'चेतावनी' से

महामानव !

धन्य महामानव ! तुम मानवता के दीप जलाने आए।
शत शत अन्धकार में तुमने रत्नत्रय के रवि चमकाए ।।
* * * *

तुम आए भू पर, जगती आस्तिकता का शृंगार बन गई,
हिंसा की प्रतीक तलवारें, निर्मल पथ की धार बन गई।
उष्ण रक्त की वर्षा सद्यः अमृत की बौछार बन गई,
भौतिकता ले भव्य रूप नवजीवन का आधार बन गई ।।

तुमने भीषण दावानल में विश्वशान्ति के कमल खिलाए।
धन्य महामानव ! तुम मानवता के दीप जलाने आए ।।
* * * *

अष्ट मदों को हेय बताकर नवनिर्माण दिशा दिखलाई,
वर्णभेद या वर्गभेद की नाथ ! समस्या थी सुलझाई।
संघर्षों के निराकरण हित, स्याद्वाद-दुन्दुभी बजाई,
पंचशील के सिद्धान्तों में स्याद्वाद की गन्ध समाई ।।

और परिग्रह त्याग तुम्हारा, आज विनोबा ने गुण गाए।
धन्य महामानव तुम मानवता के दीप जलाने आए ।।
* * * *

चन्दनबाला के दुख मेटे, तुमने नारी को पहचाना,
पशुबलि हुई निषिद्ध, तुम्हीं ने मूकों की पीड़ा को जाना।
उच्च नीच का भेद मिटाकर प्राणिमात्र को निज सम माना,
एटम बम के इस युग में है याद कर रहा तुम्हें ज़माना।

राष्ट्रसंघ से सदियों पहले विश्वप्रेम के बाग लगाए।
धन्य महामानव तुम मानवता के द्वीप जलाने आए ।।
* * * *

किन्तु आज हम पाखण्डी हैं, तव पद-चिह्न न खोज सकेंगे,
कथनी मीठी, करनी खोटी, जग का हित क्या सोच सकेंगे।
गोशालक की लेश्या सहकर करे विरोधी का प्रतिपालन,
महावीर बन वही अहो कर सकता है जग का हित साधन॥

किन्तु यहाँ तो सीडो, नेटो के पारिधि ने जाल बिछाए।
धन्य महामानव तुम मानवता के दीप जलाने आए॥

* * * *

वीर पुत्र! अब छोड़ बुजदिली, निर्भय होकर निकल पड़ो तुम।
नहीं अहिंसा कायरता है, नव उमंग भर मचल पड़ो तुम।
एटम से क्या भय! एटम को आत्मा ने सर्वत्र पछाड़ा
जैनागम का सार यही है, पुद्गल भागे छोड़ अखाड़ा॥

फिर वसुधा-परिवार-संगठित, 'वीर जयन्ति' सहर्ष मनाए।
धन्य महामानव तुम मानवता के दीप जलाने आए॥

—रामकुमार जैन 'स्नातक'

महापुरुष वह है जिसने बाल हृदय नहीं खोया।

—अज्ञात

विपदकाल में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वचन-चातुरी, संग्राम में पराक्रम, सुयश में अभिरुचि और शास्त्रों में व्यसन—ये गुण महापुरुषों में स्वभाव से ही होते हैं।

—भर्तृहरि

महापुरुष इंच-इंच योद्धा होता है, वह चट्टान की तरह कठोर और शेर की तरह निर्भीक होता है।

—अज्ञात

मानव संस्कृति और महावीर

—प्रो० देवेन्द्रकुमार एम० ए०

जब मैं महावीर का संबन्ध मानव संस्कृति से जोड़ता हूँ तो इसलिए नहीं कि यह युग मानवता की बात सुनना पसंद करता है, बल्कि इसलिए कि उनके जीवन और विचारों में कुछ ऐसी बातें हैं जो मानव संस्कृति की आधार मानी जा सकती हैं।

मानव संस्कृति का पहला आधारभूत तथ्य है विचार क्रांति। इस पर परिवर्तनशील भौतिक परिस्थिति का प्रभाव भी पड़ता ही है। महावीर का जीवन, उनकी विचार क्रांति का ज्वलंत प्रमाण है, क्योंकि उनके युग में धर्म राजा को ईश्वर का अंश घोषित कर रहा था और 'धन' को पुण्य का फल बता रहा था। महावीर ने क्षत्रिय होकर भी राज्य और 'धन' ठुकरा दिया। उनका वह अधिकारहीन और अकिंचन जीवन मानो इस बात की मूक घोषणा थी कि मानव संस्कृति की आधार शिला है वह आंतरिक समता, जिसका लक्ष्य त्यागमूलक अनासक्ति है। बुद्ध के जीवन में भी हम सत्ता और ऐश्वर्य के प्रति, त्याग का यही भाव देखते हैं। हम यह तो नहीं कह सकते कि भारतीय समाज ने इस आदर्श को कभी अपने जीवन में उतारा, फिर भी इस पर उसकी आस्था रही है। पर संस्कृति, आस्था से नहीं आचरण से बनती है, यही कारण है कि भारत में मानव संस्कृति के निर्माण का सपना कभी साकार नहीं हो सका।

मानव संस्कृति के लिए महावीर ने दूसरा बड़ा काम यह किया कि उन्होंने अपने युग की देवसंस्कृति को अस्वीकार कर दिया। वैदिक संस्कृति देव-संस्कृति में विश्वास कर रही थी, उसमें देववाद की प्रतिष्ठा थी। देवसंस्कृति के उपासकों को भारतभूमि इसलिए प्यारी नहीं थी कि उसमें मनुष्य रहता है, बल्कि इसलिए कि उसमें देवता लोग गाते-नाचते हैं (यस्यां नृत्यन्ति गायंति देवाः)। देवसंस्कृति को मान लेने पर दानवसंस्कृति को मानना भी आवश्यक हो उठा। देवों और असुरों के इस आपसी संघर्ष से हमारा पौराणिक

साहित्य भरा पड़ा है। एक दूसरे को पराजित करने की ओछी प्रवृत्तियों को देखते हुए यह कहना कठिन है कि उनमें कौन असुर है और कौन सुर। यद्यपि वैदिक साहित्य में यह बात अंकित है कि प्रलय के अनंतर देवसृष्टि के भग्नावशेषों पर मनु ने मानव संस्कृति का निर्माण किया। फिर वह 'देववाद' से अपना पिंड नहीं छुड़ा सके। मानवता की निरन्तर प्रवहमान शक्ति पर उनकी उतनी आस्था नहीं है जितनी कि परम सत्ता पर। महावीर ने इस देववाद को नहीं माना। उन्होंने विचार की स्वतंत्रता और आचरण की पवित्रता पर जोर दिया। इस प्रकार उन्होंने मनुष्यता को ही मनुष्य की संस्कृति का आधार बनाया। उनका कहना था कि मनुष्य की अच्छी बुरी प्रवृत्तियों में ही देवत्व और असुरत्व है, इसके लिए अलग से दो श्रेणियां नहीं है। गीता में भी जो दैव और आसुरी संपदा का अस्तित्व मनुष्य में माना है, वह भी एक विचार क्रांति का सूचक है। महावीर के अनुसार मानव संस्कृति के निर्माण के लिए सबसे आवश्यक यह है कि परोक्ष शक्ति में विश्वास करने की अपेक्षा मनुष्य की प्रत्यक्ष शक्ति में विश्वास किया जाए; उसे अपने भाग्य के बनाने में आस्था हो, और उसमें सहिष्णुता के साथ विचार की स्वतंत्रता हो। कहने में य बातें जितनी सरल हैं, जीवन में उतारने में उतनी ही कठिन!

मानव संस्कृति की आवश्यकता बहुत पुरानी है, पर अब उसकी पूर्ति का ढंग बदल रहा है। पहले इसकी आशा व्यक्ति से की जाती थी, पर अब राज्य से इस बात की आशा की जाती है। यह आशा तो बुरी नहीं है। बुराई इसमें यही है कि राष्ट्रनेता इसमें सत्ता हथियाना मुख्य समझ लेते हैं। इसलिए वे बात करते हैं विश्व-प्रेम की, पर उनके आचरण से दूसरों के प्रति घृणा टपकती है। वे अपने को शांति और अहिंसा का पुजारी बताते हैं पर लगे हैं सामरिक तैयारी में। बार-बार वे जनता की गरीबी मिटाने की बात दुहराते हैं पर शासन का खर्च बढ़ता जा रहा है। इसलिए एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भय आतंक है तो दूसरी ओर राष्ट्रों के आंतरिक जीवन में विषमता, शोषण और दमन है। आज के विश्व नेता उस शांति के निर्माण की पुकार मचा रहे हैं जिसे वे स्वयं अपने राष्ट्रीय जीवन में नहीं उतार पा रहे हैं। महावीर ने इससे विपरीत काम किया। वह लोगों के मन से वही अशांति हटाना चाहते थे जिसे वह स्वयं हटा चुके थे। उनका कहना था कि जब तक अशांति का कारण है तब तक शांति मिल नहीं सकती। अशांति

का यह कारण है आकांक्षाओं को बढ़ाते और उसकी पूर्ति के साधनों को जुटाते रहने में। महावीर ने आत्मशांति पाने के लिए व्यक्तिगत साधनों पर से अपना स्वामित्व छोड़ दिया था, यह इस बात का संकेत है कि यदि हम राष्ट्र या विश्व में शांति स्थापित करना चाहते हैं तो उसके साधनों पर अधिकार की भावना छोड़ देना चाहिए। ये साधन चाहे आर्थिक हों या बौद्धिक। जिस तरह जो व्यक्ति अपनी अशांति नहीं मिटा सकता वह दूसरों की अशांति क्या मिटाएगा; इसी तरह जो राष्ट्र अपने में शांति समता नहीं ला सकता, वह दूसरे राष्ट्रों में कैसे यह कर सकता है।

सबसे अंतिम और महत्वपूर्ण मानव-संस्कृति की बात महावीर में यह थी कि उन्होंने पैदल भ्रमण कर अपने विचार जनता को समझाए। जब यज्ञों के सुवासित धूम्र और मंत्रोच्चार से आकाश में देवताओं का आह्वान गूंज रहा था, तब महावीर ने धरती पर मानव संस्कृति की नींव यह कह कर डाली कि देवत्व मनुष्य में है। उसके पवित्र आचार-विचार में हैं। देवता आकाश से उतर कर नहीं आते, बल्कि धरती से उठकर ही ऊपर जाते हैं। इसलिए वह देवदूत (पैगम्बर) नहीं मनुष्य-दूत बने। आजकल भी मानव संस्कृति के निर्माता आकाश में उड़कर कीमती वाहनों पर चलकर मानवता के निर्माण कार्य में लगे हैं। यह निर्माण जितनी तीव्रता से चल रहा है ध्वंस के साधन उतने ही उग्र और भयंकर होते जा रहे हैं। विश्व-निर्माताओं के हाथ में विनाश के साधन हैं, पर उनके मुख में है मानवता के निर्माण की मीठी वाणी। ऐसे घोर समय में महावीर की इस बात का स्मरण कर लेना ठीक होगा कि तुम विश्व में सचमुच नया निर्माण करना चाहते हो तो विनाश के साधनों पर अधिकार कर लेने का मोह छोड़ दो। दूसरों से भयभीत होना इस बात का प्रमाण है कि तुम्हें अपने और अपनी जीवन पद्धति में विश्वास नहीं है। अपनी जीवन पद्धति इतनी सरल और साधारण बना लो कि वह किसी की ईर्ष्या का विषय न हो, फिर तुम देखोगे कि जिन्हें तुम अपने आतंक से नहीं दबा सके वे तुम्हारे सहज प्रेम से खिंचे हुए चले आ रहे हैं। महावीर ने अपने जीवन से यही सिद्ध कर दिखाया।

पूर्ण मनुज !

वह पूर्ण मनुज मुस्काता है !

अम्बर के नीलम-उपवन में
हँसती उडु-फूलों की महफिल ;
शशधर की राजत किरणों से
चू-चू कर गिरते सुधा-सलिल ;
मुदित सुधर्मा में सुखासीन वह शान्ति-मंत्र को गाता है !

किन्तु, यहाँ धरती रोती है
शबनम-आँसू से गीली-सी,
सूख रहीं वल्लरियाँ कोमल
पतझड़ से आहत पीली-सी
व्यथित विश्व में गुरु-अभाव का नित सपना-सा लहराता है !

जगे रात-भर, रहे अनमने
उन्निद्र उषा के दृग रंजित ;
रहा काँपता विकल-विमन-सा
मलयज, निष्ठुर तुहिन-विमूर्छित,
तरु-तरु पर किसलय-किसलय पर शोक-तिमिर छाता जाता है !

भटक रहे पशु-मनुज दनुज बन
धरा सुप्त हिंसा-छाया में ;
दया स्वार्थ को गलबाँही दे
उन्मत्त बनी-सी माया में ;
जन-जन में, मन-मन में उन्मन आपद-घन घहराता आता है !

अमरावती सजी उत्सव में
सत्य-अहिंसा से उद्भावित ;
किरण एक तीखी हँसती-सी—
आती, देखो अग-जग ज्योतित;
मानवता-प्रिय महावीर वह मानव में मिलता जाता है !
वह पूर्ण मनुज मुस्काता है !

—श्रीरञ्जन सूरिदेव

भगवान् महावीर के नाम पर—

एक नया पुरोहितवाद

—मुनि सुरेशचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न

आज से लगभग प्रायः २५०० वर्ष पूर्व भारत के चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार था—ऐसा अन्धकार, जिसे करोड़ों सूर्य भी एक साथ उदित होकर दूर नहीं कर सकते थे ! पुरोहितवाद का सितारा बुलन्द था। एक तरह से वह पुरोहित-युग था। धर्म और समाज के नेतृत्व की बागडोर पंडों-पुरोहितों के हाथों में थी। वे जिधर जैसा चाहें, घुमा दें। जनता उनके हाथ की कठपुतली थी। एक तरह से पंडे-पुरोहित उस युग के विचारों के नियन्ता थे। अपनी पार्थिव लालसाओं और भौतिक एषणाओं को पूरा करने के लिए धर्म के नाम पर जन-मन-नयन को इधर-उधर घुमा देना, अधर्म पर धर्म का रंग चढ़ा देना उनके बायें हाथ का खेल था। पोथी-पत्रों के नाम पर जीवन के थोथे सूत्र गढ़ कर आदमी के दिल और दिमाग को उनमें बंद कर दिया गया था। प्रत्येक ईंट-पत्थर, प्रत्येक नदी-नाला और पहाड़ देवता के नाम पर पूजा जा रहा था, और अज्ञानी जन-वर्ग अपनी महत्ता भूल कर दीन-हीन भिखारी बना हुआ, उनके आगे अपना मस्तक रगड़ता फिर रहा था। असत्य, कपोल-कल्पना व अहंकार की खोखली नींव पर जातीयता को खड़ा करके मानवता के साथ क्रूर अट्टहास किया जा रहा था। आचार-विचार के स्थान पर जातीय श्रेष्ठता का डिमडिमनाद गूँज रहा था। ज्ञान का अधिष्ठाता ब्राह्मण ज्ञान-सेवा के मार्ग से च्युत होकर स्वार्थवाद की अंधेरी गलियों में भटक रहा था। भूला-भटका पुरोहित-वर्ग स्वयं तो अन्धकार में जा ही रहा था, साथ में जनता को भी अपने बुद्धि-चातुर्य से अन्धकार की ओर ले जा रहा था। दायें-बायें सब ओर पाखण्ड, स्वार्थ-लोलुपता तथा पुरोहितवाद की आँधियाँ उमड़-घुमड़ रही थीं। भारत के क्षितिज पर एक घना अंधेरा छाया हुआ था।

ऐसे अन्धकारपूर्ण युग में महामानव महावीर की दिव्य आत्मा धरतीतल पर ज्योति-पुंज बन कर आई। उस प्रदीप्त आत्मा ने अपने दिव्य सन्देश द्वारा मानव की अवरुद्ध मानसिक जड़ता को झकझोर कर विशुद्ध मानवता का पाठ पढ़ाया। धार्मिक सिद्धान्तों में लगे जंग को हटाकर उनमें नए सिरे से नए

प्राणों का संचार किया। निडरतापूर्वक पुरोहितों के काले कारनामों की पोल खोली। अहिंसा, सत्य एवं समत्व की मूल भित्ति पर जीवन के महत्त्व को आंकने के लिए जन-मानस को उत्प्रेरित किया। तत्कालीन समाज के जाति-भेद रूपी सर्प को मानव-मानव एक के साम्य-मूलक मंत्र से नष्ट करने की अचूक क्रिया बतलाई। मानव-समाज को पतनोन्मुख करने वाले पुरोहितों का भंडाफोड़ किया। समाज की छाती पर मौज से क्रीड़ा करने वाले धर्म के ठेकेदारों के नारकीय जीवन की भरसक भर्त्सना की और एक नई विचार-क्रान्ति एवं आचार-क्रान्ति की जलती हुई मशाल जनता के हाथों में दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महामना महावीर ने पुरोहित-सम्प्रदाय और उसके द्वारा प्रवर्तित संकीर्णताओं, जड़ताओं, कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों और वर्गवाद की क्षुद्र भावनाओं पर कितनी गहरी चोटें की थीं? पर, आज महावीर के ठेकेदारों ने उस महावीर के नाम पर ही, जो जड़वाद एवं वर्गवाद के प्रति सिर से पैर तक क्रान्ति ही क्रान्ति था—कितने ही सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय खड़े कर लिये हैं। वृक्ष की शाखा-उपशाखाओं की तरह उनमें भी कितनी ही शाखा-उपशाखाएँ फूट निकली हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर, बाईस सम्प्रदाय, तेरह पंथ, बीस पंथ, तारण पंथ, खरतरगच्छ, तपागच्छ आदि कितनी बाड़ा बन्दियाँ और मतवाद आज महावीर का नाम ले-लेकर वीर-शासन का जय-ध्वज हाथ में लेने वालों ने अपने चारों ओर खड़े कर लिये हैं। अपने-आपको सच्चा और दूसरे को झूठा बतलाने का कितना भेद-भरा वातावरण उनके अन्दर चल रहा है! अनेकान्त को भूलकर एकान्त-वासना की उपासना में वे किस प्रकार लीन-तल्लीन हो रहे हैं! ये सब पुरोहितवाद के भग्नावशेष नहीं तो क्या हैं?

दरअसल, पुरोहितवाद के अजगर का पेट इतना बड़ा है कि वह सबको निगल लेता है। उस पर किसी का रंग नहीं चढ़ता, और वह सब को अपने रंग में रंग लेता है। पुरोहितवाद की सबसे निकृष्ट देन परम्परा-गत जातिवाद है। महावीर ने इस जातिवाद के प्रति खुला विद्रोह किया था और जनता को समत्व-योग का महापाठ पढ़ाया था।

पर, खेद है कि जिन ऊँच-नीच और जात-पांत की दानवी दीवारों को भूमिसात् करने के लिए महावीर ने सब कुछ किया और सब कुछ सहा; आज उसी जातिवाद एवं वर्गवाद के कट्टर विद्रोही के जय-जयकार से जमीन-आसमान एक करने वाले सड़ी-गली एवं सार-विहीन जातीय संकीर्णताओं को अपनी

छाती से चिपकाए फिर रहे हैं ! जातिवाद के भूत से अभिभूत होकर ही आज उन्होंने ओसवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल, पोरवाल, पल्लीवाल, श्रीमाल, श्री श्रीमाल, दस्सा, बीसा, अढ़ैया आदि न जाने कितनी मनःकल्पित जातियाँ-उपजातियाँ, जिनका महावीर के युग में अस्तित्व भी नहीं था, बनाकर खड़ी कर ली हैं और उनमें पुरोहितों की तरह जन्म-गत ऊँच-नीच, तथा पवित्र-अपवित्र के भेद-विभेद स्थापित करके मानवीय एकता के मार्ग में हजारों रोड़े खड़े कर दिये हैं ! यह पुरोहितवाद का जीवित रूप नहीं तो क्या है ?

और तो और, पुरोहितवाद के संसूचक यज्ञोपवीत भी आज उनके गले के हार बन गए हैं। वही पुरोहित-वर्ग के छापे-तिलक आज उनके मस्तक के अलंकार बन गए हैं। वही पुरोहित-वर्ग की कंठी-मालाएँ उन्होंने पकड़ ली हैं। वही 'स्नाने धर्मेच्छा' का गुरुमंत्र और बाह्य शुद्धि में धर्म-बुद्धि का भूत उनके मन-मस्तिष्क को जकड़े हुए है। वही ईंट-पत्थर, नदी-नाले और पहाड़ों को पवित्र-पवित्रतर स्थान मानकर उनके आगे मत्था टेकने की जड़ पुरोहिती आदत के वे बुरी तरह शिकार हैं। जिस ईश्वर कर्तृत्व का महावीर ने जम कर विरोध किया था, उसी कर्तृत्ववाद को आज भक्तों द्वारा महावीर के मत्थे मढा जा रहा है। महावीर के अनुयायी आज कर्तृत्ववाद की भूल-भुलैया में पड़कर जगह-जगह चमत्कार के झूठे तूफ़ान खड़े कर रहे हैं, भोली जनता को पुरोहितों की तरह भुलावे में डाल रहे हैं और जन-मानस को एक गहरी अन्ध-स्थिति में ले जा रहे हैं। महावीर के नाम पर एक नए पुरोहितवाद को जन्म दे दिया गया है। महावीर के अनुयायियों के जीवन की यह कैसी विडम्बना है !

यह तथ्य दिन के उजाले की तरह साफ है कि महावीर के युग में जैसे सामाजिक सत्ता की बागडोर पुरोहित-वर्ग के हाथों में थी, उसी प्रकार आज हमारे समाज एवं संघ का नेतृत्व श्रमण-वर्ग और मुनि-समुदाय के हाथों में केन्द्रित है। जैसे पुरोहित-वर्ग समूचे समाज का हितकारी होने का दावा करता था और अपनी निर्लिप्तता का ढोल पीटता था; उसी प्रकार समाज के ये नए पुरोहित भी समग्र समाज के कल्याण एवं श्रेय का दम भरते हैं, और सब कुछ करके भी स्वयं निर्लेप-नारायण बने रहने की उद्घोषणा करते हैं। जैसे पुरोहित-वर्ग बड़े-बड़े अनुष्ठान-महोत्सव करके स्वर्ग के नाम पर जनता को उल्लू बनाता था और परदे की ओट में अपने स्वार्थों और अपनी आकांक्षाओं का खेल खेलता था; उसी प्रकार पुरोहितवाद की ये जीवित-जाग्रत मूर्तियाँ भी आज बाल-दीक्षा के नाम पर, समाज-हित, धर्म-प्रचार और अणु-व्रत के

प्रसार के नाम पर, अधिवेशनों, सम्मेलनों और आन्दोलनों के नाम पर जनता को बरगला रही हैं ! और खुलेआम हजारों की भीड़-भाड़ में पशु-बलि की तरह छोटी-छोटी उम्र के बालक-बालिकाओं की बलि दे रही हैं। बाल-दीक्षा के नाम पर अनैतिकता, अधार्मिकता, असामाजिकता, अराष्ट्रीयता का खुला प्रचार कर रही हैं और लौह आवरण के पीछे अन्तर्जगत् में उठते-घुटते अपने अरमानों की दुनियाँ आबाद कर रही हैं, भ्रष्टाचार और अनाचार को बढ़ावा दे रही हैं। यह पुरोहित-लीला नहीं तो क्या है ?

इतना ही तहीं, पुरोहित-वर्ग की भाँति समाज के ये जाने-बूझे महाश्रमण और मुनि महाराज वाणी तो बोलते हैं सामूहिक हित की, जन-कल्याण एवं संघ-समुत्कर्ष की, पर सोचते हैं अपने ही स्वार्थों की भाषा में। संघ-हित के नाम पर हजारों का पानी कराकर ये बड़े-बड़े मेले-ठेले तो जोड़ लेते हैं, पर सोचते-बोलते और झगड़ते हैं अपने ही क्षुद्र स्वार्थों की छाया में। जो दायित्व तो ओढ़ते हैं अपने कन्धों पर समूचे संघ के अभ्युदय का, समग्र समाज के उत्कर्ष का; पर सार्वजनिक मंच पर बैठकर किये जाते हैं वहाँ अपने ही रोटी-टुकड़े के फैसले ! जो दावा तो करते हैं सामाजिक कल्याण तथा संघ के नव-निर्माण का, पर पड़े हैं वे अपनी ही दाल-रोटी के हेर फेर में ! जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ तो हैं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तक पर छा जाने की और टोकियो की परिषद् तक अपने आदेश-संदेश गुंजाने की, पर दिल हैं जिनके इतने सकरे और तंग कि परार्थ के नाम पर किसी को अंगुली टेकने की भी जगह न मिले ! यह सब पुरोहितवाद की नाटच-लीला नहीं तो क्या है ?

एक दिन महावीर ने पुरोहित-वर्ग के सामने—जिसके धर्म-कर्म का निर्णय करने और युग की समस्या को सुलझाने के लिए पोथी-पत्रे थे, वेद-वाक्य का घोष था, परम्परावाद का नारा या, पूर्वजों के नाम का मंत्रोच्चारण था—तथ्य का अनावरण करते हुए कहा था, "धर्म-कर्म का निर्णय और युग की समस्याओं का साधन ये पुरानी पोथियाँ, पूर्वजों की आँखें और घिसी-पिटी परम्परा की लकीरें नहीं कर सकती। ये जड़ चीजें चैतन्यशील मन-मस्तिष्क पर एक व्यर्थ का बोझ ही डाल सकती हैं, सच्चा समाधान देकर उसे हलका नहीं कर सकतीं। धर्म-तत्त्व का विनिश्चय तो मनुष्य की अपनी प्रज्ञा—शुद्ध बुद्धि ही कर सकती है। युग-समस्याओं का समाधान बौद्धिक प्रकाश में ही ढूँढा जा सकता है।"

परन्तु, महावीर का जय-जयनाद करने वाले आज स्थितिवादी महा-श्रमण और श्रमणोपासक महावीर के इस स्वतंत्र प्रज्ञावाद तथा बुद्धिवाद

का, जिसमें मनुष्य की चिन्तनिका को खुला अवकाश मिला है और जिसमें युग परिवर्तन का हृदय से आगत-स्वागत है, नग्न उपहास कर रहे हैं। बुद्धि के हर मोड़ पर भूला-भटका आज का श्रमण एवं श्रमणोपासक पुरोहितवाद का जिन्दा प्रतीक बन गया है। धर्म-कर्म का निर्णय करने तथा युग की ज्वलन्त समस्याओं का हल ढूँढने के लिए उनके पास भी बड़ी-बड़ी पोथियां हैं, शास्त्र-वाद की दुहाई हैं, ग्रन्थों-उपग्रन्थों के पुलन्दे हैं, परम्परावाद का नारा है और गुरुडमवाद की गुहार है। पोथी पत्रों का एक-एक जड़ शब्द आज उनके लिए वेद-वाक्य बन गया है, चाहे उसका जीवन और उसकी समस्या से जरा भी संबंध न हो। उनके दिमाग की खिड़कियां और बुद्धि के द्वार एकदम बंद हैं। आंखें मूद कर एक तरह से वे अतीत के कैदी बन गए हैं। आज के अणुयुग में पाषाण युग के मस्तिष्क से वे आज के समाज को गति-प्रगति देने की बात सोच रहे हैं। किसी भी समस्या पर आज उनका दृष्टि-कोण ऐसा है, जिसे जड़ कहा जा सकता है। क्षण-क्षण बदलती दुनिया को देखते हुए भी वे आज अन्धविश्वासों में रह रहे हैं। वे जड़ विचारों से बँध गए हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की रट वे आज भी लगाते हैं, खूब जोरों से लगाते हैं, पर युग-परिवर्तन का स्वागत करने में उन्हें हिचकिचाहट है, हालांकि युग की रफ्तार के थपेड़ों से बदलती हुई दुनिया के साथ वे भी बेतरह बदल रहे हैं। वे नहीं जानते कि युग-धर्म के अनुसार परिवर्तन का अर्थ पिछड़ जाना नहीं है। बाल्यावस्था के युवावस्था के रूप में परिवर्तित होने का अर्थ बाल्यावस्था का विनाश नहीं, प्रत्युत बाल्यावस्था का यौवन के रूप में क्रमिक विकास है। युग-भावनाओं के अनुसार परम्परा-परिवर्तन भी विकास एवं बुद्धिमत्ता का प्रतीक है, जिसकी तीर्थंकर भी उपेक्षा नहीं कर सकते। महावीर के बुद्धिवाद के मार्ग से भूल भटक कर आज का श्रमण-वर्ग पुरोहित-वर्ग की तरह स्वयं भी अंधेरे में जा रहा है और जनता को भी अंधेरे में ले जा रहा है। यह पुरोहितवाद की लकीर पीटना नहीं तो क्या है?

काश, महावीर-जयन्ती के पुनीत अवसर पर हम अपने जीवन की गति-विधियों का अवलोकन करें और पुरोहितवाद के इस लबादे को फेंक कर वीर-शासन की मूल भावनाओं को पुनरुज्जीवित कर सकें और जीवन में नव जागरण की गहरी अंगड़ाई लेकर नए सिरे से नयी जिन्दगी का नया दौर शुरू कर सकें!

———

वन्दना

ओ मुक्त आत्मा महावीर ! ओ सर्व शक्ति कृत कृत्य काम ।
अनुपम, अद्भुत औ' अवर्णनीय, अगणित अनन्त तेरे सुनाम ॥

ओ कामदेव ! ओ शिवा-कान्त !
ओ वीतराग ! ओ निराक्रान्त !
ओ अनुद्विग्न ! ओ अनुदभ्रान्त !
अविरल, अविचल, अक्षय, अखण्ड, दर्शन-सुख-वलयुत विभु ललाम ।
ओ मुक्त आत्मा महावीर ! ओ सर्वशक्ति कृत कृत्य काम् ॥

ओ आत्म रूप ! ओ धर्म-प्राण !
ओ देह-शून्य ! ओ सिद्धि-खान !
ओ लोकोत्तर विभु विद्यमान !
विभु महावीर सच महावीर, वसु कर्म जीत कर ले विराम ।
ओ मुक्त आत्मा महावीर ! ओ सर्व शक्ति कृत कृत्य काम ॥

ओ सफल सिद्ध सच्चिदानन्द !
आत्मानुकूल सन्मति अमन्द !
ओ प्रभा-पुंज, तज सभी द्वन्द्व !
कल्याण किया हो जन्म शून्य, हो मरण-शून्य, हो कला धाम ।
ओ मुक्त आत्मा महावीर ! ओ सर्व शक्ति कृत कृत्य काम ॥

महिमा मय प्रभु पावन पुनीत !
अनुपम सुन्दर तेरे सुगीत !
सच सर्वोत्तम तेरी सुजीत !
देवाधिदेव अभिवन्दनीय, स्वीकृत हो विभु मेरा प्रणाम ।
ओ मुक्त आत्मा महावीर ! ओ सर्व शक्ति कृत कृत्य काम ॥

—लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'

जैनागमों में भगवान महावीर के जीवनवृत्त की सामग्री

–श्री अगरचंद नाहटा

जैनधर्म के चौबीस तीर्थङ्करों में अन्य तीर्थङ्करों का काल एवं अन्तर तो बहुत लम्बा है, पर भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के निर्वाण के बीच केवल २५० वर्षों का अन्तर है। भ० महावीर के समय भ० पार्श्वनाथ के अनेक श्रमण और साध्वियाँ विचरण कर रही थीं जिनमें से कुछ ने तो भ० महावीर का आज्ञानुवर्त्ती-शासन स्वीकार किया था। भ० महावीर के माता पिता भी पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। अतः भ० पार्श्वनाथ की परम्परा उन्हें प्राप्त ही थी। श्रमण गौतम और केशी स्वामी के संवाद के पश्चात् तो भ० महावीर और भ० पार्श्वनाथ का संघ घुल-मिल गया था, वस्तुतः दोनों के शासन में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। केवल देशकाल एवं व्यक्तियों की योग्यता के भेद से विधि-नियमों का सामान्य अन्तर था, इसका स्पष्टीकरण केशी गौतम के संवाद से भली भांति हो जाता है। एक बात जो बार-बार मन में उठा करती है वह यही कि २५० वर्षों के थोड़े से अन्तर में भ० पार्श्वनाथ की वाणी का सर्वथा लोप कैसे हो गया? जब भ० महावीर की वाणी १००० वर्ष पर्यन्त तो श्रमण संघ को मौखिक रूप में स्मरण रह सकी थी तो पार्श्वनाथ के श्रमण बहुत अच्छी संख्या में मौजूद थे व उनकी स्मृति भी तीव्र थी, मौखिक पठन पाठन की परम्परा उस समय सार्वत्रिक थी तो २५० वर्षों का काल कोई इतना दीर्घ नहीं जिससे पार्श्वनाथ की वाणी सर्वथा लुप्त हो जाए। इस समस्या का समाधान कई विद्वान इस रूप में करते हैं कि चतुर्दश पूर्व का जो विशाल ज्ञान था उस ज्ञान में जो पूर्व शब्द प्रयुक्त है वह सम्भवतः पार्श्वनाथ प्रभु के ज्ञान व वाणी का सूचक हो। खैर, जो भी हो हमारे सौभाग्य से भ० महावीर की वाणी पूर्णरूप से नहीं तो आंशिक रूप से तो अवश्य ही हमें प्राप्त है। हमारी दिगम्बर परम्परा उसके मूल रूप से सुरक्षित न होने का कारण बतला कर उससे महान् लाभ उठाने से वञ्चित रह गई। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हीं के ग्रन्थों में एकादश अंगादि आगमों का जो विषय व स्वरूप

प्रतिपादित है वह वर्तमान जैनागमों में मिलता है, इसलिए उनका परिमाण चाहे क्यों न संक्षिप्त हो गया हो, पर मूल वस्तु उनमें चारुतया संरक्षित है। इसी तरह अष्टादश पाहुड़, महाबन्धादि दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित ग्रंथ भी भ० महावीर की वाणी के निकटवर्त्ती रचना हैं। उनका श्वेताम्बर समाज को पूर्णरूप से आदर करना चाहिए।

भ० महावीर के जीवन का सबसे प्रामाणिक और सुन्दर निरूपण यदि कहीं मिल सकता है तो वह जैनागमों में ही। पाश्चात्य विद्वानों ने भी निष्पक्ष दृष्टि से भाषा विज्ञान छन्दादि की वैज्ञानिक जांच द्वारा आचारांग, सूयगडांग, उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों के बहुत से अंशों को भ० महावीर की सुरक्षित वाणी माना है। प्रस्तुत लेख में हम उन आगमों में जहाँ-जहाँ भ० महावीर के जीवन की जो सामग्री बिखरी हुई है उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन कराएँगे। मुनि कल्याण विजय जी, श्रीचन्द जी रामपुरिया, गोपालदास पटेल आदि ने उन बिखरे हुए जीवन सूत्रों को एकत्र कर गुंफन करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार भ० महावीर की वाणी के विविध संकलन गत कुछ वर्षों में प्रकाशित हुए हैं। यह हर्ष की बात है। पर अभी बुद्धचर्या की भांति और कुछ ठोस कार्य होना अपेक्षित है। बौद्ध ग्रन्थों के आधार से भी भ० महावीर का जीवनवृत्त संकलित किया जाना चाहिए।

जैन आगमों में सर्व प्रथम एकादश अंग सूत्र की ओर ध्यान जाता है। उनमें से पहले आचारांग सूत्र के नवमें उपधान श्रुत नामक अध्ययन में चार उद्देशक हैं जिनमें क्रमशः भ० महावीर की चर्या, शय्या, सहिष्णुता और तपश्चर्या का बड़ा ही स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है। भ० महावीर के साधक जीवन का इतना सुन्दर वर्णन हमें आज भी प्राप्त है यह अवश्य गौरव की बात है। और भी बहुत से जीवन सूत्र इस आगम में सबसे प्राचीन व प्रामाणिक सुरक्षित हैं। दूसरे अंग सूत्रकृतांग में भ० महावीर की स्तुति प्राप्त होती है वह सबसे प्राचीनतम स्तुति है और उसमें भ० महावीर के उत्कृष्ट गुणों का हृदय-ग्राही वर्णन है। तीसरे और चौथे अंग संख्या, स्थान व समवाय की शैली से निबद्ध हैं उनमें अलग-अलग स्थान व समवायों में भ० महावीर के अनेक सूत्र प्राप्त हैं। अभी इन दोनों ग्रंथों का सम्मिलित संकलन गुजराती में पं० दलसुखभाई ने किया है उनमें भ० महावीर के जीवन संबन्धी बिखरे हुए सूत्रों को एकत्र कर लिया है जिससे उसका महत्व बढ़ गया है। पंचमाङ्ग भगवती या विवाहप्रज्ञप्ति तो एक आकर ग्रंथ है। समस्त जैनागमों में यह सबसे बड़ा

और विविध विषयों को स्पर्श करने वाला है। इसमें महावीर प्रभु के प्रचुर जीवन प्रसंग हैं जिनमें से कुछ तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गोशालक का वर्णन करते हुए तो भ० महावीर ने अपनी आत्मकथा ही कह दी है। इसी प्रकार देवानन्दा के प्रसंग में भ० महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए एक सत्य का बड़ी ही स्पष्टता से घटस्फोट किया है कि यह मेरी माता है। अन्य अनेक प्रसंग भी महावीर प्रभु के ज्ञान, तत्कालीन वातावरण, लोक मनोवृत्ति, जिज्ञासाएँ, भ० महावीर से उनका संबन्ध, उनकी जिज्ञासाओं का समाधान आदि का जितना सुन्दर निरूपण इस महान् आगम में मिलता है अन्यत्र कहीं नहीं। भगवान के सम्पर्क में आए हुए व्यक्तियों और उनके समय की कई घटनाओं का उल्लेख तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसे—महाशिला कण्टक व रथमूसल संग्राम, मंखलीपुत्र गोशालक का प्रभु के समवशरण में आगमन, कई पार्श्वापत्यों का संबन्ध, तामसी तापस, स्कंधक परिव्राजक व जमालि आदि का संबन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से अति मूल्यवान है।

छठे ज्ञातासूत्र में भ० महावीर की औपदेशिक शैली व मेघकुमार आदि का प्रसंग बड़े ही सुन्दर रूप से निरूपित है। मेघकुमार महाराजा श्रेणिक का प्रिय पुत्र था। उसकी दीक्षा का प्रसंग तत्कालीन उत्सवों की सुन्दर झांकी प्रस्तुत करता है। संयमधर्म से विचलित परिणामी होने पर उसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को बतलाकर भगवान ने किस प्रकार उसे संयम मार्ग में स्थिर किया, इसकी चर्चा बड़ी ही लोमहर्षक है। इस सूत्र का द्रौपदी अध्ययन पुरुषोत्तम कृष्ण और पाण्डवों की जीवन चर्या का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित करता है।

सातवें उपासक दशांग में भ० महावीर के १० श्रमणोपासकों का जीवन वर्णिक है। उससे तत्कालीन भोगोपभोग की वस्तुएँ, जीवन व्यवहार, आजीविका, गृहस्थ जीवन की साधना आदि का चित्र सा खिंच जाता है। पहले श्रावक आनन्द ने जो व्रत नियम स्वीकार किए उनसे तत्कालीन समाज व्यवस्था, जीवन की आवश्यकताएँ आदि का बड़ा ही सुन्दर परिचय मिलता है। आनन्द के एक प्रसंग में भ० महावीर की सत्यनिष्ठा का अत्युत्तम प्रसंग पाते हैं। गणधर गौतम जो अपने प्रधान शिष्य थे, उन्होंने अनुपयोग से आनन्द श्रावक का कथन मिथ्या बतलाया था, भगवान महावीर ने उसी समय इस भूल का संशोधन करने के लिए गणधर भगवान को वापस आनंद के पास भेजा। कामदेव श्रावक का वर्णन तो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। प्रभु

महावीर उसका दृष्टान्त देते हुए श्रमणों को उपदेश देते हैं कि उपसर्ग आने पर उसकी तरह स्थिर रहना चाहिए। आजीवक सम्प्रदाय के अनुयायी कुम्भकार सद्दालपुत्र की जीवन में गोशालक ने किन शब्दों में भ० महावीर का गुण वर्णन किया इसका बड़ा सुन्दर निरूपण है। गोशालक और भ० महावीर के सिद्धांतों जो बड़ा अन्तर था उसका इसमें स्पष्ट सूचन है।

आठवाँ अंग प्रधानतया भ० नेमिनाथ और कृष्ण से संबन्धित है पर उसमें अर्जुनमाली, अतिमुक्तक मुनि और महाराज श्रेणिक की २३ रानियों ने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण कर किस प्रकार साधना द्वारा अन्तःकृतकेवली हुए इसका वर्णन है। अर्जुन मालाकार का प्रसङ्ग तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तत्कालीन यक्ष पूजा और उस प्रसंग से अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चलता है।

नवें अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र में महाराजा श्रेणिक की धारिणी रानी के ७ पुत्र, चेलणा के २ पुत्र, नन्दा के अभय कुमार भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण कर अनुत्तर विमानवासी हुए इसका निरूपण है। इस सूत्र में धन्ना अणगार के तप का वर्णन बहुत ही रोमाञ्चक है। स्वयं भ० महावीर उनके तप की प्रशंसा करते हैं। घोर तपश्चर्या के द्वारा उनके शरीर की जो स्थिति हुई उसका वर्णन एक अद्भुत चित्र सा उपस्थित कर देता है।

दसवाँ प्रश्न व्याकरण अब मूल रूप में प्राप्त नहीं है, इसलिए उसमें भ० महावीर का जीवन प्रसंग नहीं मिलता। उस महत्त्वपूर्ण आगम के विच्छेद से वास्तव में एक बड़ी हानि हुई है क्योंकि समवायांग और नन्दी सूत्र में द्वादशांग गणि पिट्टक का जो विवरण दिया है उसके अनुसार इस आगम में १०८ प्रश्नों, १०८ अप्रश्नों, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्यातिशय और नागकुमार व भुवनपतियों के साथ मुनियों के वार्त्तालाप का वर्णन था। उससे अवश्य ही तत्कालीन विद्याओं, अतिशयों का चमत्कारिक वर्णन मिलता, पर आज उसके स्थान में इस नाम का जो आगम स्थानापन्न है उसमे पाँच आश्रव व पाँच संवरद्वारों का वर्णन है। पारिभाषिक शब्दों और अनेक वस्तुओं के नामों व भेद-प्रभेदों का उससे अच्छा पता चलता है। हिंसा से परिग्रह तक के पंच अव्रतों के ३०–३० नाम व अहिंसा के ६० नाम पर्यायवाची शब्दों का बहुत सुन्दर ज्ञान कराते हैं। ग्यारहवें विपाक सूत्र में सुख और दुख विपाक की कथाएँ हैं। उनमें भ० महावीर के समय के दण्डविधानों का अच्छा वर्णन मिलता है। तत्कालीन जेल और सजाओं का वर्णन बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। मृगापुत्र का जीवन बड़ा ही हृदयद्रावक है। गणधर गौतम प्रभु महावीर से

इसका स्वरूप ज्ञातकर उसे देखने को पहुँचते हैं। राजकुमार सुबाहु ने भ० महावीर के उपदेश से द्वादश व्रत ग्रहण किये, इसी तरह अन्य कई प्रसंग भ० महावीर से सम्बन्धित हैं।

अंगों के बाद उपाङ्गों का स्थान है। उनमें से प्रथम उपाङ्ग औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी, पूर्णभद्र चैत्य, श्रेणिक के पुत्र कोणिक, उनकी रानियों तथा भ० महावीर के समवसरण में कोणिक के सपरिवार वन्दनार्थ आगमन आदि का वर्णन है। भ० महावीर के अंगोपांगों का वर्णन बहुत ही सुन्दर और उल्लेख योग्य है ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इस सूत्र से तत्कालीन श्रमणों की विविध तपश्चर्या व साथ ही तापसों-परिव्राजकों के नियमों व तपों की बड़ी ही अच्छी जानकारी दी गई है। दूसरे उपांग राज-प्रश्नीय में प्रदेशी राजा व सूरिआभ देव का विस्तृत चरित्र है। सूरिआभ देव, जब भगवान महावीर आम्लकथा नगरी में विराजमान थे तब वन्दनार्थ आता है, धर्म देशना श्रवणोपरांत वह प्रभु के समक्ष भक्ति पूर्वक ३२ प्रकार के नाटक प्रदर्शित करता है जिसमें अंतिम नाटक में भगवान महावीर के च्यवन से निर्वाण तक के जीवन प्रसंग का अभिनय दिखाता है जो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। नास्तिक शिरोमणि प्रदेशी राजा के प्रश्नों का समाधान पार्श्वापत्य केशी गणधर जिन युक्तियों द्वारा करते हैं वह तो भारतीय दार्शनिक व तर्क प्रणाली का सुन्दर नमूना है। तत्कालीन शिल्प, संगीत व शास्त्र की विशेष जानकारी भी इस ग्रंथ की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

तृतीय उपांग जीवाभिगम में अजीव का विशद निरूपण है। उसमें विजय-देव का अधिकार महत्त्वपूर्ण है। चौथे उपाङ्ग प्रज्ञापना से सातवें चंदपण्णत्ती उपाङ्ग पर्यन्त भ० महावीर के विषय में कोई सामग्री नहीं है। आठवें से बारहवें उपांग पंचक जो वास्तव में एक ही ग्रन्थ के पांच वर्ग है उनमें निरियावली में महाराजा श्रेणिक की रानी काली, सुकाली, उनके पुत्र व पुत्रबधुएं तथा महाराजा कोणिक तथा चेटक के महायुद्ध का ऐतिहासिक वर्णन है। महावीर के समय का यह एक बहुत बड़ा युद्ध था। महाराजा कोणिक, चेलणा आदि के ऐतिहासिक वर्णन उल्लेख योग्य हैं। दूसरे वर्ग कल्पावतंशिका में महाराजा श्रेणिक के १० पुत्रों, १० प्रपौत्रों का प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण व सौधर्म कल्प में उत्पन्न होने का वर्णन है। तीसरे वर्ग पुष्पिता में महावीर को चन्द्र नामक इन्द्र वन्दनार्थ आया व नाट्य विधि की, जिसका वर्णन है।

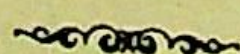
इसके बाद चार मूल सूत्रों में से प्रथम आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में

महावीर चरित्र वर्णित है। दूसरे मूलसूत्र उत्तराध्ययन को तो भ० महावीर ने अंतिम समय में निरूपित किया था। इसमें गणधर गौतम व केशी गौतम का संवाद, हरिकेशीबल, अनाथी मुनि, आदि के चरित्र उल्लेखनीय हैं। चूलिका सूत्रों में नन्दी सूत्रोक्त महावीर प्रभु की स्तुति बड़ी सुन्दर है एवं महावीर की परवर्त्ती परम्परा स्थविरावली ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि ४५ आगमों में स्वतन्त्र स्थान नहीं पर स्वतन्त्र स्थान पाने योग्य दशाश्रुतस्कंध का अष्टम अध्ययन जो परिवर्द्धित रूप में कल्पसूत्र नाम से प्रसिद्ध है, इसमें भगवान महावीर का जीवन चरित्र व्यवस्थित रूप से लिखा गया है। और इसलिए इस ग्रंथ का महत्त्व महावीर चरित्र की दृष्टि से एवं इसके एक विभाग-स्थविरावली का परवर्त्ती आचार्य परम्परा की दृष्टि से बहुत ही ऐतिहासिक महत्त्व है। भ० महावीर के बाद ९८० वर्ष पर्यन्त स्थविरों की परम्परा, समय-समय पर उनसे प्रसिद्धि प्राप्त गण कुल और शाखाओं का सबसे अच्छा वर्णन कल्पसूत्र की स्थविरावली में मिलता है। आवश्यक सूत्र के प्रथमावश्यक के वृहद् विवेचन रूप विशेषावश्यक महाभाष्य में भ० महावीर के ग्यारह गणधरों के प्रश्न एवं समाधान का दार्शनिक विवेचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद आगमों की विशद टीकाओं का स्थान है। जिनमें से हरिभद्र सूरि जी के आवश्यक वृहद् वृत्ति आदि में महावीर चरित्र की अच्छी सामग्री है।

स्वतन्त्र महावीर चरित्रों का प्रारंभ बारहवीं शती से होता है, उससे पहले चउपन्न महापुरुष चरिय आदि में महावीर चरित्र आता है पर वह ग्रंथ अद्यावधि प्रकाश में नहीं आया है। स्वतन्त्र महावीर चरित्रों में खरतर गच्छ के गुणचंद्र गणि (देवभद्र सूरि) का ग्रन्थ सं० ११३९ में विरचित है। समस्त परवर्त्ती साहित्य के संबन्ध में मेरा लेख महावीर सन्देश में प्रकाशित हो ही चुका है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम ग्रन्थों में जहां-जहां महावीर जीवनी संबन्धी जो भी उल्लेख हो उनका सग्रह प्रकाश में आना चाहिए। जिन दो चार प्रसंगों के सम्बन्ध में श्वे० और दिगम्बर समाज का मतभेद है उनके समन्वय पर गंभीरता से विचार किया जाना अपेक्षित है। मथुरा आदि में जो महावीर चरित्र के प्रसंगों का अंकन है, उन सब प्राचीन साधनों पर भी अच्छी तरह विचार होना चाहिए।



ख़िज़रे महावीर

ज़ालिमों ने ज़ुल्म पर जब,
बाँध रक्खी थी कमर ।
पाप को ही धर्म सच्चा,
मानता था हर बशर ॥
ज़ुल्म की जब तेग़ से यह,
थरथराती थी ज़मीं ।
[1]संगे दिल इन्सां बने
करते थे जब ज़ुल्मो जबर ॥
मन्दिरों तक में भी [2]मय के,
जा बजा चलते थे दौर ।
दीन दुखियों पर जुलम का
टूट उट्ठा था कहर ॥
खून में रहते रंगे थे,
[3]दस्त ज्यों [4]मस्ले हिना ।
ग़ैर के अहसान को भी
करते थे जब दर गुज़र ॥
दीन दुखियों की सदा सुन,
हिल पड़ा [5]चर्खे कुहन ।
आए तब अवतार लेकर के
वह सच्चे वीर वर ॥
कर दिया अमनों अमां,
दूर कर सब [6]खामियां ।
एक सब को कर दिया,
जो हो गए थे [7]मुन्तशिर ॥
[8]गोशे गोशे में जहां के,
चमका सितारा वीर का ।
आज मिल कर के मनाएँ,
जन्म उस महावीर का ॥

—मुनि श्री कीर्तिचंद्र जी 'यश'

---

[1] पाषाण हृदय [2] शराब [3] हाथ [4] मेंहदी की तरह [5] आसमान [6] त्रुटियां [7] पृथक [8] कोने कोने ।

भगवान महावीर और अहिंसा

—सुश्री शरवती जैन, साहित्यरत्न

शान्ति के अग्रदूत, सत्य और अहिंसा के पुजारी भगवान् महावीर का जन्म आज से २५४९ वर्ष पहले हुआ था। इनके अवतार के पहले देश का वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीड़ित एवं संत्रस्त था। दीन-दुर्बल सताये जा रहे थे। ऊँच-नीच की भेदभावना जोरों पर थी। सर्वत्र स्वार्थ की तूती बोलती थी। धर्म का स्थान अर्थहीन क्रिया-काण्डों तथा थोथे विधि-विधाओं ने ले लिया था। अनेक प्रकार के देवी-देवताओं को संतुष्ट करने के लिए मूक-पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी। स्वर्ग प्राप्ति के लिए सर्वत्र यज्ञ-यागादिक अनुष्ठान होते थे और उनमें असंख्य निर्दोष पशुओं को होमा जाता था। जीवित प्राणी धधकती ज्वाला में डाल दिये जाते थे और उन्हें स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर मूक प्राणियों के प्राण लिये जाते थे। बलि और यज्ञ के बहाने लोग मांस खाते थे। इस प्रकार देश में अन्याय और अत्याचार का साम्राज्य छाया हुआ था, बड़ा ही वीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था। सत्य कुचला जाता था। धर्म अपमानित हो रहा था। मूक प्राणियों की चीत्कारें आकाश में व्याप्त थीं।

देश के कोने-कोने से यही ध्वनि निकल रही थी कि 'हो कोई अवतार नया'। सभी की दृष्टि किसी असाधारण महापुरुष की ओर लगी हुई थी। सौभाग्य से वैशाली के क्षत्रियकुंड ग्राम में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को गणराज्य के अधिपति ज्ञातृवंशी महाराज सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से भगवान् महावीर का जन्म हुआ। इनका नाम वर्द्धमान रखा गया। वर्द्धमान यथा नाम तथा गुण थे। इनके उत्पन्न होते ही वैशाली में धन-धान्य की भरपूर वृद्धि होने लगी।

वयस्क होते ही वर्द्धमान ने लोक-स्थिति का अनुभव किया। लोगों की अज्ञानता, स्वार्थपरता उनके कुत्सित विचार, अन्ध विश्वास आदि देखकर उन्हें खेद हुआ। साथ ही मूक, निर्दोष तथा पीड़ित प्राणियों की करुण पुकार सुनकर उनके हृदय से दया का अखण्ड स्रोत बह निकला। उन्होंने लोकोद्धार का

दृढ़ संकल्प किया। धर्म के नाम पर प्रचलित हिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई। विश्वप्रेम और विश्व बंधुत्व का उपदेश देने के लिए वह आजन्म ब्रह्मचारी रहे।

वर्द्धमान ३० वर्ष की अवस्था में माता के प्रेम, पिता के स्नेह और गुरुजनों की ममता के बंधन को तोड़कर साधना के लिए घर से निकल पड़े। वे सब जीवों को अपने ही समान देखते थे। सबके साथ अपने जैसा व्यवहार करते थे। वे साक्षात् विश्व प्रेम की मूर्ति थे–उमड़ता हुआ दया का सागर थे।

बारह वर्ष की कठिन साधना के द्वारा महावीर ने अपने जीवन में पूर्ण अहिंसा को उतार लिया और कैवल्य को प्राप्त कर अपने समय की हिंसक विचारधाराओं के विरुद्ध, सबसे ऊँची और मर्मस्पर्शी अहिंसा की तान भरी। उन्होंने विश्वप्रेम और 'स्वयं जियो और दूसरों को जीने दो' के सिद्धान्तानुसार बतलाया कि सभी प्राणी एक ही प्रकार से सुख-दुख का अनुभव करते हैं। पशु-पक्षी और कीड़े मकोड़ों में भी मनुष्य की ही तरह जान है और उसी प्रकार के उनके अनुभव हैं, अतः सद्भावना, अहिंसा और प्रेम ही मूलमंत्र होना चाहिए। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी प्राणियों के साथ समान रूप से हमें स्वाभाविक प्रेम करना चाहिए।

विश्व कल्याण की भावना से भगवान महावीर ने अपने समय की तत्कालीन परिस्थितियों को तौला और उनकी अन्तरात्मा सिहर उठी। यज्ञ यागादिक के करुण दृश्य देखकर उन्होंने कहा कि ये बेचारे मूक प्राणी जिन्होंने संसार का तनिक भी अपराध नहीं किया, झूठ नहीं बोला, चोरी नहीं की, किसी पर किसी तरह का अत्याचार नहीं किया; फिर क्या करण है कि उन दीन-हीन निरपराधी मूक जीवों की बलि दी जाती है। किसी ने क्या ही सुंदर ढंग से बलि के लिए जाते हुए बकरे से कहलाया है—'हे बधिक ! यदि बलि से प्राणी मरकर स्वर्ग को जाता है, तो तुम अपनी या अपने कुटुम्ब की बलि क्यों नहीं करते ? मैं बिलकुल निर्दोष हूँ, मुझे स्वर्ग की कामना भी नहीं, अतः तुम मेरी यज्ञ में बलि मत करो।'

अहिंसा का सच्चा मर्म बतलाते हुए मूक प्राणियों के साथ सहृदयता का व्यवहार करने तथा अतिथि-सत्कार, पूजा विधान आदि किसी भी कार्य में मांस का व्यवहार न करने के लिए जोर देते हुए वीर-प्रभु ने बताया कि 'धर्म' के प्रणेता देवता हैं, इसलिए उनके निमित्त मांसादि देने में भी कोई दोष नहीं—यह मिथ्या धारणा है। धर्म के नाम पर देवी-देवताओं के बहाने पशु

वध करना, अतिथि सत्कार के लिए पशु हत्या करना अत्यन्त निंदनीय हैं। जब कोई प्राणी किसी को प्राणदान नहीं दे सकता तो उसे दूसरे के प्राण लेने का अधिकार ही क्या है ?

अहिंसा के मर्म को समझाने के लिए भगवान महावीर ने हिंसा को चार भागों में विभक्त किया—संकल्पी, विरोधी, आरंभी और उद्योगी। गृहस्थ इनमें से केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी हो सकता है। अन्य हिंसा उसे अपने कार्य वश करनी पड़ती हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह विषयान्ध हो अंधाधुन्ध प्राणी वध करता चले। अहिंसा व्रत को निर्दोष रखने के लिए भगवान महावीर ने चार अतिचारों का निरूपण किया है। मूक पशु गाय-बैल आदि का वध, बंधछेद, अतिभारारोपण और अन्नपान का निरोध करना अहिंसा व्रत को दूषित करने वाले कारण हैं।

स्वेच्छा पूर्वक गमन करने से भोले-पशु पक्षियों को न रोकना, उनकी गति को अवरुद्ध न करना, तथा उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाना, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। गाय-घोड़ा आदि निर्दोष पशुओं को कोड़ा, छड़ी बेंत आदि मारना, ताड़ना करना आदि वध है। इसका त्याग करना प्रत्येक मनुष्य का कार्य है। निरपराध मूक पशुओं के कान, नाक, पूँछ आदि अंगों को छेदना–छेद नामक अतिचार है। भगवान महावीर ने बतलाया कि पौराणिक काल से चली आई, यह धारणा कि 'पशुओं के कान, नाक आदि छेदने से उनकी लौकिक उपयोगिता बढ़ती हैं' सर्वथा मिथ्या है, गर्हणीय है। धन कमाने के लालच से वाहन ढोने वाले पशुओं पर शक्ति से अधिक भार लादना, सवारी करना अतिभारारोपण अतिचार है। भगवान महावीर ने बताया कि इन अतिचारों से रहित, जीव रक्षा करना सच्ची अहिंसा है।

भगवान महावीर ने देखा कि पशु सम्पत्ति का ह्रास होने से देश की आर्थिक दशा शोचनीय हो रही है। 'अर्थमूलं हि राज्यं' अर्थात् राज सत्ता को दृढ और सुसंगठित बनाने का साधन लक्ष्मी है। अत: भगवान महावीर ने पशु रक्षा का निर्देश करते हुए कहा कि जीवों का वध करना ही अपना वध है और प्राणी रक्षा ही अपनी रक्षा। अतएव जो अपना विकास चाहते हैं, उन्हें प्राणीवध का अवश्य त्याग करना चाहिए। जो लोग गाय, भैंस बकरी आदि पशुओं का वध करते हैं वे समाज के सबसे बड़े शत्रु हैं। भगवान महावीर के वचनों को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया है कि "प्रत्येक सहृदय व्यक्ति को मनुष्य के साथ ही नहीं अपितु कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों के

साथ भी सहानुभूति और सहृदयता का व्यवहार करना आवश्यक है। जब संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, मृत्यु से कांपता है, दुःखी से दुःखी प्राणी भी जीवित रहने की अभिलाषा रखता है, तो फिर मूक प्राणियों पर अमानुषिक अत्याचार क्यों ?"

भगवान महावीर ने गृहस्थों के लिए जीवन विधानों का उल्लेख करते हुए कहा है कि मांस खाना, मदिरा पीना, शिकार खेलना, प्राणि-वध करना नितान्त त्याज्य है। जो श्रावक इन चारों पापों का त्यागी नहीं, वह मनुष्यत्व का भागी नहीं। इसीलिए भगवान महावीर ने श्रावक के प्रथम कर्त्तव्य अष्ट मूलगुणों का निर्देष करते हुए उनमें मांस त्याग को सर्व प्रथम स्थान दिया है।

जो मनुष्य पशुओं का बध कर अपनी लोलुपता शांत करना चाहते हैं वे नराधम हैं। उनके पास मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ-दया, प्रेम, करुणा, ममता आदि फटकती भी नहीं। भगवान महावीर ने बताया है कि रस्सी, मन्त्र इत्यादिक से मूक प्राणियों को परतन्त्र बनाकर रखना, भले प्रकार उनकी व्यवस्था न करना प्रत्येक श्रावक के लिए त्याज्य है। सारांश रूप में महावीर का कहना है कि दया गृहस्थ का पहला धर्म है। जो व्यक्ति निर्दयी हैं वह मानवता से वंचित है। मनुष्य की परिभाषा यही है कि वह संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के साथ विश्व बंधुत्व की भावना रखे। इसलिए उन्होंने बल, पौरुष का विश्लेषण करते हुए कहा कि रणक्षेत्र में अपराधी शत्रु पर प्रहार करना ही सच्ची वीरता है। मूक निरपराध पशुओं पर बल प्रयोग कर कुठाराघात करना सर्वथा हेय है।

भगवान महावीर ने तीव्र स्वर से घोषणा की कि सम्पूर्ण प्राणियों में चेतनत्व विद्यमान है। प्रत्येक के अन्दर आशा अभिलाषाओं का समान रूप है। अतः प्रत्येक प्राणी सुख और शांति पूर्ण जीवन चाहता है। वास्तविक सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब सभी व्यक्तियों में सुखी और शान्त बनाने की भावना जाग्रत हो।

भगवान महावीर ने मूक प्राणियों एवं मानवादि विचारशील प्राणियों में शान्ति स्थापित करने के लिए हिंसा की व्यापक परिभाषा बतलाते हुए कहा कि मन, वचन, काय से अपने अथवा अन्य जीव के प्राणों का घात करना हिंसा है। कषाय के निमित्त से स्व-पर बध की भावना ही हिंसा का मूल कारण है। रागादि भावों के निमित्त से ही द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा होती है, किन्तु अहिंसा इससे सर्वथा भिन्न है। भगवान महावीर ने बतलाया है कि रागादिक

विकारों और क्रोधादि कषायों के अभाव में यदि यत्किंचित हिंसा हो भी जाए तो वह व्यक्ति हिंसक नहीं क्योंकि दुःख देने का मूल कारण विकारों और कषाय भावनाओं का होना ही है। भगवान महावीर ने पुनः बतलाया कि जीवन धर्म की अपेक्षा प्राणी मात्र समान है। उनमें अनुभव शक्ति समान रूप से वर्तमान है। इसलिए किसी को भी दूसरे के प्राणबध करने का अधिकार नहीं।

अतः धर्म वही है जिसमें अहिंसा का पालन हो। आगम वही है जो अहिंसा और अहिंसा के पोषक, सत्य, अस्तेय का पालन तथा मद-मांस त्याग का उपदेश देता है, पुराण वही है जिसमें अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया हो। इससे विपरीत आगम-आगम नहीं कहला सकता, पुराण-पुराण नहीं; अपितु किसी उन्मत्त का वचन कहलाएगा।

विश्व के समस्त जीवों को सुखी बनाने के लिए भगवान महावीर ने कहा कि हिंसा में धर्म कदापि नहीं हो सकता। कदाचित् अग्नि शीतल हो जाए, सूर्य अपने प्रताप को छोड़ दे, चन्द्र की शीतल किरणें उष्ण हो जाएँ, लेकिन हिंसा करने से या किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाने से धर्म नहीं हो सकता, स्वर्ग नहीं मिल सकता। संभव है कि सूम दानी बन जाए, शठ, विद्वान हो जाए किन्तु हिंसा से किसी को सुख मिलना संभव नहीं। प्रेम और अहिंसा से ही सच्चा आनन्द मिल सकता है। षटकाय, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना ही, मानव का कर्त्तव्य है, और है यही मानवता। हिंसा उभय लोक में दुःखदायी है, नरकादि दुर्गतियों में पहुंचाने के साथ, इसी भव में कुष्ठादि नाना रोगों का शिकार होना पड़ता है। जो व्यक्ति अज्ञानता या विकारों के अधीन होकर मूक पशुओं का प्राणघात करता ह, वह नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हो जाता है। पाप करके कोई शांति नहीं पाता।

मांस, मदिरा और अभक्ष्य भक्षण का त्याग इसलिए किया गया है कि जिससे समाज में सात्विक भावना उत्पन्न हो सके। इस प्रकार अहिंसा, पशुरक्षा भगवान महावीर के सिद्धान्त का मूलाधार है—अन्तःप्राण है। भगवान महावीर अहिंसा के मूर्त रूप थे। वे अहिंसा के प्रचारक या सन्देश वाहक ही नहीं, किन्तु साधक भी थे। उनका जीवन अहिंसा की उच्चतम साधना की ही एक जीती-जागती कहानी है। महावीर की अहिंसा महावीर व्यक्ति विशेष की नहीं थी, वह महावीर—महान् वीर की अहिंसा थी। भगवान महावीर ने बतलाया कि तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो

जैसा दूसरों से स्वयं अपने प्रति चाहते हो। 'सत्त्वेषु मैत्री' या विश्वबंधुत्व की उदात्त भावना, एक और अखण्ड मानवता की उज्जवल अनुभूति, उनकी सार्वभौमिक अहिंसा में परिव्याप्त है।

भगवान महावीर ने अहिंसा को शुद्ध, पवित्र और विराट बनाने के लिए सदाशयता को ही नहीं, सतर्कता व विवेकपूर्व यत्नाचार को भी अनिवार्य ठहराया। अपने को शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए उन्होंने कहा कि उस पशु का बध करना तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं जो तुम से बाहर है, बल्कि उन पशुओं का वध करो जो तुम्हारे ही भीतर हैं। वह अंदर के पशु हैं—आत्मतन्द्रा, विवेकशून्यता, अज्ञान, अंधकार।

अहिंसा परम धर्म है। जीवन को महत्तम बनाने का उच्चतम आदर्श है। जीवन की महान् से महान साधना है। यह एक ऐसा कल्याणकारी आशीर्वाद है जो सत्य दर्शन के मार्ग को प्रशस्त करता है और प्रेम की, मोह की नहीं, सद्-सद् विवेकमय बंधुत्वभाव की प्रेरणा देता है; एक ऐसा जीवन तत्त्व है जो दया, सहानुभूति, न्याय, नीति, सदाचार, तप, त्याग, संयम और आचार-विचार के प्रत्येक ग्राह्य गुणों की ओर प्रवृत्त करता है, अहिंसा एक ऐसी विमल अनुभूति है जो विश्व कौटुम्बिकता का ही नहीं समस्त प्राणी-जगत की एकता का साक्षात्कार करती है।

आज विदेशों की देखा-देखी हमारे देश में भी मछली पालन तथा अन्य प्रकार से मांसाहार का प्रचार यह कहकर किया जा रहा है कि इससे देश की खाद्य समस्या सुलझ जाएगी। यह धारणा बिल्कुल गलत है। भगवान महावीर की पशु-रक्षा का महत्व आर्थिक दृष्टि से भी अत्यधिक है। देश में घी, दूध और अन्न की बहुलता पशुरक्षा से ही हो सकती है। यदि वस्तुतः खाद्य समस्या को सुलझाना है तो भगवान महावीर के बताए अहिंसा मार्ग पर चलना होगा, तभी देश वासियों को खाना-दाना मिल सकेगा। अतएव संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वीर प्रभु की अहिंसा का महत्त्व जितना धार्मिक या सामाजिक दृष्टि से है, उससे कहीं अधिक आर्थिक दृष्टि से है। जैनागम में आर्थिक पहलू की अवहेलना नहीं की गई, बल्कि उस समस्या को भी अहिंसा द्वारा सुलझाया है। केवल उसे ठीक ढंग से समझने की आवश्यकता है। अतः इस युग में भगवान महावीर की अहिंसा का प्रचार अधिकाधिक होना चाहिए।



ओ निर्मोही बनमाली !

जिसके प्रबल, प्रताप तेज से हिंसक जग था दया निधान।
सुरभि-सुगंधित-प्राण-सुमन झड़, उजड़ा था जीवन उद्यान॥
मूक, अज्ञ, निर्दोष, यज्ञ में पशु नर होते थे बलिदान।
नारी का था नाम दूसरा अबला, नीच और अज्ञान॥

ऐसे दुनियाँ डूब रही थी, उष्ण-रक्त की धारा में।
तड़फ रही थी विकल मनुजता, दानवता की कारा में॥
जब हिंसा के प्रबल राज्य ने हिला दिया सारा संसार।
जगती पर तब हुआ शान्ति के दूत वीर का था अवतार॥

दिव्य ज्योति लख दशों दिशाएँ, गाने लगीं सुमंगल गान।
दर्शन पा प्राणी-पीड़ा भी, हुई नरक में अन्तर्धान॥
समवशरण रच, देवाधिप ने, किया चरण का प्रक्षालन।
मेरू डोला, उठा काँप हिंसा का प्रलयंकर आसन॥

जग का क्रन्दन सुनकर प्रभु ने, सब वैभव ठुकरा डाले।
भव्य-महल भी ठुकराए, अरु, तीखी मदिरा के प्याले॥
ठुकराए ममता के बंधन, भुला दिया परिजन का प्यार।
देख सके वे नहीं सामने भीषण, हिंसा, अत्याचार॥

भूपति से भिक्षुक बन करके, जग-हित-पथ पर किया गमन।
हुआ इस तरह महापुरुष का, तन-मन-धन सब ही अर्पण॥
घोर तपस्या की, आतम् का करते रहे शोध-संधान।
कठिन परीषह सह करके फिर प्राप्त किया था केवल ज्ञान॥

वर्धमान ने कहा "जगत के मारो किसी न प्राणी को।
जीने के हकदार सभी हैं, झूठी करो न वाणी को॥
ध्येय नहीं हो कभी तुम्हारा—चोरी करना, करना भोग।
भोगी होकर भी जीवन में, मिश्रित करना होगा योग॥

सोने चाँदी की माया में, कभी नहीं तुम ललचाना।
जीवन की स्वर्णिम घड़ियों को, नहीं धूल में दफनाना॥
ऊँच नीच का भेद मिटा 'सत्त्वेषुमैत्री' का संबंध।
भर दो कण कण के पुष्पों में, विश्व प्रेम की नूतन गंध॥

देकर यह उपदेश वीर ने, किया जगत का नव निर्माण।
सभी जगह रुक गया यज्ञ में, होना पशु-नर का बलिदान॥
शान्त बना जग, और मिट गए हिंसा के सारे व्यवधान।
पूर्ण शान्ति हो गई जगत में जन का जीवन बना महान॥

राग द्वेष छल कपट दूर कर हृदय-सुमन सब दिये खिला।
बिखरी मानवता की माला के सब मोती दिये मिला॥
अपने युग के तपोधनी हे! हे पीडित जग के त्राता।
आज तुम्हारा शत शत वन्दन, हे नवयुग के निर्माता॥

—डॉ० सन्तोष कुमार जैन

अहिंसक महावीर

—पं० कैलाशचंद शास्त्री

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी परम पावन तिथि है क्योंकि उसे भगवान महावीर जैसे परम पावन पुरुष श्रेष्ठ को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। कुण्डग्राम के अधिपति सिद्धार्थ और उनकी पुण्य शीला धर्मपत्नी त्रिशला की कुक्षि धन्य है, जिसने महावीर जैसी मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक और निरीह सन्तान को जन्म दिया है, और भारत का वह बिहार प्रान्त अपने इस गर्व पर क्यों न इठलाए, जिसने एक ही समय में एक नहीं किन्तु दो महापुरुषों को जन्म देकर हिंसा से त्रस्त संसार की ताप शान्ति के लिये अहिंसा की अव्यर्थ महौषधि प्रदान की, जो अढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी वैसी ही तरोताजा और लाभदायक प्रमाणित हुई और हो रही है।

कहा गया है कि सत्य त्रिकाल-अबाधित होता है। अहिंसा ऐसा ही सत्य है। त्रिकाल में और त्रिलोक में अहिंसा की आवश्यकता, अव्यर्थता और 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के विषय में असत्यता का लांछन भी लगाना शक्य नहीं है।

अहिंसा एक आचार है और आचरण के औचित्य और अनौचित्य की कसौटी मनुष्य का अपने प्रति दूसरों के व्यवहार की यथार्थता है। मनुष्य अपने प्रति दूसरों से जिस प्रकार के आचरण की अभिलाषा करता है दूसरों के प्रति भी अपने आचरण को उसी प्रकार का बनाये तो उसके आचरण में हिंसा का स्थान रह ही नहीं सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य अपने प्रति दूसरों से इस प्रकार के व्यवहार की कामना स्वप्न में भी नहीं करता, जिसमें थोड़ा सा भी कष्ट या पीड़न का भाव हो।

कौन चाहता है कि दूसरे लोग मुझे सतायें, कौन चाहता है कि दूसरे लोग मेरे साथ असत् व्यवहार करें या असदाचरण करें। अतः मानव की इस भावना के आधार पर ही यह प्रमाणित होता है कि सताना आदि असदाचरण चूंकि कोई अपने लिए पसन्द नहीं करता अतः मानव मानव के

बीच में असदाचरण होना ही नहीं चाहिए, सताने आदि पर-पीड़न की भावना रहनी ही नहीं चाहिए, तभी तो आचरण में से असत् का अंश दूर हो सकेगा। भावना में यदि यह रहा कि हम दूसरों के साथ चाहे जैसा व्यवहार करें किन्तु हमारे साथ तो सबको अच्छे रूप में ही आचरण करना चाहिए तो वह बात चल नहीं सकती।

दुनिया में सदा से यही तो होता आ रहा है कि हम अपने प्रति तो दूसरों से अहिंसात्मक आचरण की अभिलाषा रखते हैं किन्तु दूसरों के प्रति हिंसात्मक आचरण करने से अपने को रोकने का जरा भी प्रयत्न नहीं करते। उसी का यह फल है कि प्रकारान्तर से हमें अपने हिंसात्मक व्यवहार का शिकार स्वयं हम ही को होना पड़ता है। और फलस्वरूप हम दूसरों पर कुपित होते हैं कि उन्होंने हमारे साथ ऐसा असदाचरण किया, किन्तु स्वयं अपने आचरण की ओर नहीं देखते कि कहां तक उचित है ?

महावीर भगवान की अहिंसा के मूल में यही भावना है। उनकी अहिंसा केवल प्रतिक्रियात्मक नहीं है, अर्थात् जिसने हमारे साथ अहिंसात्मक व्यवहार किया हो उसके साथ हमें अहिंसात्मक व्यवहार करना चाहिए और दूसरों के साथ हिंसात्मक व्यवहार की छूट है, ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में तो अहिंसा का कोई मूल्य ही नहीं रहता, वह तो मात्र व्यावहारिक सौदा हो जाता है।

महावीर की अहिंसा तो सिद्धान्तात्मक है। और वह सिद्धान्त इस तथ्य पर स्थित है कि मरण किसी को भी इष्ट नहीं है, जीवन सबको प्रिय है, कष्ट किसी को भी प्रिय नहीं है, सुख सबको प्रिय है। अतः उन सब में स्वयं हम भी सम्मिलित हैं। और हमें सबके बीच में रहना है और सबके प्रति व्यवहार का लाभालाभ उठाना है, तब हम क्यों न अपने को सुखी और अपने जीवन को सुरक्षित बनाने के लिए सबको सुखी और सबके जीवन को सुरक्षित बनाने की गारन्टी कम से कम अपनी ओर से तो दे ही दें। और उसके दे देने के बाद फिर यह नहीं देखा जा सकता कि किसने हमारे साथ क्या किया ? यह देखना उन्हीं लोगों का काम है, हमारा काम तो अपने व्यवहार को देखना है कि हमारे व्यवहार में तो दूसरों के प्रति हिंसा भरी हुई नहीं है।

यदि हम दूसरों के सुधरने की प्रतीक्षा में ही बैठे रहेंगे तो हम कभी भी सुधर न सकेंगे। हमारा सुधार हमारे हाथ में है, दूसरों का सुधार दूसरों के

हाथ में है। जिस सत्य को समझा उसे अपने जीवन व्यवहार में उतारना हमारा कर्तव्य है, उसके लिए लोकाचार को नहीं देखा जाता और न लोकाचार के आधार पर किसी सदाचार की प्रतिष्ठा कर सकना ही संभव है।

इस तथ्य को महावीर ने समझकर उसे अपनाया। इसी से उनकी अहिंसा में असदाचार को स्थान नहीं मिल सका। आज इस बात की आवश्यकता है कि अहिंसक महावीर और दयालु बुद्ध के सिद्धान्तों और व्यवहारों को सामने रखकर अहिंसा और दया के भावों का अध्ययन किया जाए और देखा जाए कि दया में अहिंसा का और अहिंसा में दया का कितना-कितना स्थान है?

महावीर के सिद्धान्त

१—अहिंसा को भगवान महावीर ने विश्व शान्ति का मूल कहा है। इसी एक शक्ति के द्वारा मानव तो क्या प्राणीमात्र का कल्याण हो सकता है। यह अहिंसा का सुन्दर सिद्धान्त ही 'खुद जियो और दूसरों को जीने दो' का आदर्श रखता है।

२—अपरिग्रहवाद को विश्व शान्ति का दूसरा प्रधान कारण कहा है। जितने क्लेश व झगड़े होते हैं, उन सबका कारण परिग्रह ही होता है। अतः महावीर ने अपरिग्रहवाद पर जोर दिया जिसका अर्थ इच्छाओं को कम करना है।

३—स्याद्वाद भगवान महावीर का अपना एक स्वतंत्र मौलिक सिद्धान्त है। इसी के द्वारा विश्व में, राष्ट्र में, समाज में तथा प्राणीमात्र में शान्ति के बीज बोए जा सकते हैं।

४—भगवान महावीर ने कर्म सिद्धान्त को अतिविशाल रूप से दर्शाया है। इसके समझे बिना जैन सिद्धान्त अधूरा है। जीव कर्म कैसे करता है, उन्हें कैसे भोगता है तथा उनसे किस प्रकार छुटकारा पाता है, उन्होंने इन्हीं सब बातों को अपने कर्म सिद्धान्त में बतलाया है।

—भिक्षु कांति प्रभाकर

महावीर भूले !

—प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

श्रमण के गत जनवरी १९५६ के अंक में श्री कस्तूरमल जी बांठिया ने तेरापंथी की 'भगवान् भी भूले' इस मान्यता को लेकर चर्चा की है। उस चर्चा का उत्तर 'जैन भारती' में दिया गया है। तेरापंथी का वक्तव्य है कि भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाने के लिए जो तेजोलेश्या का प्रयोग किया वह उनकी भूल थी। ऐसी भूल होना छद्मस्थ अवीतराग के लिए स्वाभाविक है। लब्धि का प्रयोग प्रमाद दशा का सूचक है अतएव भगवान् ने अपनी प्रमाद-अवस्था में वैसा किया तो वह उनकी भूल है। शास्त्र में उनकी उस भूल के लिए प्रायश्चित्त करने का उल्लेख न भी हो तब भी उन्होंने उसके लिए प्रायश्चित अवश्य किया होगा ऐसा मानना चाहिए।

किसी को बचाने में पाप क्यों होता है इसका खुलासा तेरापंथी करते हैं कि एक को बचाने में दूसरे की हिंसा होती है अतएव बचाना यह पाप कार्य है। जैसे बिल्ली चूहे को मारती है तो चूहे को बचाने का अर्थ होगा बिल्ली की हिंसा, क्योंकि बिल्ली अपना खाद्य न पाने से दुःखी होगी। अतएव इसी न्याय से जब महावीर ने गोशालक को तेजोलेश्या का प्रयोग करके बचाया तब उन्होंने भी तापस जो कि गोशालक को जला रहा था उसके स्वार्थ की पूर्ति न होने दी अतएव वह दुःखी हुआ। यही कारण है कि महावीर ने गोशालक को बचाने में पाप कार्य किया, धर्मकार्य नहीं। अतएव उन्होंने उसका प्रायश्चित्त अवश्य किया होगा, चाहे शास्त्र में उसका उल्लेख न भी मिले। यह हुई तेरापंथी मान्यता।

अब इस पर थोड़ा विचार करें। प्रथम लब्धि का प्रयोग बिना प्रमाद के नहीं होता—इस दलील पर विचार करना जरूरी है। शास्त्र-वाक्यों का अर्थ पूर्वापर का बिना विचार किए अपने मतलब को सिद्ध करने के लिए किया जाए तब कैसा अनर्थ होता है—इसका यह एक अच्छा नमूना है। शास्त्र में ऐसा वाक्य अवश्य है कि लब्धि का प्रयोग प्रमादावस्था में होता है। किन्तु यह नियम ऐकान्तिक है या नहीं इस पर विचार करना जरूरी

है। मेरा विचार है कि यह नियम ऐकान्तिक नहीं क्योंकि लब्धियों की गिनती में केवलज्ञान को भी गिना है[१]। यह तो तेरापंथी भी मानते ही हैं कि केवलज्ञान के समय प्रमाद नहीं होता। अतएव यह नियम ऐकान्तिक नहीं कि लब्धि का प्रयोग प्रमादावस्था में ही होता है। अतएव इस नियम के आधार पर यह कल्पना करना कि भगवान् ने क्योंकि लब्धि का प्रयोग किया वे अवश्य प्रमादी थे यह कोरी कल्पना है।

यह तो हुई नियम की बात। किन्तु भगवान् महावीर तो अपने साधक जीवन में भी अपनी अप्रमादी अवस्था के लिए प्रसिद्ध हैं। मनःपर्याय ज्ञान की उत्पत्ति अप्रमत्त को ही होती है।[२] भगवान् महावीर को मनःपर्याय ज्ञान अपनी साधक अवस्था के प्रारंभ में ही हुआ यह तो शास्त्र प्रसिद्ध बात है— भगवान् महावीर की तपस्या का वर्णन आचारांग में है। उसमें सर्वत्र उनको समभावी और अप्रमत्त कहा गया है। उनके प्रमाद का भी वर्णन उसमें है ही। और वह केवल निद्रा संबंधी प्रमाद का है। ऐसी स्थिति में लब्धि का प्रयोग प्रमाद से ही होता है ऐसा मानकर गोशालक को बचाने में भ० महावीर ने प्रमाद का सेवन किया यह कैसे मान लिया जाए? अपने एक सिद्धान्त की रक्षा करने के लिए भ० महावीर जैसे पुरुषोत्तम में भी दोष की कल्पना करना यह तो निरा दुराग्रह है। भ० महावीर की आत्मा सतत वर्धमान विशुद्ध परिणाम वाली थी। अन्य आत्मा जो हीयमान विशुद्ध परिणाम या अव्यवस्थित परिणाम वाली होती है, उसके साथ महावीर की आत्मा की तुलना करके उनके किसी कृत्य को पापकोटि में रखना यह विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब भ० महावीर ने दीक्षा ली तब से वे वीतराग नहीं हुए यह तो स्पष्ट है क्योंकि उनको अपने कर्म का क्षय करने के लिए साढ़े बारह वर्ष की कठोर तपस्या करनी पड़ी है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उनकी और दूसरे की साधना में समानता ही थी। तीर्थंकर की आत्मा एक विलक्षण साधक आत्मा होती है, तब ही तो उनको जन्म से ही अवधि और साधक अवस्था में प्रविष्ट होते ही मनःपर्याय ज्ञान माना गया। इतना ही नहीं किन्तु शास्त्रकार ने तो उनका दीक्षा लेते ही इन शब्दों में वर्णन किया—

---

[१] विशेषावश्यक भाष्य गा० ७७९–७८०। ये दोनों गाथा मूल निर्युक्ति की हैं।

[२] नन्दी सूत्र, सूत्र १८।

"तए णं समणे भगवं महावीरे अणगारे जाए ईरियासमिए···मणगुत्ते··· [1]अकोहे अमाणे अमाए अलोहे संते पसंते···सारयसलिलं व सुद्धहियए पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे···भारण्डपक्खी इव अप्पमत्ते···"—कल्पसूत्र, सूत्र ११८।

इस सूत्र में उन्हें निर्लेप, विशुद्ध हृदय और अप्रमत्त स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसका अर्थ इतना तो अवश्य है कि निद्राप्रमाद जैसे अनिवार्य प्रमाद ने उन्हें कभी कभी घेरा था फिर भी दूसरे का बुरा चाहने वाला प्रमाद का संभव कम ही है।

साधारण मनुष्य की अपेक्षा तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन करने वाले जीव की विशेषता तो माननी ही पड़ेगी। आत्म विकास की पूर्णता को प्राप्त करके भी एक जीव तीर्थंकर बनता है और दूसरा नहीं। भारतवर्ष में एक समय में एक ही तीर्थंकर होता है अनेक नहीं। ये बातें ऐसी हैं जो तीर्थंकर को सामान्य साधक से पृथक् करती हैं। फिर भी सभी की साधना को एक रूप देना यह ठीक नहीं। तीर्थंकर प्रकृति एक कर्मप्रकृति है। कर्मशास्त्र में उसका विशेष स्थान है और विकाशशील आत्माओं में भी सभी जीव उसे प्राप्त करते हैं यह बात नहीं। अनन्त जीवों में कोई विरला ही वह प्राप्त करता है। जो प्राप्त करता है वही अनुकरणीय बन जाता है। और धार्मिक संघ का नेता भी बन जाता है।

अब मूल प्रश्न का एक दूसरी दृष्टि से विचार किया जाए कि क्या किसी को बचाने में पाप है? या तेरापंथी परिभाषा में राग है[2]? प्रस्तुत प्रश्न के

---

[1] यहाँ प्रस्तुत में मैं यह भी बताना चाहता हूँ आगम वाक्यों का यदि सीधा अर्थ लिया जाए तो प्रस्तुत वाक्य ही हमें भ्रम में डाल सकता है। क्योंकि उसमें, यद्यपि साधनावस्था में थे फिर भी भगवान् को अकोहे अमाने आदि कहा गया है। वीतराग होने के पूर्व उनमें सूक्ष्म कषाय की मात्रा तो माननी ही पड़ेगी। अतएव अकोहे आदि शब्दों का अर्थ पूर्वापर दृष्टि से संगत ही लेना पड़ेगा। इसी प्रकार लब्धि का प्रयोग बिना प्रमाद नहीं होता इस वाक्य का अर्थ भी पूर्वापर अविरुद्ध ही करना आवश्यक है। अतएव उस वाक्य को लेकर लब्धि का प्रयोग प्रमादजन्य ही है ऐसा नहीं कह सकते।

[2] मताभार कहे उणरो रागी तीजे करण हिंसा लागी—आचार्य भीखण जी।

संबन्ध में भी तेरापंथी का कहना है कि गोशालक के ऊपर भगवान् महावीर को राग था अतएव उसे बचाया ! अर्थात् बिना राग के बचाने की क्रिया हो नहीं सकती। छद्मस्थ भगवान् ने गोशालक को बचाया यह उनका गोशालक के प्रति राग ही था। अतएव राग करके भगवान् ने भूल ही की। यदि यही सिद्धान्त सच मान लिया जाए तब तो भगवान् ने वीतराग बनकर केवलज्ञान प्राप्त करके, अहिंसा का उपदेश दिया वह भी बिना राग के संभव नहीं हो सकता है। अहिंसा का सक्रिय रूप यदि कुछ हो सकता है तो वह किसी जीव की हत्या को रोकना। यदि उसी में राग सन्निहित है और यदि वह राग दोष-जनक भी है तब तो अहिंसा के उपदेशक केवली भगवान् भी परम रागी ही हुए। किन्तु तेरापंथी केवली को तो रागी मानते नहीं। और पापी भी नहीं मानते तब छद्मस्थावस्था में गोशालक को बचाने में पापी क्यों हुए ?

भगवान् महावीर का तो सिद्धांत है कि "एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण"—सूत्रकृतांग—१-४-१०। अतएव स्वयं महावीर ने, जीव नाना प्रकार की जो हिंसा खाद्य या क्रीडा के लिए करता है उसका निषेध दृढ़ता से किया है और नाना प्रकार की हिंसा से विरत होने का उपदेश भी दिया है। तब यदि कोई उनका अनुगमन करके जीवों को बचाता है—कोई मार रहा हो उससे उसे विरत करता है तो उसने पाप किया यह महावीर का सिद्धांत कैसे हो सकता है ? फिर भी भ० महावीर की अहिंसा के नाम से आचार्य भीखण जी ने यह प्रचार किया कि यह बचाने की क्रिया है वह तो पाप ही है[१]। यह तो भगवान् महावीर के सिद्धांत को उलटने जैसा ही है।

आचार्य भीखण जी सूत्रकृतांग की साक्षी देकर जो अपने मत का समर्थन करते हैं उस विषय में फिर कभी विचार किया जाएगा।

---

[१] "वांछे मरणो जीवणो तो धर्म तणो नहीं अंश।···मरणो जीवणो वांछे अज्ञानी समभाव राखे ते सुज्ञानी"—आचार्य भीखण जी।

विश्व शान्ति के अग्रदूत

भगवान महावीर

—श्री मदन लाल जैन, रावलपिन्डी वाले

'आपसी युद्ध से शत्रु नष्ट हो सकते हैं परन्तु शत्रुता नष्ट नहीं होती है, याने हिंसा को हिंसा से नहीं मिटाया जा सकता है'—इस सिंह घोषणा को आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व अहिंसा के अवतार भगवान महावीर ने संसार के सामने रखा। आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी का शुभ दिवस है, जब भगवान् महावीर ने मानव कल्याण के लिए जन्म लिया था। भगवान महावीर के समय में देश में मंत्रवाद-तंत्रवाद, यज्ञों तथा अग्नि तपों की प्रथाओं का बोलबाला था। इन सबको भगवान् महावीर ने मिथ्या बतलाया और कहा कि धर्म का रहस्य अहिंसा, प्रेम, सेवा-सत्य और मैत्री भाव के साथ जीवन को व्यतीत करने में ही पाया जाता है। भगवान महावीर ने जोरदार शब्दों से ललकारते हुए लोगों को बताया कि धर्म दीन दुखियों की सेवा में है, धर्म उनकी झोपड़ियों में निवास करता है, उनकी आहों-कराहों आँसुओं में ही सत्य धर्म पुकारता है। भगवान महावीर ने घोषित किया—'आत्मवत् सर्व भूतेषु' अर्थात विश्व के जितने भी प्राणी हैं उन सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझो। इस अमर संदेश अहिंसा से विश्व भर के प्राणियों को शान्ति मिली। धर्म के नाम पर मारे जाने वाले लाखों मूक पशुओं की जानें बची और संसारी लोग भोग से त्याग की ओर झुके। महावीर की वाणी का यह असर हुआ कि लोगों ने माँस और मदिरा के प्याले तोड़ डाले। उस सत्य युग के लिए भगवान महावीर ने सम्पूर्ण अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की स्थापना की और बताया कि यह भ्रम आप अपने विचारों से निकाल दें कि कोई खास व्यक्ति आप के लिए सतयुग या धर्मयुग लेकर आएगा। धर्म व सत्य सब कुछ आप के पास ही है, जरा अपने आपको समझने का अभ्यास करो। धर्म अहिंसा में है। इन्द्रियों का दमन तथा इच्छाओं का निरोध भी धर्म का ही प्रतीक है। धर्म का किसी देश, जाति, वर्ग या वर्ण से कोई संबंध नहीं है। आपने और जोरदार शब्दों में कहा कि हँसतों को मत रुलाओ, किसी का दिल मत दुःखाओ, किसी के रास्ते में काँटे मत बिखेरो और असहायों की सहायता करो। आज के परमाणु युग में मंगल मूर्ति महावीर का

बताया हुआ मार्ग ही विश्व के समस्त दुःखों का नाश कर सकता है। निस्सन्देह भगवान महावीर एक महापुरुष थे। उनके समकालीन मानवों पर उनके मानसिक एवं आध्यात्मिक उपदेशों का गंभीर प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने समय के सभी जलते हुए प्रश्नों पर विचार कर उनका हल सुझाया। भगवान महावीर ने जिस अहिंसा का प्रचार किया था, वह अहिंसा वीरों की अहिंसा थी। इतिहास बतलाता है कि अहिंसा के अनुयायी वीरों ने हर समय न्याय की रक्षा की और न्याय को जीवित रखने के लिए दुष्टों का दमन करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा था। अनेक जैन नरेशों ने अपनी भारतीय संस्कृति की सत्यता के लिए युद्ध भी लड़े। एक इतिहाकार ने कहा भी है—The greatest field martials were Jains. It is wrong to suppose that Jains' Ahinsa is the cause of India's downfall. Sardar V. B. Patel has already observed, "Thc Jain stands for Ahinsa and Ahinsa teaches braveness." अर्थात् अहिंसा वीरों का धर्म है। उसमें कायरता और दुर्बलता को कोई स्थान नहीं है। इसीलिए हे मानव! यदि तुझे वास्तविक शान्ति की अभिलाषा है, तो भगवान महावीर की कथित तथा आचरित अहिंसा की शरण लेने से ही तेरी यह मनोकामना पूरी हो सकती है। भगवान महावीर का यह पावन संदेश आज के भूले-भटके कर्तव्यभ्रष्ट मानव के लिए प्रकाश स्तंभ (Light House) का काम देता है। अभी पिछले वर्ष दिल्ली में महावीर जंयति समारोह में अपना भाषण देते हुए हमारे प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि आज मानवता की रक्षा के लिए भगवान महावीर के उपदेशों का पालन करना बहुत जरूरी है। भगवान महावीर ने अपने आदर्श जीवन और उपदेश से जिस जैन संस्कृति का पुनरुद्धार किया था, उसने भारतीय सभ्यता, साहित्य, कला और भाषाओं के विकास और उत्थान में बहुत भाग लिया है। उन भगवान महावीर का, जिन्होंने भारत के विचार को उदारता और आचार को पवित्रता दी, जिन्होंने इन्सान के गौरव को बढ़ाया, उसके आदर्श को परमात्म पद की बुलन्दी तक पहुँचाया, जिन्होंने इन्सान और इन्सान के भेदों को मिटाया, सभी को धर्म और स्वतंत्रता का अधिकारी बनाया, जिन्होंने भारत के अध्यात्म-संदेश को अन्य देशों तक पहुँचाया, भारत जितना भी गर्व करे, और थोड़ा है।



महावीर-अभिनन्दन

हे भारत की दिव्य-विभूति, नवल-युग-निर्माता।
आत्म-ज्ञान के सफल तपस्वी, शान्ति-सुख प्रदाता॥
'सर्वोदय' और अहिंसा की तुम मुखरित परिभाषा।
रेखा-चित्र सरलता के तुम, मधुर नवोदित आशा॥
'महावीर' तुम सचमुच में जन-जीवन-भाग्य-विधाता।
दीन-हीन की आशा, तुम पशु पक्षी तक के त्राता॥
स्वयं भाव-सिक्त हो स्वर में, तेरी गुण-गरिमा गाए।
जनता हो-होकर बलि तुम पर, प्रेम-सुधा बरसाए॥
साधारण भी आज असाधारण दिखता है तुम में।
वनमाली को आशा ज्यों, खिल जाती है मधुवन में॥
युग-युग तक मानस-मन्दिर में, तेरी मूर्ति रहेगी।
जन-जन में तेरी 'युग-वाणी' बल-विश्वास भरेगी॥
आज तुम्हारे जन्म दिवस पर जन-जन का आराधन।
वन्दन, अर्चन, प्रेम भाव से है हार्दिक आवाहन॥
सत्यं, शिवं, सुन्दरम् ही तो है संदेश तुम्हारा।
हे विश्वशान्ति के सूत्रधार ! स्वीकारो नमन हमारा॥

—महावीर प्रसाद प्रेमी

महावीर के उपदेश

१—जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा भोगने में परतन्त्र है।

२—जीव जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल पाता है। कर्म फल देने वाली कोई भिन्न शक्ति नहीं, कर्म फल देने में समर्थ हैं।

३—प्राणीमात्र में मित्रता, गुणीजनों में प्रेम, विपन्नों में दया तथा दुराग्रहियों में मध्यस्थ भाव ही धर्म है।

४—सिर मुड़ा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् के उच्चारण मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और न वल्कल चीर धारण मात्र से जीव कोई तापस होता है।

५—जीव समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तप से तापस होता है।

—भिक्षु कान्ति प्रभाकर

हरिजन मंदिर प्रवेश

इधर कुछ समय से हरिजनों के मंदिर-प्रवेश को प्रश्न को लेकर देश में जगह-जगह आन्दोलन हो रहे हैं। प्रमुख पत्रों में भी इस विषय के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में जैन मंदिरों और जैन समाज की स्थिति से जन-साधारण का अवगत हो जाना आवश्यक है। भारत जैन महामंडल देहली के मंत्री श्री भगत राम जैन के इस लेख से पाठकों को यह स्थिति समझने में सहायता मिलेगी।

जैन संस्कृति व वर्ण व्यवस्था

जैन धर्म एक विशुद्ध आत्म-धर्म है और आत्मा की शुद्धि करना उसका प्रमुख लक्ष्य है। आत्म-शुद्धि के लिए वह बाह्य आचार-विचार व मानसिक शुद्धि को आवश्यक मानता है। जो अपनी इन्द्रियों और मन को शुद्ध बनाना चाहता है, वह जैन है।

इस धर्म का जो आचरण करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वही श्रावक है। इस दृष्टि से जैन बनने के लिए किसी जाति विशेष की अपेक्षा नहीं है और न किसी जाति विशेष को अनुचित बढ़ावा है। जैन आचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते आए हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चार प्रकार का वर्ण भेद केवल गुण, कर्म और स्वभाव की दृष्टि से ही है। वर्ण-व्यवस्था का कोई संबन्ध जन्म से नहीं है।

पौराणिक तथ्य

जैन कथा साहित्य में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की 'वर्ण व्यवस्था प्रणाली' का उल्लेख आता है। उससे स्पष्ट है कि ऋषभदेव ने उच्च व हीन आचार की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था घोषित की थी। किसी वर्ण में स्थिर हो जाने के बाद इसी जीवन में यदि व्यक्ति, आचार-विचार की दृष्टि से उच्चतः प्रमाणित करता था तो उसे उच्च वर्ण में स्थान देने की व्यवस्था थी। हीन आचरण होने से उच्च वर्ण से पतन भी किया जाता था।

भगवान महावीर के समय में भी उनके समवशरण में बैठने के लिए वर्ण व्यवस्था के आधार पर कोई स्थान नियत नहीं था। और न ही किसी को किसी प्रकार की रोक-टोक थी। गरीब-अमीर, राजा-भिखारी सब एक स्थान पर बैठकर उनका उपदेश सुनते थे। चोर, चाण्डाल, कोल, भील और न जाने कितने पतित, उनकी शरण में जाकर पावन हो गए थे। भगवान

महावीर के परवर्ती काल में भी यही परम्परा चलती रही। जैन आचार्यों ने समय-समय पर मानव समाज द्वारा उपेक्षित शूद्र कहे जाने वाले लोगों को उपदेश दिया, उनका संस्कार किया और पहले से चले आए जैनों में उन्हें इस प्रकार हिला-मिला दिया कि आज आधुनिक जैनों में संस्कारित जैन कौन हैं यह कहना कठिन है।

यही क्यों वेश्यागामी, मांसाहारी, हत्यारे, परस्त्रीलंपट मनुष्यों को जैन आचार्यों ने शरण दी और उन्हें आचारवान बनाया। कालान्तर में वही व्यक्ति जैन दीक्षा लेकर मुनि हुए और उन्होंने जनता द्वारा पूज्यता भी प्राप्त की। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म की विचारधारा एक व्यापक दृष्टिकोण लेकर प्रवाहित हो रही है। उसको पतितों के प्रति घृणा नहीं, उपेक्षा नहीं, किन्तु उनके प्रति दया है और उनके उद्धार के लिए उचित स्थान है।

जैन मन्दिर समवशरण के प्रतिरूप

जैन मन्दिर, धर्म के आयतन हैं, समवशरण के प्रतिरूप हैं। जब समवशरण में पापी से पापी, नीच, पतित व्यक्ति के लिए स्थान था और वहां पहुँच कर व्यक्ति पाप रहित हो सकता था तो कल्पित समवशरण में प्रतिमा के दर्शन करने से रोकने का तो कोई प्रश्न ही नहीं। भगवान महावीर ने जाति का अभिमान करने वालों को स्पष्ट कहा कि—

कम्भुणा बंभणा होई, कम्भुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्भुणा होई, सुद्दो हवई कम्भुणा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २५ : ३३

अर्थात् जन्म से वर्ण का कोई संबन्ध नहीं है। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुआ करते हैं।

ऐसे पतित पावन को मन्दिर की दीवारों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। वे सबके हैं, सबको उनके पास जाने का अधिकार है। उनके लिए शूद्र-ब्राह्मण में कोई भेद नहीं है।

द्वार सब के लिए खुला है।

जैन मन्दिर ही नहीं, जैन संस्कृति व जैन समाज में आने को सब के लिए द्वार खुला हुआ है। यूनान, अफगानिस्तान और अरब देशों में जैन मुनियों ने धर्म प्रचार किया। नवीन जैनों को दीक्षित किया और उनके हाथ का आहार भी लिया। जैन मान्यता है, कि व्रतों में स्थित चाण्डाल भी ब्राह्मण के समान उच्च है। सद्‌विश्वास सम्पन्न व्यक्ति भले ही भंगी हो, वह राख के नीचे दबे हुए अंगार के समान, ज्ञान के प्रकाश से सम्पन्न है।

आज भी जैन समाज के महान सन्त श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी का यही संदेश है—

"भइया ! धर्माचरण के विषय में लोग विवाद करते हैं किन्तु इसमें विवाद करने की क्या बात है। धर्म पर न तो किसी जाति का अधिकार है और न किसी वर्ग की मालिकी। धर्म जो पाले उसी का है। धर्म धारण करने से कौन किसे रोक सकता है। धर्म सभी का उद्धारक है। जो धारण करे, उसी का धर्म।"

एक बात और उल्लेखनीय है। आज सवर्ण और असवर्ण की सर्वथा शुद्धि का पूरी तरह से दावा भी तो नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्राग्-ऐतिहासिक काल से न जाने किस गोत्र या कुल में कब पतन हो गया हो। इसलिए वास्तव में उच्च जाति तो वही है, जिसमें नियम, व्रत, शील, तप, दया, इन्द्रिय-निग्रह और दान पाया जाता हो। इस दृष्टि से इस रूप में चलने का सबको अधिकार है और हर व्यक्ति को इस मार्ग पर लगाने का, हर धार्मिक कहे जाने वाले व्यक्ति का कर्त्तव्य भी यही है कि वह साधक नहीं तो कम से कम ऐसे मार्ग पर चलने वालों के लिए बाधक न बने।

भ्रमात्मक प्रचार का स्पष्टीकरण

जब-जब मानव समाज में किसी सुधार की चर्चा चलती है, रूढ़िवाद दीवार बन कर सामने आ जाता है। कुछ जैन भाई भी रूढ़ि को जीवित रखने के लिए जैन जनता में भ्रमात्मक प्रचार कर रहे हैं। उनका कहना है- (१) हरिजन लोग झाड़ू और टोकरी लेकर मन्दिर में प्रवेश करेंगे, अतः मन्दिर की पवित्रता नष्ट हो जाएगी आदि। (२) इनका यह भी कहना है कि हरिजन समर्थक पहले रोटी-बेटी का व्यवहार तो करें, फिर मन्दिर में ले जाने की बात सोचें। (३) जैन मन्दिर केवल जैनों के लिए हैं क्योंकि जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है।

मैं ऐसे लोगों से स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि परिवर्तित युग में वे अपने इस घृणित रवैये को छोड़ें। समझ लेना चाहिए कि आज की दुनियां में इस प्रकार की बातें करना जघन्य अपराध है। हरिजन भाई कोई इतने अविवेकी तो हैं नहीं जो मल-मूत्र की टोकरी लेकर देव-स्थानों में प्रवेश करेंगे। न उन्होंने प्रवेश प्राप्त मंदिरों में ऐसा किया है। दूसरा तर्क है, रोटी-बेटी के व्यवहार का। इस तर्क को घसीटते समय शायद ऐसे लोग भूल जाते हैं कि उन्हीं लोगों में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो जैनाचार्यों द्वारा संस्कारित होकर आज

अपने पहले रूप को बिलकुल भूल गए हैं। क्या उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं किया जाता? फिर रोटी-बेटी का व्यवहार एक व्यक्तिगत चीज़ है। व्यक्तिगत जीवन में हरिजनों के साथ घुलने-मिलने के बाद यह व्यवहार भी असम्भव नहीं रहेगा। हम और आप तब उसमें भी नहीं हिचकिचाएँगे। इसमें डरने की क्या बात है। तीसरा प्रश्न है केवल जैनत्व का। यह ठीक है कि जैन संस्कृति एक स्वतंत्र संस्कृति है। पर यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि उसका दृष्टिकोण भी वर्ण भेद की दीवारें लांघकर विस्तृत सभ्यता का आधार लिये हुए है। जो उपासना करना चाहता है, वही उपासक है। मानवीय दृष्टिकोण से आज 'मन्दिर प्रवेश करने दें, या नहीं' यह बात कहना तीर्थंकरों के सर्वोदय तीर्थ का अनादर करना है। मन्दिर सबका है और सबको उसमें आने का अधिकार है। हरिजन भाई यदि जैन मन्दिरों में आते हैं तो आएँ; मन्दिर का द्वार उनके लिए भी खुला रहना चाहिए।

पवित्र स्थानों में पवित्रता का ध्यान रखें

मानवीय अधिकार किसी को धार्मिक स्थानों में जाने से नहीं रोकता। पर कुछ बातें लौकिक दृष्टि व बाह्य शुद्धि की दृष्टि से आवश्यक हो जाती हैं। हरिजन भाई केवल राजनैतिक अधिकार का सहारा लेकर यदि मन्दिरों में आते हैं तो इससे उनके धर्म उद्देश्य की कोई सिद्धि नहीं होती। क्योंकि राजनीति और धर्म का बहुत सी बातों में मेल नहीं खाता। धर्म विशुद्ध आत्मिक शोध का मार्ग है, उसमें आन्दोलन व सामूहिक प्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है। ऐसा करने से तो युगपुरुष महात्मा गांधी जी के आदर्शों में हीं अवरोध उपस्थित हो जाता है।

अतः हरिजन भाई कुछ ग्रहण करने की दृष्टि से जैन मन्दिर में आने का संकल्प करें। मानव और मानव के बीच में समीपता एकता और मैत्री का संदेशवाहक है। वर्णगत ऊँच और नीच का विचार जैन संस्कृति में न कभी था और न अब भी है। हरिजन भाई आत्म शुद्धि का आदर्श रखकर जैन मन्दिरों में आएँ, उन्हें मन्दिर में आने का अधिकार है। शुद्ध तन-मन-वाला कोई भी हरिजन भाई जैन मन्दिरों में प्रवेश कर सकता है। इस व्यावहारिक शिष्टाचार से न तो हमें कोई संकोच रह जाता है और न हरिजन भाइयों को कोई बाधा ही उपस्थित होती है।

आशा है, मेरे इस वक्तव्य से हरिजन भाइयों तथा इतर लोगों को जैन मन्दिर प्रवेश के विषय में उचित समाधान मिलेगा। साथ ही अब जैनों का दृष्टिकोण समझने में किसी को उलझन भी न रहेगी।

———

प्रगति के पंच-सूत्र

'चेतावनी' में प्रकाशित प्रगति के ये पांच सूत्र प्रत्येक पाठक के लिए प्रेरणादायी हैं—

१. इसे जान लो कि सारे जीवन को एक बार ही तुम नहीं भोग सकते। एद दिन की बात सोचो—एक घंटे की, अभी की।

२. साहस और शक्ति को दृढ़ता से पकड़ो। यदि हालात साथ न दें, असह्य हो जाएँ तो उन्हें ही बदल दो। संभव हो तो होशियारी से, मजबूती से, धीरे-धीरे। याद रखो, तुम्हें ज़ीना है। कुछ करना है। तुम्हारा महत्व है विश्वास बनाए रखो।

३. समस्याएँ जो सामने आएँ उनका परीक्षण करो, उनके कारण जानो और फिर संभव निदान।

४. निश्चय शीघ्र करो। तुम्हारा निश्चय बराबर ठीक हो यह बात नहीं। फिर भी निश्चय शीघ्र करना ज्यादा अच्छा है क्योंकि हिचकिचाहट भयानक है।

५. चिन्ता न करो। काम से कोई न मरा—अधिक काम करके भी नहीं। डर और चिन्ता जीवन के सबसे बड़े शत्रु हैं। मस्तिष्क खुला रखो। आवश्यक समझो तो विचार बदल दो।

स्वच्छ जल

वियतनाम के सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के विशेषज्ञ डाक्टर फान क्वांग डान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एशिया के रोगियों में आधी संख्या उन रोगियों की है जो अस्वच्छ जल पीते हैं। स्वच्छ जल पीने से इस समस्या का समाधान हो जाता है। इस समाचार एवं डा० फान क्वांग डान की इस खोज का चिकित्सा क्षेत्र में निश्चय ही स्वागत किया जाना चाहिए। डा० डान के इस मत का समर्थन करते हुए हमें कहना पड़ता है कि जो लोग जैनों के पानी छानकर पीने की बात का मखौल उड़ाया करते हैं, उन्हें इस खोज से शिक्षा लेना और अपना मत बदलना चाहिए। केवल पानी छानकर पीने मात्र से ही कोई जैन नहीं बन जाता। पानी छानकर पीना धर्म की दृष्टि से ही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभकारी है। डा० डान के मत में हम अपनी ओर से इतना और जोड़ देना उचित समझते हैं कि विश्व के रोगियों में से आधे रोगियों को केवल स्वच्छ जल सेवन कराने मात्र से ही स्वस्थ किया जा सकता है।

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस-५

–श्री हरजसराय जैन, बी० ए०

लक्ष्यबिन्दु

जिस लक्ष्यबिन्दु को लेकर आज से लगभग बीस वर्ष पहले बनारस में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना हुई थी, भारत की स्वतंत्रता के बाद आज वह और भी स्पष्ट-स्पष्टतर होने लगा है। स्थापना के समय लक्ष्यबिन्दु यह था कि वर्तमान जैन समाज को ऐसे विद्वानों की आवश्यकता है जो अपने विषय की गहराई में उतरे हुए हों; जिनकी लेखनी में बल और वाणी में प्रभाव हो; जिनका चारित्र उज्ज्वल हो और जो विश्व-कल्याण को अपने जीवन का ध्येय बना सकें। संसार में जो अशान्ति छाई हुई है, उसका मूल कारण है एकान्त दृष्टि के कारण समन्वय की भावना का अभाव। शुद्ध अनेकान्त दृष्टि से विश्व की अनेक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। किन्तु यह सब करने के लिए समर्थ विद्वानों और योग्य साहित्य की आवश्यकता है। यदि इस समय हम दुनिया का लक्ष्य भगवान महावीर के अनेकान्त संदेश की ओर खींच सकें, तो संसार की बहुत बड़ी सेवा होगी। अब तो यह भी आवश्यक प्रतीत होने लगा है कि आज के इस परमाणु युग में मन्द गति से काम नहीं चल सकता। भगवान महावीर की जिस अहिंसा-साधना ने राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को जन्म दिया और जिनके अहिंसा व शान्ति के संदेश से युद्ध-संत्रस्त विश्व को सान्त्वना मिली, आज उस संदेश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने की आवश्यकता है। हमें इसके लिए साधन जुटाने हैं। श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की स्थापना का वह मूल लक्ष्यबिन्दु आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। इसलिए हमें इसकी प्रवृत्तियों को और भी बल देने की आवश्यकता है।

मूल प्रेरणा

विद्याश्रम 'श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर' की ओर से सन् १९३७ में स्थापित हुआ था। प्रस्तुत समिति पंजाब के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज की स्मृति में स्थापित हुई थी। इसमें

मूल प्रेरणा पंजाब केसरी जैनाचार्य पूज्य श्री काशीराम जी महाराज की है और दिशा प्रदर्शन तथा मुख्य प्रयत्न भारतभूषण शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का है। संस्था के मूल में पंजाब और गुजरात के इन दो महापुरुषों का चिरकालीन सहवास तथा हार्दिक प्रेम संनिहित है। हम दोनों महापुरुषों के परम कृतज्ञ हैं। शतावधानी जी की पवित्र स्मृति को स्थायी रखने के लिए उनके नाम पर विद्याश्रम के अन्दर 'शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय' है।

स्थान तथा नाम का चुनाव

काशी पण्डितों की नगरी और भारतीय विद्याओं का विशाल केन्द्र है। दूर-दूर के विद्वान यहाँ आकर रहना पसन्द करते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय ने उसके महत्व को और बढ़ा दिया है। प्राच्य और प्रतीच्य विद्याओं का सुन्दर मेल होने से इसे अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो गई है। भारतवर्ष के कोने-कोने से तथा चीन, जापान, जर्मनी, लंका, बर्मा आदि विदेशों के विद्यार्थी यहाँ विद्याभ्यास के लिए आते हैं। विद्या की आराधना के लिए जिस तपस्या और निष्ठा की आवश्यकता है, उसके लिए मूर्तिमान आदर्श यहीं प्राप्त हो सकते हैं। इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर विद्याश्रम ऐसे स्थान पर रखा गया है, जहाँ से विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय का पूरा लाभ मिल सके।

काशी भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। इसलिए उन्हीं की पवित्र स्मृति में संस्था का नाम **श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम** रखा गया है। यह नाम श्रमण संस्कृति के प्राचीन गौरवमय युग का भी स्मरण दिलाता है।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

१. छात्रावास और छात्रवृत्तियाँ

विद्याश्रम की सबसे पहली प्रवृत्ति है—मुख्य रूप में जैनाभ्यास को लेकर पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए आचार्य व एम. ए. तक छात्रवृत्तियाँ देकर उन्हें प्रोत्साहित करना और उनके लिए निवास व स्थान आदि की सब सुविधाएँ प्रदान करना। यह दृष्टि प्रारंभ से ही रही है। यही कारण है कि सेवक व पाचक यहाँ निरन्तर रखे जाते है, जिनका वेतन विद्याश्रम देता है और जिससे विद्यार्थियों को भोजनादि की सुविधाएँ घर जैसी मिलती हैं। इसके अलावा उनके खेल व चिकित्सा आदि के लिए भी व्यवस्था रहती है। विद्याश्रम के पास दो मकान हैं—एक तो जैनाश्रम के नाम से अपना है, जिसमें

सपरिवार रिसर्च स्कालर आदि रहते हैं। दूसरा किराये पर है, जिसमें पुस्तकालय, 'श्रमण' कार्यालय, छात्रावास, अधिष्ठाता का निवास तथा विद्याश्रम का कार्यालय आदि सब हैं। यहां के विद्यार्थी जैन विषय को लेकर शास्त्री, आचार्य तथा बी. ए., एम. ए. आदि परीक्षाएँ देते रहते हैं। कुछ विद्यार्थी आयुर्वेद में ए. एम. एस. व आयुर्वेदाचार्य तक की परीक्षाएँ देकर डाक्टर भी बने हैं। इधर कुछ वर्षों से स्वर्गीय पूज्य श्री काशीराम जी महाराज के स्मारक फन्ड की ओर से भी शास्त्री और आचार्य के विद्यार्थियों को प्रतिवर्ष वृत्तियाँ दी जाने लगी हैं। जिससे जैन-अजैन सभी तरह के विद्यार्थी जैन परीक्षाएँ देने लगे हैं। इस वर्ष सन् १९५६ में इस फन्ड की ओर से पांच विद्यार्थी शास्त्री और दो आचार्य परीक्षा में बैठेंगे। आचार्य के दोनों विद्यार्थी अजैन हैं— श्री सूर्यनारायण उपाध्याय ब्राह्मण हैं और श्री शीलाचार बौद्ध भिक्षु हैं।

२. शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय

विद्याश्रम की बहुत ही महत्वपूर्ण और आधारभूत दूसरी प्रवृत्ति है— शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय। इसकी स्थापना भी विद्याश्रम के प्रारंभ के साथ ही की गई थी। समिति के मूल प्रेरक शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्र जी के नाम पर ही पुस्तकालय का नाम रखा गया। इसमें पुस्तकों की संख्या अभी ६ हजार के लगभग है, किन्तु उन का चुनाव इतना अच्छा और मूल्यवान है कि इसके बल पर विविध जैन विषयों को लेकर आज तक ५-६ पी-एच. डी. व डी. लिट्. के थीसिस तैयार किये जा चुके हैं और कई विद्वान् विशिष्ट ग्रन्थों का लेखन व संपादन कर चुके हैं। पुस्तकालय के विकास के लिए समिति व विद्याश्रम के संचालक प्रारंभ से ही काफी उदार रहे हैं। कई सज्जनों व बहनों ने पांच सौ व हजार तक की रक़में देकर अपने विद्याप्रेम का परिचय दिया है। शीघ्र ही ६ बीघा जमीन के मिल जाने पर सबसे पहले पुस्तकालय-भवन के निर्माण की ही चिन्ता की जाएगी। जहां पर कम से कम पचास हजार पुस्तकों की सुरक्षा हो सके। और एक साथ दस विद्वान सुविधापूर्वक अनुसंधान कार्य कर सकें। इसके साथ ही जैनकला विभाग की व्यवस्था रखने का भी विचार है। हमारी भावना है कि 'शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय' में ऐसा विशिष्ट संग्रह किया जाए, जिससे समूचे जैन समाज और जैनविद्या प्रेमी विद्वान लाभ उठा सकें। हर्ष की बात है कि सेठ सोहनलाल जी दूगड़ ने २५०००) रु० देकर जमीन का प्रश्न हल कर दिया है। पुस्तकालय भवन के

लिए एक–डेढ़ लाख रुपये की आवश्यकता होगी। आशा है विद्या प्रेमी दानी सज्जन इस माँग को शीघ्र ही पूरा कर देंगे।

३. रिसर्च विभाग

सौभाग्य से पुस्तकालय की ओर कार्यकर्ताओं का ध्यान प्रारंभ से ही रहा है जिससे सन् १९४८ में सरलता पूर्वक रिसर्च कार्य शुरू हो सका। बल्कि यों कह सकते हैं कि पुस्तकालय के कारण ही यह कार्य शुरू हो सका। इसके बाद तो पुस्तकालय का विकास भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। रिसर्च के लिए एम. ए. तथा आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण प्रतिभाशाली ऐसे विद्वान का ही चुनाव किया जाता है जो किसी एक जैन विषय को लेकर लगातार दो साल तक निष्ठापूर्वक शोध कार्य कर सकता हो। एक विद्वान के लिए १००) रु. से १५०) रु. मासिक तक की व्यवस्था की जाती है। अतः एक रिसर्च स्कालर के थीसिस की दृष्टि से कम से कम ५०००) रु० की व्यवस्था पहले करनी पड़ती है जिससे कि वह निश्चिन्त होकर कार्य कर सके। आज तक यहाँ से ५–६ विद्वान थीसिस तैयार करके पी-एच. डी. व डी. लिट्. की डिग्रियाँ ले चुके हैं। समिति के श्री रतनचन्द स्मारक फन्ड की ओर से श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री और श्री मोहनलाल मेहता—ये दो विद्वान पी-एच. डी. हो चुके हैं। कलकत्ता निवासी श्री राजेन्द्र सिंह जी और श्री नरेन्द्र सिंह जी सिंघी भाइयों की ओर से श्री गुलाबचन्द्र जी चौधरी पी-एच. डी. की डिग्री ले चुके हैं। बम्बई निवासी सेठ छोटेलाल केशव जी शाह की ओर से प्रो० विमलदास जैन इसी अप्रैल में पी-एच. डी. के लिए अपना थीसिस हिन्दू यूनिवर्सिटी को उपस्थित कर रहे हैं। बम्बई स्थानकवासी जैन संघ व कान्फरेंस की ओर से जो एक रिसर्च स्कालर के लिए वृत्ति मिली थी, उसके लिए भी प्रयत्न चालू है। योग्य विद्वान के मिलने पर इसके लिए भी कार्य शुरू होगा।

श्री मोहनलाल मेहता का थीसिस छपने के लिए प्रेस में जा चुका है। श्री गुलाबचन्द्र चौधरी का थीसिस भी जल्द ही प्रेस में जाने वाला है। इस वर्ष समिति ने दोनों को प्रकाशित करने के लिए विशेष बजट पास किया है।

किसी भी जैन विषय को लेकर जब कोई विद्वान दो-तीन साल में चार-पांच सौ पृष्ठ का थीसिस लिखता है, तो इससे दो लाभ होते हैं—एक तो जैन दर्शन का विशिष्ट विद्वान तैयार होता है और दूसरे उच्चकोटि के जैन साहित्य का निर्माण। अतः यह कार्य इतना महत्व का है कि एक रिसर्च-

स्कालर के लिए ५-६ हजार रुपया खर्च करना कोई बड़ी चीज नहीं है। आशा है विचारशील दानी इस कार्य के महत्व को पहचानेंगे।

४. श्रमण (मासिक पत्र)

सन् १९४८ में रिसर्च कार्य शुरू हुआ था। इसके बाद अगले साल ही १९४९ में दीपावली के अवसर पर 'श्रमण' मासिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया गया। इसके मूल में विद्याश्रम के रिसर्च स्कालरों का ही उत्साह था। 'श्रमण' के प्रकाशन में दो-तीन दृष्टियाँ मुख्य रहीं। श्रमण यानी संत संस्कृति को प्रकाश में लाना, जैन धर्म व दर्शन की बातों को ठीक रूप में जनता के सामने रखना, अहिंसा व शान्ति के मानवतावादी विचारों को पनपाना तथा जनता के नैतिक धरातल को ऊँचा उठाने में सहायक बनना। 'श्रमण' की यह प्रारंभ से रीति-नीति रही है कि किसी भी तरह के सांप्रदायिक या अन्य किसी कदाग्रह को स्थान न देकर सुधारवादी विचारों को बढ़ावा देना। यही कारण है जैन समाज के सभी संप्रदाय वाले इसे पसंद करते हैं। जैन समाज के बाहर भी इसके ऐसे ग्राहक व प्रेमी पाठक हैं, जो इसे प्रेम से पढ़ते-सुनते हैं। जैन समाज के गुरुकुल, विद्यालय, वाचनालय, हाईस्कूल, कालेज जैसे विद्यासंस्थानों में यह विशेष रूप से पसंद किया जाता है। भारत की दूसरी प्रसिद्ध संस्थाओं में भी यह कई जगह जा रहा है। हम चाहते हैं कि 'श्रमण' का घर-घर में प्रचार हो, जिससे मानवता के प्रचार-प्रसार में यह सहायक बन सके। हमारा जैन समाज के त्यागी वर्ग से विशेष अनुरोध है कि वे जहाँ-जहाँ भी जाएँ 'श्रमण' के प्रचार का अवश्य ध्यान रखें जिससे वे श्रमण संस्कृति का प्रचार भी सरलता से कर सकेंगे।

५. व्याख्यान माला

विद्याश्रम की एक छोटी सी महत्व की प्रवृत्ति व्याख्यानमाला है। यह उच्चकोटि के साहित्य के निर्माण की दृष्टि से प्रारंभ की गई है। जो विद्वान जैन दर्शन के किसी भी उपयोगी विषय को लेकर व्याख्यान लिखता है, विद्याश्रम की ओर से बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में उसके व्याख्यान रखे जाते हैं। विद्वान को उचित पुरस्कार व आने जाने का द्वितीय श्रेणी का किराया दिया जाता है। व्याख्यान विद्वानों और विद्यार्थियों की उपस्थिति में होते हैं। लिखित होने से बाद में वे पुस्तक रूप में प्रकाशित भी किये जाते हैं। सबसे पहले सितम्बर सन् १९५३ में तीन व्याख्यान प्राकृतभाषा पर तीन दिन तक

क्रमशः डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० राजबली पांडेय और डॉ० टी. आर. वी. मूर्ति की अध्यक्षता में हुए थे। ये तीनों व्याख्यान 'प्राकृतभाषा' के नाम से विद्याश्रम की ओर से पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि लोक भाषाओं की जड़ प्राकृत है। योरप की लेटिन, फ्रेंच, अंगरेजी आदि भाषाओं के साथ अति प्राचीन काल में संस्कृत-प्राकृत भाषाओं की जो आश्चर्यजनक एकरूपता रही है, व्याख्याता विद्वान ने इन बातों पर बहुत थोड़े में बहुत अच्छे ढंग से विचार किया है। पुस्तक अवश्य पढ़ने योग्य है। मूल्य भी सिर्फ १॥) रु० रखा गया है।

६. जैन साहित्य निर्माण योजना व जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

योजना का प्रारम्भिक रूप—मार्च १९५२ में विद्याश्रम का वार्षिकोत्सव हुआ। विश्वविद्यालय के अधिकारी तथा अमृतसर से आए हुए समिति के कर्णधारों को विद्याश्रम की कार्य-प्रणाली से सन्तोष हुआ और सभी ने उसे आगे बढ़ाने के लिए उत्साह दिखाया। उत्सव में दिये गए व्याख्यानों एवं विद्वानों के मार्गदर्शन से प्रेरणा प्राप्त करके समिति के मंत्री जी कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ एवं जैन-अनुशीलन में रुचि रखने वाले विद्वानों से वैयक्तिक रूप में मिले और उनसे एक निश्चित योजना के रूप में मार्गदर्शन चाहा। उनमें डॉ० पी० एल० वैद्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। डॉ० वैद्य ने आगमों का एक छोटा शुद्ध एवं सुखोद्वह संस्करण निकालने का परामर्श दिया। जो लोग अनुशीलन के लिए आगमों का उपयोग करना चाहते हैं, इससे उन्हें सुविधा हो जाएगी। डॉ० द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य की ओर लक्ष्य खींचा। डॉ० अग्रवाल ने बताया यदि आप लोग चाहते हैं कि विद्वज्जगत् जैन साहित्य की ओर आकृष्ट हो तो सबसे पहले जैन साहित्य का सर्वांगीण इतिहास तैयार होना चाहिए। इसी प्रकार जैन विचारधारा के क्रमबद्ध इतिहास की भी आवश्यकता है। जैन विशेषनामों का कोश भी उतना ही आवश्यक है। इससे विद्वानों को जैन साहित्य का आलोडन करने में सुविधा हो जाएगी। डॉ० अग्रवाल की योजना निम्नलिखित छः भागों में विभक्त थी—

(१) प्राकृत व्यक्तिवाचक शब्दकोश (Dictionary of Prakrit Proper Names)

लंका के डाक्टर मलाल शेखर ने पालि के विशेष नामों का शब्दकोश

(Dictionary of Pali Proper Names) बनाया है। इससे विद्वानों के लिए बौद्ध साहित्य का अध्ययन सुगम हो गया है। उसी पद्धति पर अर्धमागधी, प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के समस्त जैन साहित्य में आए हुए व्यक्तिवाचक एवं भौगोलिक शब्दों का परिचय देते हुए एक कोश तैयार करना चाहिए। इसके लिए कम से कम चार विद्वानों को चार वर्ष तक लगातार काम करना होगा। ग्रन्थ के निर्माण में लगभग पचास हजार रुपये खर्च होंगे। उसके बाद प्रकाशन के लिए पचीस हजार रु० की आवश्यकता होगी।

(२) जैनदर्शन और धार्मिक विचारधारा का क्रमबद्ध इतिहास (History of Jaina Philosophy and Religious Thoughts)

जिस प्रकार डाक्टर राधाकृष्णन् ने हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसोफी तैयार की है, कुछ वैसी ही वस्तु दो हजार पृष्ठों में जैन दर्शन एवं धर्म के लिए तैयार होनी चाहिए। इस रूप में जैनदर्शन के सामने आने पर न केवल जैन समाज के लिए वह वस्तु अत्यन्त उपयोगी होगी, बल्कि भारतीय दर्शन की जो इतिहास कथा है उसमें जैन दर्शन अत्यन्त समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगा। वस्तुतः आने वाले समय में जैन दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या करने के कारण यह ग्रन्थ एक विशेष स्थान की पूर्ति करेगा। बड़ी साइज के लगभग दो हजार पृष्ठों में यह ग्रन्थ पूरा होगा। इसके लेखन तथा प्रकाशन में चालीस हजार रुपये लगेंगे।

(३) जैन साहित्य का इतिहास

योजना का तीसरा भाग जैन साहित्य के इतिहास से संबन्ध रखता है। इसके तीन भाग हो सकते हैं। पहले भाग में आगमों का परिचय, दूसरे में आगमेतर प्राकृत-संस्कृत साहित्य का इतिहास तथा तीसरे में अपभ्रंश एवं लोक भाषाओं में विरचित जैन साहित्य का इतिहास रहे। इस प्रकार लगभग एक-एक सहस्र पृष्ठ की तीन जिल्दों में यह कार्य पूरा हो सकता है। यह ग्रन्थ पन्द्रह हजार रुपये में लिखा जा सकेगा और लगभग तीस हजार रुपया छपाने में खर्च होगा।

(४-५) सांस्कृतिक सामग्री का संकलन व संचयन

चौथी और पांचवीं योजना जैन साहित्य में उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री के पूर्ण संकलन और संचय से संबन्ध रखती है। इस संबन्ध में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन तथा श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने कुछ कार्य किया भी है।

यह कार्य भविष्य में अनुशीलन करने वालों के लिए छोड़ देना ठीक होगा। किसी नियमित योजना के द्वारा इसकी पूर्ति उतनी सफलता के साथ नहीं जा सकती। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जैन सामग्री का संकलन, उसकी व्याख्या और मूल्यांकन भारतीय विद्या विषक अनुसंधान से संबन्ध रखता है। समयानुसार भिन्न-भिन्न विद्वान् इसकी पूर्ति करेंगे, ऐसी आशा है।

(६) जैन दार्शनिक शब्दावली

योजना का छठा भाग जैन दार्शनिक शब्दावली (Dictionary of Jain Philosophical Terms) से संबन्ध रखता है। यह ग्रन्थ भी विद्वानों और साधारण जनता के लिए बड़े महत्व का होगा। लगभग दो हजार पृष्ठों में इस प्रकार का कोश तैयार हो सकता है। इसके लेखन और प्रकाशन में लगभग तीस हजार रुपये की आवश्यकता होगी।

संस्था के मन्त्री जी तीनों विद्वानों के विचारों को लेकर अमृतसर गए और अपने साथियों के साथ ऊहापोह किया। समिति की मर्यादा तथा साथियों के उत्साह को देखकर उन्होंने योजना के दूसरे या तीसरे भाग को हाथ में लेने की स्वीकृति प्रकट की और डॉ० अग्रवाल को पत्र लिखा कि इन दोनों में से किसे हाथ में लिया जाए, इस पर वे अपना मत दें और भविष्य का कार्यक्रम निश्चित करें।

तदनुसार ता० २५ जनवरी १९५३ को डॉ० अग्रवाल की अध्यक्षता में विद्याश्रम की प्रवृत्तियों से संबन्ध रखने वाले सज्जनों की एक बैठक हुई और उसमें **जैन साहित्य का इतिहास** (योजना सं० ३) को हाथ में लेने का निश्चय किया गया। उसी में यह भी निश्चय हुआ कि योजना पर विचार करने के लिए विद्वानों की एक परिषद बुलाई जाए और उसके लिए २९ नाम चुने गए। आवश्यकतानुसार और विद्वानों को बुलाने की भी गुंजाइश रखी गई।

जैन साहित्य निर्माण योजना के प्रथम अनुष्ठान 'जैन साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ की रूपरेखा को परिनिष्पन्न करने के लिए अहमदाबाद में ता० २९ अक्तूबर १९५३ को विद्वन्मण्डल का एक अधिवेशन हुआ। यह ऐसे विद्याव्रती दीर्घतपस्वियों का सम्मेलन था, जिन्होंने भारतीय इतिहास, साहित्य एवं संस्कृति के अप्रज्ञात क्षेत्रों को प्रकाश में डालने के लिए अपना जीवन अर्पित कर रखा है। जिनकी साधना का प्रत्येक क्षण सरस्वतीके चरणों में नूतन उपपार

बढ़ाने के लिए है। जैन साहित्य निर्माण योजना एक ऐसे ही महान साधक का स्वप्न है। भारत का सारस्वत स्रोत जिन बिन्दुओं को लेकर समृद्ध हुआ और हजारों वर्षों से आज तक बह रहा है, उसमें जैन परम्परा की महत्वपूर्ण देन है। किन्तु वह देन अभी तक समुचित रूप से प्रकाश में नहीं आई है। इसी अभाव की पूर्ति के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्., एल.एल. बी., अध्यापक, भारती महाविद्यालय, काशी विश्वविद्यालय ने उपरोक्त योजना श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति के मंत्री लाला हरजसराय जी के सामने रखी। लाला जी ने आर्थिक व्यवस्था का उत्तर-दायित्व लिया और समिति की ओर से २५,०००) रु० (पचीस हजार रुपये) 'जैन साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ तैयार करने के लिए जुटाने का आश्वासन दिया। इसके बाद जैन साहित्य के प्रमुख विद्वानों को सहयोग के लिए आमंत्रित किया गया। उनसे विभिन्न भाग एवं खण्डों की रूपरेखाएँ भेजने के लिए भी प्रार्थना की गई। विद्वानों का उत्तर अत्यन्त उत्साहवर्धक था। इस प्रकार भूमिका तैयार हो जाने के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि योजना में रुचि रखने वाले विद्वानों का एक सम्मेलन किया जाए, जिसमें योजना को विचार विनिमय के पश्चात् अन्तिम रूप दिया जा सके। इसी निश्चय को मूर्तरूप देने के लिए विद्वन्मण्डल का उपरोक्त अधिवेशन हुआ।

ता० २९ अक्तूबर को प्रातः नौ बजे मुनि पुण्यविजय जी, आचार्य जिन-विजय जी, पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० पी० एल० वैद्य, डॉ० मोतीचन्द, श्री अगरचन्द जी नाहटा, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, डॉ० प्रबोध पण्डित, डॉ० इन्द्रचन्द्र, प्रो० पद्मनाभ, श्री जयभिक्खु, श्री परमानन्द कुँवरजी कापड़िया आदि विद्वानों की उपस्थिति में मुनि श्री पुण्यविजय जी की अध्यक्षता में अधिवेशन प्रारम्भ हुआ।

मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अपने भाषण में कहा कि जैन साहित्य के इतिहास के निर्माण का आपने जो संकल्प किया है वह उचित है। जिस प्रजा का इतिहास नहीं है वह सत्य को नहीं समझ सकती। वास्तव में देखा जाए तो सत्य के अन्वेषण का नाम ही इतिहास है। वह सत्य किसी सम्प्रदाय में सीमित नहीं रहता, किन्तु व्यापक होता है। भारत का इतिहास बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु उसका जैन विभाग अभी तक बाकी है। उसमें संशोधन एवं अध्ययन न्यूनतम हुआ है। साहित्य, स्थापत्य, कला आदि सभी

विषयों में विस्तृत विचार की आवश्यकता है। जैन आगमों में भारतीय इतिहास की विपुल सामग्री है। उसका अध्ययन एवं निरीक्षण आवश्यक है। जैन संस्कृति भारत की व्यापक संस्कृति का एक अंग है। उसे समझने के लिए आगमों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

जो बात आगमों के लिए है वही बात भारत के अन्य साहित्य के लिए भी है। काव्य, नाटक, कोश आदि में भी मौलिकता नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी है। पाटन, खम्भात जैसलमेर आदि भण्डारों की प्राचीन प्रतियाँ मिलने से पता चलता है कि कई जगह पंक्तियाँ ही नहीं, पृष्ठ तक गायब है। मैंने जैसलमेर से उपलब्ध अनुयोगद्वार की एक प्रति का अवलोकन किया तो उसमें कई पंक्तियाँ नहीं थीं। गुजरात की ताड़पत्र की प्रतियाँ भी स्थान-स्थान पर खण्डित हैं। सबका परिमार्जन करके ठीक पाठ की व्यवस्था करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। मैं इस साहित्यिक अनुष्ठान की हृदय से सफलता चाहता हूँ और यह वचन देता हूँ कि शक्य सहयोग के लिए सदा तैयार रहूँगा।

इसके पश्चात् डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने योजना का परिचय देते हुए कहा—हमारा देश पिछले तीन सहस्र वर्षों से सांस्कृतिक विकास करता आ रहा है। प्रत्येक पीढ़ी को प्राचीन परम्परा के रूप में बहुत कुछ उत्तराधिकार में मिला है। उस परम्परा की रक्षा करना और उसे आगे बढ़ाना हम सभी का कर्तव्य है। हमारे देश की एक विलक्षणता है। इसमें अनेक धाराएं बह रही हैं। सभी सत्य पर पहुँचने के प्रयत्न हैं। वेद में एक मंत्र आता है—

जनं विभ्रती वहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

यह पृथ्वी भिन्न भिन्न बोलियाँ बोलने वाले और नाना धर्मों के मानने वाले अनेक जनों को धारण करती है। यह उन भिन्न भिन्न जनों के एक साथ रहने की प्रयोगशाला है। हमारी संस्कृति अनेक विचारधाराओं, अनेक धर्मों तथा अनेक जनों को लेकर बनी है। कहते हैं ५०० से अधिक यहां बोलियाँ बोली जाती हैं। विविधता हमारी भूमि का एक वरदान है। जैन संस्कृति उस वरदान का महत्वपूर्ण अंग है। वैदिक परम्परा का अनुशीलन चल रहा है। बौद्ध परम्परा का भी अपेक्षाकृत हुआ है और हो रहा है किन्तु जैन संस्कृति के क्षेत्र में अभी बहुत कम कार्य हुआ है। जैन साहित्य कार्य का एक विशाल क्षेत्र है।

पं० सुखलाल जी ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—बनारस के पास विद्या की परम्परा है। डॉ० मोतीचन्द सरीखे भारतेन्दु के बंशज अब भी

विद्यमान हैं, जिनकी कई पीढ़ियों से विद्या की उपासना चल रही है। हिन्दू विश्वविद्यालय के कारण यहां बाहर के विद्वानों का भी अच्छा सुयोग बना रहता है। जैन विद्वानों का भी समुदाय यहाँ बना ही रहता है। बनारस की एक विशेषता है—बम्बई आदि नगरों में धन कमा कर लोग बाहर ले जाते हैं। किन्तु भारत के बड़े विद्वान विद्या धन का बाहर उपार्जन करके उसे बनारस में ले आते हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् इसके निदर्शन हैं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने योजना का कार्य अपने हाथ में लिया है। उनकी अनेक प्रवृत्तियों से मैं परिचित हूँ, फिर भी वे जो रस ले रहे हैं यह उनकी विशाल दृष्टि का उदाहरण है। हमें उनकी दृष्टि का उपयोग करना चाहिए। डॉ० उपाध्ये का सहयोग भी हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी रहेगा। जैन समाज की एक विचित्रता है। बारात के लिए जब किसी को बुलाने जाते हैं तो कोई नहीं आता, घंटों बीत जाते हैं और वे अपनी तैयारी में लगे रहते हैं। किन्तु जब बारात चल पड़ती है तो पीछे-पीछे दौड़कर आते हैं। यही बात हमारे इस कार्य की है। जब हम अपनी योजना के अनुसार आगे बढ़ेंगे तो सम्मिलित होने के लिए बहुत से आगे आएँगे। दलसुख भाई की विद्यासाधना का मैं साक्षी हूँ। उनकी दृष्टि अत्यन्त शुद्ध है। जैन साहित्य की योजना के संचालन में उनका हाथ हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। मैं यह मानता हूँ कि किसी कार्य की सम्पूर्णता का उत्तरदायित्व कोई नहीं ले सकता। फिर भी हमें प्रयत्न करना है। जब तक जीवन है कार्य करते जाना है। उसके पश्चात् भी कार्य तो चलेगा ही। मैं मानता हूँ, देह जाती है, मनुष्य नहीं जाता। मैं धनिकों से भी अनुरोध करता हूँ कि वे अपने धन का इस शुभ कार्य में विनियोग करें। यह एक उत्तमोत्तम विनियोग है। इस कार्य में सहायक होना उनका कर्त्तव्य है। कार्य तो चलेगा ही और पूरा भी होगा। यह काम करना है।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अपना भाषण अंग्रेजी में देते हुए बताया—जैन साहित्य एक व्यापक शब्द है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। भारतीय संस्कृति के जितने पहलू हैं तथा उसकी अभिव्यक्ति जितनी भाषाओं में हुई है सभी को जैन साहित्य की महत्वपूर्ण देन है। केवल आगम ही नहीं, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिळ, तेलुगु, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं में जैन साहित्य विपुल परिमाण में विद्यमान है। किन्तु अभी तक वह अंधकार में पड़ा हुआ है।

इसके लिए किसको दोष दिया जाए, यह चर्चा अप्रासंगिक है। अब सभी विद्वानों की दृष्टि में आ गया है कि भारतीय इतिहास के लिए जैन साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है। इस दृष्टि से जैन साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। जब तक जैन साहित्य का अनुशीलन नहीं होता भारतीय इतिहास अधूरा रहेगा। एक सच्चे विद्वान के सामने जैन एवं जैनेतर साहित्य का भेद नहीं होना चाहिए। उसे भारतीय साहित्य को सम्यग्दृष्टि से देखना चाहिए। फिर जैन साहित्य का उद्यान हमें वारसे में मिला है। यह एक सार्वजनिक उद्यान है। प्रत्येक व्यक्ति इसकी सुगन्ध ले सकता है। इसकी रक्षा का उत्तरदायित्व हम लोगों को सौंपा गया है। हम केवल इसके माली हैं।

जैन साहित्य का इतिहास

प्रस्तावित जैन साहित्य के इतिहास में आगमों से प्रारंभ होकर आज तक के संपूर्ण जैन साहित्य का सर्वांगपूर्ण परिचय रहेगा। ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित होगा। प्रथम भाग में आगमिक साहित्य का परिचय रहेगा। द्वितीय भाग में दार्शनिक एवं लाक्षणिक साहित्य का परिचय दिया जाएगा। तृतीय भाग काव्य साहित्य से संबन्धित होगा। चतुर्थ भाग में अपभ्रंश व लोकभाषाओं में निर्मित जैन साहित्य का परिचय रहेगा। संपूर्ण ग्रंथ में रॉयल अठपेजी आकार के लगभग ३००० पृष्ठ होंगे। लेखकों को ५) रु० प्रति पृष्ठ पुरस्कार दिया जाएगा। इस प्रकार लगभग १५०००) रुपये लेखन-कार्य में एवं ३००००) रु० मुद्रण आदि कार्यों में खर्च होंगे। लगभग ४५०००) रु० के व्यय से प्रकाशित होने वाला यह ग्रंथ हिन्दी जगत् के लिए अत्यन्त ही महत्व का होगा। जैन जगत् के लिए तो इसका महत्व अपूर्व होगा। निश्चित योजना के अनुसार सन् १९५७ के अन्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित हो जाएगा। इसकी प्रस्तावित रूपरेखा इस प्रकार है—

१. प्रथम भाग—आगमिक साहित्य पृ. सं. १५६५

संपादक—१. डॉ० हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्., भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय; वर्तमान डाइरेक्टर, वैशाली जैन ज्ञानपीठ, बिहार

२. विचाराधीन

प्रस्तावना पृ. सं. १००—लेखक प्रो० दलसुख मालवणिया, प्राध्यापक, जैन दर्शन, संस्कृत महाविद्यालय, काशी विश्वविद्यालय.

अंग सूत्र पृ. सं. १५०—लेखक प्रो० दलसुख मालवणिया

उपांग सूत्र व मूलसूत्र पृ. सं. १४५—लेखक डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, एम. ए., पी-एच. डी., प्राध्यापक, रुइया कॉलेज, बम्बई.

छेदसूत्र, नन्दी एवं अनुयोगद्वार पृ. सं. १५०—लेखक डॉ. मोहनलाल मेहता, एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्राचार्य, व्यवस्थापक, जैन साहित्य निर्माण योजना, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस-५.

प्रकीर्णक पृ. सं. २५—लेखक पं० कृष्णचन्द्राचार्य, अधिष्ठाता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस-५.

आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य—निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ, संस्कृत टीकाएं एवं लोकभाषाओं में रचित व्याख्याएं, पृ. सं. ४७५—लेखक डॉ० मोहनलाल मेहता।

इस खण्ड का लेखन-कार्य समाप्त हो चुका है।

कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पृ. सं. २००—लेखक डॉ० हीरालाल जैन व पं० बालचन्द्र शास्त्री।

कर्म साहित्य पृ. सं. ८०—लेखक डॉ० मोहनलाल मेहता

आगमिक प्रकरण पृ. सं. २४०—लेखक प्रो० दलसुख मालवणिया व डॉ० इन्दुकला झवेरी, एम. ए., पी-एच० डी., प्राध्यापिका, रामानन्द कालेज, अहमदाबाद।

२. द्वितीय भाग—दार्शनिक व लाक्षणिक साहित्य, पृ. सं. ५००।

दार्शनिक साहित्य पृ. सं. ३८०—संपादक प्रो० दलसुख मालवणिया लेखक डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्राचार्य, प्राध्यापक, रामजस कॉलेज, देहली।

लाक्षणिक साहित्य पृ. सं. १२०—संपादक विचाराधीन, लेखक पं० अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह।

३. तृतीय भाग—काव्य साहित्य पृ. सं. ४००

संपादक—डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, एम. ए., पी-एच. डी., अध्यक्ष, गुजराती विभाग, बड़ौदा विश्वविद्यालय;

लेखक डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, एम. ए., पी-एच. डी., व्याकरणाचार्य, पुस्तकाध्यक्ष, नालन्दा पालि इन्स्टीटयूट, नालन्दा।

४. चतुर्थ भाग—अपभ्रंश व लोकभाषाओं में निर्मित साहित्य पृ. सं. ५७०।

अपभ्रंश साहित्य पृ. सं. १३०—संपादक व लेखक प्रो० एच. सी. भायाणी, प्राध्यापक भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

हिन्दी जैन साहित्य पृ. सं. १३०—संपादक श्री अगरचंद नाहटा लेखक प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन, एम. ए., साहित्याचार्य, प्राध्यापक, डिग्री कॉलेज, अल्मोड़ा।

गुजराती जैन साहित्य पृ. सं. ८०—संपादक प्रो० एच. सी. भायाणी व श्री अगरचंद नाहटा; लेखक प्रो० एच. सी. भायाणी.

राजस्थानी जैन साहित्य पृ. सं. ८०—संपादक व लेखक श्री अगरचंद नाहटा

कन्नड़ जैन साहित्य पृ. सं. ७५—संपादक विचाराधीन
लेखक श्री आर. एस. पंचमुखी, भूतपूर्व डाइरेक्टर, कन्नड रिसर्च इन्स्टिटयूट, धारवाड

तामिल जैन साहित्य पृ. सं. ७५—संपादक विचाराधीन.

लेखक प्रो. टी. पी. मीनाक्षी सुन्दरन् पिल्लई, अध्यक्ष, तामिल विभाग, प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास

हर्षनिवेदन

दो वर्षों के व्यवस्थित प्रयत्न के अनन्तर हमें यह सूचित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव होता है कि अब यह योजना सफलता के उस मोड़ पर पहुँच चुकी है जहां इतिहास का एक अच्छा भाग संपन्न हो चुका है और

अवशिष्ट अंश आगामी दीपावली तक लिखित रूप में संपन्न हो जाएगा। इसलिए जनता की यह आशा अब निकट भविष्य में पूर्ण होती हुई दिखाई देगी कि वह अपने धार्मिक और लौकिक समस्त साहित्य का—जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती कन्नड़, तामिल, तेलुगु, हिन्दी आदि भाषाओं में अनेक विद्वानों के परिश्रम द्वारा तीन सहस्र वर्षों में तैयार हुआ था—तीन सहस्र पृष्ठों में सुबृहत् इतिहास मुद्रित होकर सबके लिए सुलभ हो जाएगा। जैन समाज के इतिहास में वह शुभ दिन सोने के अक्षरों में लिखा जाएगा। इस योजना के समाप्त होते ही श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम इससे भी महान् और महत्वपूर्ण दूसरी योजनाओं को अपने हाथ में लेगा। इसके लिए आप सब के उन्मुक्त सहयोग दान की प्रार्थना है।

जैन समाज से निवेदन

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की वर्तमान प्रवृत्तियों तथा उनमें से 'जैन साहित्य निर्माण योजना' और उसके अन्तर्गत 'जैन साहित्य का इतिहास' के लेखन की रूपरेखा तथा प्रगति को पढ़ कर आप को इतना मालूम हुआ होगा कि यह कार्य कितना महत्व का और कितना खर्चीला है। साथ ही इसके लिए कितने समय और धैर्य की जरूरत है। यह निश्चित है कि विद्वानों और दानियों के हार्दिक सहयोग के बिना यह कार्य एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता।

उपरोक्त 'जैन साहित्य निर्माण योजना' में छः प्रकार के बृहत् ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता दिखाई गई है। जिनमें से फिलहाल 'जैन साहित्य के इतिहास' की तैयारी को हाथ में लिया गया है। इसका काम सन् १९५६ के मध्य तक पूरा हो जाएगा, यही सब का प्रयत्न है। इस ग्रन्थ के खण्ड-उपखण्डों को कौन २ लिख रहे हैं और उनके कौन २ संपादक हैं, थोड़े में यह ऊपर दिया जा चुका है।

'जैन साहित्य का इतिहास' का अर्थ है—भगवान महावीर से लेकर आज तक ढाई हज़ार वर्ष के अरसे में जितना भी अर्धमागधी, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं विविध लोक भाषाओं में विशाल जैन साहित्य का निर्माण हुआ है, उस सब का इसमें संक्षेप से विवरण होगा। जिससे यह पता लग सकेगा कि किस विषय का कौन सा ग्रन्थ, किस काल में, किस विद्वान ने लिखा है। किस विषय के कितने लेखक और कितने ग्रन्थ हैं—इत्यादि। जब भी कोई

विद्वान जैन साहित्य पर कुछ लिखना या रिसर्च कार्य करना चाहेगा, तो उसके लिए यह पहला सहायक ग्रन्थ होगा। इसको देखते ही उसके सामने समूचे जैन साहित्य का एक चित्र उपस्थित हो सकेगा।

हम चाहते हैं जैनसमाज नवीन साहित्य निर्माण के महत्व का अनुभव करे और इस कार्य में अपना पूरा सहयोग दे। सब का सहयोग मिलने पर ही महत्व के बड़े कार्यों में सफलता हाथ लग सकती है। खास कर धार्मिक और सामाजिक कार्यों के लिए तो यह और भी अनिवार्य है। हम यह भी चाहते हैं कि इस महत्व के पुण्य कार्य में छोटे-बड़े सभी जैनबन्धु उत्साह से भाग ले सकें, केवल धनी-मानी व्यक्तियों के ही हाथ का यह काम नहीं।

यह अनुभव की बात है कि इस प्रकार के कार्य वर्षों में पूरे होते हैं, वे लगातार चलते रहें और उनमें सफलता मिल सके, इसके लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। इस व्यवस्था को चालू रखने के लिए सहायता की रकम इतनी सरल हो कि हर कोई बिना कठिनाई के भाग ले सके। वह सार-हीन भी न हो और अपने आप में उसका पूरा महत्व हो।

इन तमाम और अन्य जरूरतों से प्रेरित हो कर समिति ने आर्थिक सहायता के नीचे लिखे कुछ मार्ग नियत किए हैं। दानी सज्जन इनमें से अपनी अपनी शक्ति व सुविधानुसार चुनाव कर सकते हैं।

१. जो सज्जन प्रति वर्ष ३०) रु० देंगे वे श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति के साधारण सदस्य बन सकेंगे। वे समिति की सारी व्यवस्था में भाग ले सकेंगे। इसकी गतिविधि पर उनका भी अधिकार होगा। समिति का साधन 'श्रमण' पत्र उन्हें निःशुल्क भेजा जाएगा।

३०) रु० प्रति वर्ष देने का अर्थ है, प्रतिमास २॥) रु० या प्रतिदिन पाँच पैसे। यह खर्च कोई भी धर्मप्रेमी सज्जन सहर्ष उठा सकता है। यदि हजार पांच सौ ऐसे सज्जन अपने मन में निश्चय कर लें, तो वे थोड़े ही समय में अपने बड़े-बड़े स्वप्नों को साक्षात् पूरा होते हुए देख सकेंगे।

इस साधन से न केवल महत्व का साहित्य निर्माण कार्य हो सकेगा। बल्कि जो जैन विद्वान तैयार हो रहे हैं, उनकी विद्वत्ता और योग्यता का उपयोग जैन संस्कृति की निरन्तर धारा बहाने के लिए किया जा सकेगा।

इस समय समिति के पास इतना धन नहीं है कि वह इन विद्वानों को स्थायी रूप से रख सके अथवा उनसे ठीक रूप में काम ले सके। हमें इस बात का दुख है कि जो विद्वान् तैयार होते भी हैं, जैन समाज की अपनी कोई ऐसी संस्था नहीं है, जो कि उनके प्रतिष्ठा पूर्वक जीवन निर्वाह का प्रबन्ध कर सके। यह तभी हो सकेगा, जब कि जैन समाज का अपना कोई विशिष्ट ज्ञान-पीठ हो। आज तो स्थिति यह है कि जैन समाज विद्वानों को संभाल भी नहीं सकता, इससे वे निराश व निरुत्साह होकर दूसरी संस्थाओं में चले जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण हमारे सामने हैं। जैन साधु और गृहस्थ समाज का अब भी इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं जा रहा है। यही कारण है कि आज भारतीय विश्वविद्यालयों तक में जैनाभ्यास का कोई प्रबन्ध नहीं, और न इस ओर किसी का ध्यान ही जा रहा है। जैन विद्वानों की एक यह भी बड़ी कठिनाई है। हमने देखा है जैन विषय को लेकर डाक्टरेट करने वाले विद्वानों की भी प्रायः उपेक्षा ही की जाती है।

इस भँवर में से निकल जाने का प्रयास समिति कर रही है, वह चाहती है कि श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम जैन ज्ञानपीठ का रूप धारण करे। जहाँ पर उच्च से उच्च जैनाभ्यास के लिए विशिष्ट व्यवस्था हो और उच्चकोटि के विद्वानों के लिए हर तरह के साधन हों। हम समझते हैं इससे जैन धर्म और जैन समाज का मस्तक ऊँचा हो सकेगा, और हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या हल हो सकेगी। ३०) रु० वार्षिक की सरल सी योजना इसीलिए समिति ने रखी है कि सभी जैन बन्धु अधिक से अधिक संख्या में समिति के ३०) रु० वार्षिक के सदस्य बन कर धर्म प्रभावना के इस सांस्कृतिक कार्य में भाग ले सकें। हम समझते हैं, यह चीज किसी के लिए भी मुश्किल नहीं होनी चाहिए।

२. जो सज्जन समर्थ हैं, वे एकमुश्त ५००) रु० या इससे अधिक की सहायता दे सकते हैं। १०००) रु० देने पर नं० १ के अनुसार ३०) रु० वार्षिक अपने आप समिति को मिलता रहेगा, और दानी महाशय जीवनपर्यन्त के सदस्य बन सकेंगे।

३. इससे अधिक की सहायता का मार्ग यह है कि कम से कम ५०००) रु० नक़द या इतनी ही रक़म की सहायता भूमि व मकान आदि के बनाने में अथवा

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की अन्य प्रवृत्तियों में देने से दानी महोदय उपसंरक्षक बन सकते हैं ।

४. संस्था का संरक्षक बनने के लिए १००००) रु० या अधिक सहायता देने की जरूरत है ।

उक्त प्रकारों के अलावा किसी भी अवसर पर या किसी भी रूप में छोटी से छोटी सहायता को भी समिति सहर्ष स्वीकार कर सकेगी । हमारा उद्देश्य यही है जैन संस्कृति और साहित्य की सच्चे रूप में रक्षा व वृद्धि की जाए और उसका आधुनिक ढंग से नव निर्माण किया जाए । उसका प्रसार व प्रचार हो सके। विद्वज्जगत की उसके अध्ययन में रुचि पैदा हो । हमारा यह विश्वास है कि ज्ञान का प्रचार किये बिना महावीर या पार्श्वनाथ कितने ही पूज्य या महान क्यों न हो, उन्हें कोई जान भी नहीं सकता । ठीक रूप में पहचानना तो दूर की बात है ।

समिति का सारा प्रयास और उत्साह इस बात पर अवलंबित है कि जैन समाज इस ओर कहां तक ध्यान देता है । जैन समाज के पूज्य साधु और त्यागीगण अपना कहां तक कर्तव्य पूरा करते हैं । समय चला जा रहा है, हम जितनी जल्दी इसे पहचानेंगे, इसी में समाज और धर्म की उन्नति व भलाई है । भगवान महावीर की अहिंसा और सर्व समन्वय रूप अनेकान्त दृष्टि का संसार में फैलाव हो, यही हमारी एकमात्र भावना व कामना है ।



श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम का वार्षिकोत्सव

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम का वार्षिकोत्सव गत २५ मार्च १९५६ को श्री शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय के समक्ष हाल में डा० हीरालाल जी जैन, डायरेक्टर—प्राकृत विद्यापीठ वैशाली की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर पंजाब से पधारे हुए कतिपय महानुभावों के अतिरिक्त स्थानीय विद्वानों-प्रोफेसरों और विद्यार्थिओं आदि की उपस्थिति भी काफी रही।

सर्वप्रथम श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम के मंत्री लाला हरजसराय जी ने सन् १९३७ से लेकर अब तक की विद्याश्रम की प्रगति की रूपरेखा का परिचय देते हुए कहा कि विद्याश्रम अनेक प्रकार की गतिविधियों को अपने उद्देश्यों में सम्मिलित करता चला आ रहा है। अभी विद्याश्रम ने जैन साहित्य-निर्माण तथा रिसर्च (अनुसंधान) की जो योजना बनाई है उस पर वह मुख्य रूप से कटिबद्ध है। विद्याश्रम उक्त योजना को निष्पक्ष रूप में समाज के समक्ष उपस्थित कर सके, ऐसा उसका प्रयत्न है। आपने आगे बताया कि डा० नथमल टांटिया, डा० इन्द्रचन्द्र, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी तथा डा० मोहनलाल मेहता इन सब को डाक्टरेट की पदवी प्राप्त कराने में—उनके महानिबन्ध तैयार कराने में विद्याश्रम ने उन्हें भरपूर सहायता दी। वह सहायता आर्थिक क्षेत्र में तो थी ही किन्तु श्री शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय भी उनके लिए एक प्रमुख साधन रहा है, और हमेशा रहेगा।

इसके पश्चात् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में बताया कि भारतवर्ष में अनेक धर्म हैं, अनेक आचार हैं, अनेक संस्कृतियाँ हैं किन्तु इन विभिन्नताओं में ही हमारी अक्षुण्ण एकता के दर्शन होते हैं। और हमारी सबसे बड़ी विशेषता यही रही है।

जैन साहित्य की विशालता का उल्लेख करते हुए आपने बताया कि जैन साहित्य ने युग को अनेक महत्वपूर्ण बातें दी हैं और सचमुच इसका भण्डार इतना विशाल है कि जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जैसलमेर–बीकानेर के शास्त्र भंडार देखने पर यह कल्पना साकार हो उठती है। कितने ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनका नाम तक अभी हमने नहीं सुना है। मुनि पुण्यविजय जी

का प्रयास इस संबन्ध में सर्वथा प्रशंसनीय है कि उन्होंने कितने ही अनुपलब्ध ग्रंथों को प्रकाश में लाने का सराहनीय कार्य किया।

जैन साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए आपने डा० हीरालाल जी द्वारा अपभ्रंश साहित्य तथा षट्खण्डागम के उद्धार के लिए किये गए कार्य की प्रशंसा की।

इसके पश्चात् प्रो० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने अपना भाषण देते हुए कहा कि संस्कृति का अर्थ संस्कार है। वह ईंट-पत्थर का नहीं होता। वह व्यक्ति का होता है। व्यक्ति को जो संस्कार निराकुल बना सकें, तथा जो समाज का निर्माण कर सकें और विश्वशान्ति के लक्ष्य तक पहुँचा सकें, ऐसे संस्कार संस्कृति में समाहित होते हैं। समाज के निर्माण के लिए पूर्व युग से लेकर आज तक अनेक ऋषि महर्षि-महापुरुषों आदि ने प्रयोग किये। आज हमारी मानवता विकसित है। देश-काल के बंधन से मुक्त होकर हम ऐसे आसन पर आसीन हैं जहाँ हम आशा करते हैं कि स्वस्थ परम्परा का निर्माण हो। वैदिक-बौद्ध और जैन इन तीन सांस्कृतिक परम्पराओं की जो शक्ति विद्यमान है उसके द्वारा हम इतनी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं कि अंधकार में भटकते हुओं को प्रकाश दे सकें।

भाषा का ही प्रश्न आप ले लें—हिन्दी जो आज अपना रूप ग्रहण कर पाई है, उसको पाने के लिए उसने वैदिक काल से आज तक कितने रास्ते तय किए हैं; कितने शब्द और कितने रूप उसने ग्रहण किए—यह आज वर्णन का विषय नहीं। विचार, भाषा और विश्वास की परम्परा से उसने रूप ग्रहण किया। अनेक प्रकार के रूपों की अविच्छिन्न धारा से वह इस रूप में हमारे समक्ष आई। उसकी साधना का निचोड़ उसमें जुड़ा हुआ है। नेतृवर्ग की भी आज यही आकांक्षा है कि उसमें युग के अनुरूप प्रेरणा दें। जैसा कि तेजपुंज उसे पूर्वयुग से मिलता रहा है—उसी प्रकार के तेज, आचार और विश्वास की परम्परा हमें चलानी है, जिससे स्वस्थ मानवता का निर्माण हो सके और आज के युग की जो समस्याएँ हैं उनमें हम रास्ता पा सकें। इसके लिए हमें प्राचीन साहित्य धारा की छानबीन करने की आवश्यकता है। पूर्व ग्रहों से ऊपर उठकर सत्य तक पहुँचने वाले व्यक्ति विरले होते हैं। भले ही उन्हें कितनी आपत्तियाँ-विपत्तियाँ-कण्टक क्यों न सहने पड़ें लेकिन वे सतत सत्यशोध में ही प्रयत्नशील रहते हैं। इसी प्रकार की समस्याऐं हमेशा रही हैं। हम पूर्व परम्पराओं को अपना दीपक बनाकर नवनिर्माण में योग देंगे तभी हम

जीवन में सफल होंगे। इसी दृष्टि को अपनाकर साहित्य की खोज में भी सफल होंगे। मुझे प्रसन्नता है कि विद्याश्रम अपनी दृष्टि से उस खोज में प्रयत्न कर रहा है।

इसके बाद पं० फूलचंद जी ने अपने भाषण में कहा कि जब भी कोई विचार सामने आता है तो वह जनता में प्रचारित होता है और बाद में उस पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। प्राचीन साहित्य की ओर आज जनता की रुचि पैदा करना, उसकी धारा में अधिक से अधिक जिज्ञासा की वृत्ति उकसाना आज का सामाजिक कर्तव्य है। आज अनेक प्रकार के संक्रमण काल में से हम गुजर रहे हैं। उनमें हम संसार को क्या दे सकते हैं—यह विचारणीय है। हम पुराने जमाने पर दृष्टिपात करें तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श ही दिखाई पड़ता था। गाँधी जी ने जो अहिंसा-धारा प्रवाहित की उसमें उन्होंने विचार और आचार को प्रधानता दी। उसका आधार आज भारत की ही नहीं विश्व की समस्याओं को देखने का एक सूत्र बन गया है। उसी के बल पर विश्व में भारत को आज आदरणीय स्थान प्राप्त हो रहा है। उसे देखकर विश्व चकित है। यह प्रसन्नता की बात है कि डा० हीरालाल जी आज हमारे नजदीक आ गए हैं। उन्होंने एक नए प्रतिष्ठान की ओर अपनी साधना का लक्ष्य मोड़ा है, यह हमारे लिए भावी आशा का सूचक है।

पं० कैलाशचंद जी ने अपने भाषण में विद्याश्रम की विभिन्न प्रवृत्तियों के संचालन का स्वागत करते हुए कहा कि—भारतीय संस्कृति एक समुद्र है। इसकी मुख्य रूप से तीन धाराएँ हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन। गतानुगतिकता जिस प्रकार आचार में चलती हैं वही विचार में भी चलती है। हमारी भारत की विचारधाराओं का पथ प्रदर्शन प्रायः विदेशी करते रहे हैं। उनके परिचय में पहले वैदिक, बाद में बौद्ध और अंत में जैन साहित्य आया। उन्होंने उसी के अनुसार उसका क्रम किया। हमें डा० हर्मन जैकोबी को धन्यवाद देना चाहिए जिनके प्रयत्न से इस भूल का निराकरण हुआ। इस विचार सरणी को एक बार फिर नए सिरे से अध्ययन करने की आवश्यकता महसूस हुई। आज वह समय आ गया है जब उपनिषदों को नए दृष्टिकोणों से अध्ययन करने की आवश्यकता है। आज वैशाली प्रतिष्ठान स्थापित हो गया है। उससे प्राचीन साहित्य का निर्माण होगा और प्राच्य विद्याविशारद निकलेंगे। पार्श्वनाथ विद्याश्रम से भी हमें बड़ी आशाएँ हैं। अभी तक जो कार्य इस दिशा में विद्याश्रम ने किया है, उसमें मुनि कृष्णचन्द्राचार्य जी, प्रो० दलसुखभाई जी तथा ला० हरजसराय जी का बड़ा हाथ है।

श्री कैलाशचन्द जी के भाषण के पश्चात श्री मोहनलाल मेहता का डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के उपलक्ष्य में सम्मान किया गया।

श्री दलसुखभाई मालवणिया ने बताया कि मेहता जी को मैंने हमेशा ही व्युत्पन्न तथा लगनशील छात्र के रूप में पाया है। मैंने जो भी काम मेहता जी को सौंपा—चाहे वह खोजपूर्ण सामग्री का ही क्यों न हो—मेहता जी ने उसे बड़ी लगन और निष्ठापूर्वक सम्पन्न किया।

डॉ० चन्द्रधर शर्मा ने कहा कि मेहता जी ने अपना महानिबन्ध बड़ी लगन से पूरा किया और परीक्षक तथा निर्देशक के नाते मैं यह कह सकता हूं कि जैन मनोविज्ञान के रूप में वह निबन्ध प्रामाणिक है।

इसके बाद डा० हीरालाल जी ने अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए कहा कि विद्याश्रम के कार्यक्रम में भाग लेने का यह मेरा पहला अवसर है। किसी संस्था के लिए कोई प्रमाण-पत्र यह होता है कि उसकी जानकारी अधिक से अधिक उसके कार्य के रूप में हो। और मुझे यह बड़े हर्ष के साथ कहना पड़ता है कि गत १५-१६ वर्ष से विद्याश्रम के कार्य से परोक्ष रूप से जो अनुभव प्राप्त करता रहा हूँ, उससे उत्पन्न साहित्य का अवलोकन करता रहा हूँ, उसने मुझे बड़ा प्रभावित किया है। यहाँ के संचालकों के प्रयास से ही यह सब हो सका है। विद्याश्रम ने जो कार्य कर दिखाया है वह भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए बड़े ही गौरव की वस्तु है। यहां से रिसर्च करके जो विद्यार्थी बाहर गये हैं, उनकी कृतियों को मैंने देखा है। मैंने भी परीक्षक के रूप में मेहता जी का महानिबन्ध देखा है। मैं कह सकता हूं कि वह बड़ी ही लगन और अध्यवसाय से लिखा गया महानिबन्ध है, इसलिए मैं भी मेहता जी का अभिनन्दन करता हूं। विद्याश्रम के भावी विकास के लिए संयोजक और मंत्री जी कटिबद्ध हैं। जिस युग में से हम गुजर रहे हैं वह इतिहास में अद्वितीय है। जो क्रांतिकाल हमें देखने को मिल रहा है, वह शताब्दियों बाद ही क्वचित् देखने को मिलता है। उस क्रान्ति के अनुकूल हमें अपने जीवन-अध्ययन में अनेक परिवर्तन करने हैं। जो क्रान्ति के केवल एक अंग को ही देख रहे हैं वे सच्चे स्वातंत्र्य का लाभ उठाने से वंचित रहेंगे। जितनी संस्थाएँ हैं—जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब पूर्णता लिये हुए हैं। आज नई दृष्टि, नया युग संसार के समक्ष उपस्थित है। हमारे समक्ष एक क्रान्ति उपस्थित है।

धर्म के क्षेत्र में हमारा जोर हमेशा ही परलोक पर रहा है। इहलोक को हम साधन मात्र ही समझते रहे हैं। इस अतिरेक के कारण इहलोक के साधन की हमने सदा अवहेलना ही की है। आज का युग पुकार-पुकार कर कह रहा है कि आज के युग का लक्ष्य इहलोक होना चाहिए। किस प्रकार हम अपने को तथा दूसरे को सुखी और उन्नतिशील बना सकते हैं—इस दृष्टि की आवश्यकता है। उस दृष्टि से मंथन कर उससे सार निकालने की आवश्यकता है।

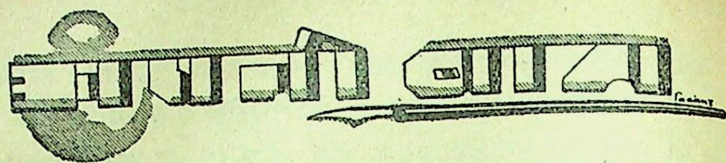
आज भी ऐसी अप्रकाशित सामग्री–ग्रन्थ आदि पड़े हुए हैं जिनके अध्ययन-अन्वेषण करने पर अनेक थीसिसें तैयार हो सकती हैं। ज्यों-ज्यों भण्डारों की खोज होती जाती है—त्यों-त्यों हमें प्रतीत होता है कि कितनी बड़ी ज्ञानराशि पड़ी है। उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि हमने जो कार्य अभी किया है वह उसके समक्ष नगण्य है। दिगम्बर–श्वेताम्बर का आधार लेकर साहित्य का वर्गीकरण न उचित है और न आवश्यक ही है। अब तो हमें भारतीय साहित्य और भारतीय चिन्तन धाराएँ मानकर ही चलना होगा। तभी हमारा साहित्य पूर्ण और विकासशील हो सकेगा।

यह सचमुच बड़े ही गौरव की बात है कि शताब्दियों बाद ऐसा अवसर आया है कि सरकार की ओर से साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए वैशाली में जैन प्रतिष्ठान के निर्माण का प्रयत्न चल रहा है।

आज भारतीय संस्कृति का संदेश सुनाने के लिए दरवाजे खुले हैं। संसार आप पर आशा से टकटकी लगाए हुए है। प्रवृत्तिमार्ग की धाराएँ प्रायः थकित हो गई हैं। भारत उनमें आशा का संचार कर रहा है। श्रमण संस्कृति की मान्यताएँ पंचशील में समा ली गई हैं। जो सन्देश युगों पूर्व भारत के महापुरुषों ने दिये उनका समावेश पंचशील में पूर्णरूप से विद्यमान है। इन सब सांस्कृतिक धाराओं से देश की नई पीढ़ी अधिक से अधिक लाभ ले सके—यही आशा है। इससे देश की सांस्कृतिक-सामाजिक परम्परा को बड़ा लाभ होगा।

आज सहयोग की आवश्यकता है। साहित्य में भी वही विभिन्नता देखकर तो बड़ा दुख होता है। बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि मौलिक ग्रन्थ तो प्रायः अप्राप्य ही हैं। यह बड़ी कठिन समस्या है। इस कमी को दूर करने के लिए संस्थाओं की आवश्यकता है किन्तु इन सब कार्यों में सहयोग

[शेष पृष्ठ ८८ पर]



भगवान महावीर और भारत सरकार

आज अहिंसा और शान्ति की नीति के कारण भारत का जो मस्तक ऊँचा हुआ है, प्रत्येक भारतीय इस का जो गौरव भी अनुभव कर रहा है; यही नहीं, इस परमाणु युग में मानव जाति की रक्षा का यदि कोई उपाय दिख रहा है, तो यह सब किस की देन है ? कह सकते हैं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की। पर इतिहास बतला रहा है कि आज से २५०० वर्ष पहले अहिंसा की कठोर साधना करने वाले, अपने जीवन में उसे पूर्ण रूप से उतारने वाले भगवान महावीर न होते, तो महात्मा गांधी भी शायद न होते, भारत का इतिहास भी आज दूसरा ही होता। इसमें संदेह नहीं, व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा को पूर्ण रूप से उतारने वाले और असंदिग्ध रूप से इसकी स्थापना करने वाले महावीर से बढ़कर दूसरा कोई महापुरुष नहीं हुआ। महावीर जीवन की आज जो थोड़ी बहुत रूपरेखा मिल रही है, तथा उनके नाम का जो साहित्य है, उसे पढ़-सुन कर कोई भी इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता। महात्मा बुद्ध और महात्मा ईसा जैसे दूसरे महापुरुष भी हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा की आदर्श रूप में साधना की है, किन्तु उनकी अहिंसा मानव समाज तक ही सीमित है, जब कि महावीर की अहिंसा के क्षेत्र के बाहर कोई प्राणी नहीं रहता। आश्चर्य तब होता है, जब कि महावीर के जीवन में उस अहिंसा को पूर्ण रूप से उतरा हुआ पाते हैं। और उन्हें पूर्ण आत्मविश्वास के साथ यह कहते हुए पाते हैं—

किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव, किसी सत्त्व को न मारना चाहिए, न सताना चाहिए, न कैद करना चाहिए, न कष्ट पहुँचाना चाहिए, न डराना ही चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है, अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संसार का स्वरूप समझ कर बताया गया है।

इसके साथ ही हम उन्हें यह भी कहते हुए पाते हैं—

जितने भी अर्हन्त पहले हो चुके हैं, वर्तमान में विद्यमान हैं और भविष्य में होंगे, सभी इस बात को कहते हैं, घोषणा करते हैं, बतलाते हैं एवं समझाते हैं। (आचारांग)

सचमुच महावीर ने अहिंसा को जिस निश्चय के साथ मानव जाति के सामने रखा है, वह दूसरी जगह कहीं नहीं मिलता। हम यह मानते हैं कि राजनीति में अहिंसा महात्मा गांधी की बिलकुल नई देन है, जो इतिहास में पहले कहीं नहीं मिलती। फिर भी जिस रूप में प्राणिमात्र के लिए अहिंसा की स्थापना महावीर ने की है, वह अद्भुत है। महात्मा गांधी की राजनीतिक अहिंसा का यह परिणाम हुआ है कि उसके चरण कदमों पर चलने वाली भारत सरकार आज करोड़ों रुपये का नुक्सान उठाकर भी मद्य निषेध के लिए कटिबद्ध है, क्योंकि राष्ट्रपिता ने मद्यनिषेध के लिए इतना अधिक जोर दिया है कि किसी शंकाशील के लिए भी गुंजाइश नहीं छोड़ी। इसके विपरीत वही हमारी सरकार पौंड के लालच में आकर लाखों जीवित बंदरों तथा दूसरे जानवरों का निर्यात कर रही है। उनकी करुण पुकार से भी सरकार का हृदय नहीं पसीजता। इतना ही नहीं, अब तो पशुओं के लाखों मन मांस का व्यापार भी शुरू कर दिया है। हमारी सरकार से कोई पूछे कि जो सरकार मद्यनिषेध के लिए करोड़ों रुपये का नुक्सान उठाने को तैयार है, भला, वह जीवित प्राणियों तथा उनके मांस का निर्यात करके पौंड का लालच क्यों कर रही है। क्या राष्ट्रपिता की अहिंसा का सरकार की इस नीति से कहीं मेल बैठ सकता है ? क्या इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपिता ने मद्यनिषेध पर जितना जोर दिया है उतना मूक प्राणियों की रक्षा पर नहीं दिया है। अहिंसा और शान्ति का दावा रखने वाली भारत सरकार के हृदय में क्या इन मूक प्राणियों के लिए कहीं स्थान नहीं है ? हमें लग रहा है कि महावीर की अहिंसा अभी बहुत दूर है। उसे लाने के लिए किसी दूसरे गांधी की फिर से जरूरत पड़ेगी। यह विश्व तो तभी स्वर्ग बन सकेगा, जब यह प्राणीमात्र के लिए सचमुच स्वर्ग बन जाएगा। इसके लिए साधना, धैर्य और प्रयत्न की और भी आवश्यकता है। अभी तो हम अपनी सरकार को यह भी नहीं जँचा सके कि अहिंसा के इतिहास में महावीर का स्थान सबसे बढ़कर क्यों है। यह देख कर तो और भी खेद होता है कि भारत सरकार दूसरे सभी महापुरुषों के लिए—जो न तो भारत में पैदा ही हुए हैं और न उन्होंने इसके लिए कुछ किया ही है, कुछ किया है, तो इतना ही कि उनके नाम पर यह सदियों तक दास बनाया गया, पीड़ित हुआ; फिर भी हमारी कृतज्ञ सरकार उनका आदर करने के लिए जन्मादि की खुशी में छुट्टियाँ रखती हैं। पर जिस महावीर की अहिंसा ने राष्ट्रपिता को पैदा किया, जिस अहिंसा और शान्ति के

नाम पर भारत का नाम ऊँचा हुआ, उसी महावीर की याद में एक दिन की छुट्टी रखने के लिए भी वह कृपण है। एक दिन की छुट्टी के लिए हमारा बहुत बड़ा आग्रह नहीं है, हम तो इतना ही चाहते हैं कि महावीर के जन्म-दिवस की खुशी में उस दिन सारे भारत में हिंसा अवश्य बन्द रहे, किसी भी जीवित प्राणी को मौत के घाट न उतारा जाए, महावीर का इससे बढ़कर दूसरा आदर व सम्मान नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि वर्तमान जैन समाज को भी इस बात से जितना हर्ष व संतोष होगा, उतना शायद एक दिन का अवकाश रखने से भी नहीं हो सकता। महावीर को समझने वाले के लिए इस बात का कोई बड़ा महत्व नहीं है कि दूसरे महापुरुषों के लिए सरकार अवकाश रखती है, तो महावीर के जन्मदिन के उपलक्ष में भी अवकाश होना ही चाहिए। महावीर का जन्मदिन सारे भारत में 'अभय दिवस' घोषित हो, यही हमारी हार्दिक इच्छा है।

—कृष्णचन्द्राचार्य

[पृष्ठ ८५ से आगे]

की बड़ी आवश्यकता है ताकि शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सके। संस्थाओं को भी परिपूर्ण और परिपुष्ट बनने के लिए सहयोग की भावना रखनी होगी। कोई भी काम संकुचित दायरे में कभी पूर्ण नहीं हो सकता।

अध्यक्षीय भाषण के पश्चात श्री मोहनलाल मेहता ने, अपने अध्ययन काल में विद्याश्रम तथा मालवणिया जी आदि ने जो मूर्तरूप से सहयोग, सहायता, कृपा रखी, उसके प्रति तथा उनके अभिनन्दन के प्रति आभार प्रदर्शन किया।

श्री मुनि कृष्णचन्द्राचार्य जी ने समस्त आगत अतिथियों तथा अध्यक्ष डा० हीरालाल जी आदि का आभार माना और कहा कि विद्याश्रम प्रत्येक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में सदैव सहयोग की भावना रखता है और भविष्य में भी रखेगा।

जलपान और ग्रूपफोटो के अनन्तर कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

—श्री रतनचन्द जैन 'पहाड़ी'

श्री सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर के
सांस्कृतिक अनुष्ठान

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस की

विकास कथा

१.	श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति की स्थापना सन्	१९३६
२.	श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम का उद्घाटन	जुलाई १९३७
३.	शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय का प्रारम्भ	जुलाई १९३८
४.	प्रथम शास्त्री, श्री कृष्णचन्द्र	मई १९३९
५.	प्रथम एम०ए०, श्री रत्नचन्द्र जैन	मई १९४०
६.	प्रथम आचार्य, श्री कृष्णचन्द्र	मई १९४३
७.	रिसर्च कार्य का प्रारम्भ	जुलाई १९४८
८.	'श्रमण' (मासिक पत्र) का प्रारम्भ	नवम्बर १९४९
९.	प्रथम डॉ० (Ph.D.) श्री इन्द्रचन्द्र एम०ए०	दिसम्बर १९५२
१०.	जैन साहित्य निर्माण योजना का प्रारम्भ	जनवरी १९५३
११.	प्रथम व्याख्यान माला—डॉ० प्रबोध पंडित	सितम्बर १९५३
१२.	विद्वन्मण्डल का प्रथम अधिवेशन (अहमदाबाद में)	अक्तूबर १९५३

जैन साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में

विद्वानोंके प्रेरक वाक्य

जैन साहित्य के इतिहास की बिछुड़ी हुई धारा को इस योजना द्वारा भारतीय साहित्य के इतिहास की महाधारा के साथ मिलने का पहली बार शुभ-अवसर प्राप्त होगा।

—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

जिस प्रजा का इतिहास नहीं है, वह सत्य को नहीं समझ सकती।

—मुनि श्री पुण्यविजय जी

यह कार्य करना है।

—पं० श्री सुखलाल जी

इतिहास एक विज्ञान है। सत्य की जो अनवरत धारा बह रही है, उसमें जो शृङ्खला है, उसी का नाम इतिहास है।

—डा० मोतीचन्द जी

जैन भंडारों में विशाल सामग्री भरी पड़ी है। उसको प्रकाश में लाना आवश्यक है।

—श्री अगरचन्द नाहटा

जब तक जैन साहित्य का अनुशीलन नहीं होता, भारतीय इतिहास अधूरा रहेगा।

—डा० ए० एन० उपाध्ये

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए
श्रीरामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
बनारस—५ में मुद्रित।

श्रमण

वर्ष ७ | सम्पादक पं० कृष्णचन्द्राचार्य, महेन्द्र राजा एम.ए. | अंक ६

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में

'श्रमण' के विषय में

१. 'श्रमण' प्रत्येक अंगरेजी महीने के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. ग्राहक पूरे वर्ष के लिए बनाए जाते हैं।
३. 'श्रमण' में सांप्रदायिक कदाग्रह को स्थान नहीं दिया जाता।
४. विज्ञापनों के लिए व्यवस्थापक से पत्र व्यवहार करें।
५. पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।
६. वार्षिक मूल्य मनिआर्डर से भेजना ठीक होगा।
७. समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आनी चाहिए।
८. सामयिक लेख आदि प्रत्येक मास की १५ ता० तक मिलने पर ही समय पर प्रकाशित हो सकेंगे। अन्य पत्रों में प्रकाशित या प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ 'श्रमण' के लिए न भेजें।

वार्षिक मूल्य ४)　　　　एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य

अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ जुलाई १९५६ अंक ९

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङ्मय का स्वाध्याय—

(गतांक से आगे)

—३१—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी ॥

—३१—

सुन करके यह नमि का उत्तर
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ॥

—३२—

जे केइ पत्थिवा तुज्झं
नानमन्ति नराहिवा !
वसे ते ठावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ॥

—३२—

जो भी राजा आज्ञा तेरी
नहीं मानते उनको नृपवर !
वश में लाकर फिर था जाना
सब कुछ तजकर वन के अंदर ॥

—३३—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी ॥

—३३—

सुन करके इस इन्द्र प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ॥

—३४—

जो सहस्सं सहस्साणं
संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं
एस से परमो जओ ॥

—३४—

युद्ध-भूमि में जो जय पाता
दशलक्षी दुर्जय रिपु दल पर ।
इससे उत्तम आत्मविजय है
यही विजय है परम शिवंकर ॥

सकता है, जब कि मैं जीवित हूं। प्रसेनजित् प्रभावती का विवाह मेरे होते हुए पार्श्व से कैसे कर सकता है।" तुरन्त ही वह एक विशाल सेना लेकर कुशस्थलपुर की ओर रवाना हुआ। जब यह समाचार महाराज प्रसेनजित् तक पहुंचा तो वे घबरा उठे और फौरन ही काशी नरेश अश्वसेन के पास सहायतार्थ संदेश भेजा। महाराज अश्वसेन ने राजकुमार पार्श्व को सेना के साथ प्रसेनजित् की सहायता करने के लिए भेजा। कुशस्थलपुर में पार्श्व की उपस्थिति की सूचना मिलने पर कलिंग यवन ने युद्ध करने का इरादा बदल दिया और अपनी राजधानी को वापिस लौट गया।"

इसके बाद फिर से एक बार २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के समय में कलिंग का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ ४९५) से विदित होता है कि भगवान् महावीर गृह त्याग के पश्चात् ११ वें वर्ष में विचरण करते हुए सावत्थी से सनुलट्ठियगाम और वहां से दढ़भूमि में आए, जो कि एक म्लेच्छ प्रदेश था। इतिहासकारों के मतानुसार दढ़भूमि वर्तमान दलभूम है जो कि सिंहभूम जिले में स्थित है। वहाँ से वे पेढ़ालगाम गए और उस ग्राम में पोलास मंदिर के पास स्थित पेढ़ाल के उद्यान में ध्यान लगाकर खड़े हुए। इस स्थान पर उनको अनेक कष्ट उठाने पड़े। यहाँ से भगवान बालुयगाम सुभोम, (सुहुम) सुच्छेत्ता, मलयग्राम व हत्थसीस में घूमते हुए गए। 'नाय-धम्म कहा' के अनुसार हत्थसीस इन दिनों व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र था; और यहाँ के बहुत से व्यापारी व्यापारार्थ कलिंग द्वीप होते हुए जावा, सुमात्रा आदि समुद्र द्वारा जाते थे। ऊपर लिखित सभी स्थानों पर भगवान ने असीम कष्ट सहन किए। फिर वे तोसली (उड़ीसा में भुवनेश्वर नगर के पास) आए। जहाँ पर उनको चोर व भेदिया समझकर बहुत दुख दिये गए। वहाँ से वे मोसली गए। वहाँ पर भी उनको चोर समझ बन्दी बना लिया गया और स्थानीय राजा के दरबार में ले जाया गया। पर वे छोड़ दिये गए; क्योंकि वहाँ का राजा भगवान श्री के पिता का मित्र था। मोसली से लौट कर भगवान एक बार फिर तोसली वापिस आए। यहाँ पर भी उनको अनेक यातनाएं पहुँचाई गईं। यहाँ तक कि एक बार उनको फाँसी तक दी जाने वाली थी। परन्तु कुछ क्षत्रियों के समय पर पहुँच जाने से उन को बचा लिया गया। उसके पश्चात् वे सिद्धत्थपुर गए।

विख्यात जैन ग्रन्थ बृहत्कल्प सूत्र में वर्णित है कि भगवान महावीर ने जब साकेत प्रदेश में सुभूमि भाग उद्यान में निवास किया तब उन्होंने कुछ

बातों की घोषणा की। जिसके अनुसार जैन साधु और साध्वी धर्म प्रचार हेतु पूर्व में अंग मगध तक और उत्तर में कुणाल तक भ्रमण कर सकते थे। (बृहत्कल्प, उद्दे० १, सू० ५० व निशीथ चूर्णि उद्दे० १६, पृष्ठ ११११)। कुछ समय पश्चात् राजा सम्प्रति ने—जो कि महाराज अशोक के पौत्र थे और जो जैन धर्म के महान अनुयायी थे, दूसरे देश भी साधुओं के धर्म प्रचार हेतु सम्मिलित किये और साढ़े पचीस देशों का उल्लेख किया।

जम्बूद्वीप पण्णत्ति में (२०, पृ. १०,) कलिंग देश को भी साढ़े पचीस आर्य देशों में सम्मिलित किया है। जहां पर कि जैन साधु धर्म प्रचार हेतु भ्रमण कर सकते थे। परन्तु कलिंग प्रदेश का उल्लेख द्रविड़ और वंग प्रदेशों के साथ किया गया है। इन दो बातों को देखते हुए निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कलिंग देश के वासी आर्य थे अथवा द्रविड़।

ओघ निर्युक्ति भाष्य (३०, २०) के अनुसार कंचनपुर नगरी उन दिनों कलिंग प्रदेश की राजधानी थी। वसुदेव हिण्डी के अनुसार यह नगर व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र था और यहां और लंका देश में व्यापारी आते-जाते थे। उन दिनों कलिंग के नरेश का नाम करकंडु लिखा है। यह करकंडु नाम ही उस राजा के द्रविड़ होने का संकेत करता है। इसी तरह जैन ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार दन्तपुर को कलिंग देश की राजधानी कहा गया है। इस नगर का बौद्ध साहित्य में अनेक बार उल्लेख मिलता है। वहां पर कलिंग राज का नाम दन्तवक्क आता है। फ्रान्सीसी इतिहासकार सिलवन लेवी के मतानुसार प्राचीन दन्तपुर यूनानी यात्री व लेखक टोलमी द्वारा निर्देशित पोलूर (Poloura) था, जो कि दक्षिण पूर्व में आधुनिक चिकाकोल के पास था।

राजा करकंडु के बारे में निम्नलिखित कथा का उल्लेख आवश्यक चूर्णि में मिलता है। एक बार चम्पानगरी में राजा दधिवाहन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। जिस समय वह गर्भवती थी तब वह एक बार राजा के साथ हाथी पर चढ़ कर जंगल में क्रीड़ा हेतु गई। वहां पर उनका हाथी कुछ कारणवश बेकाबू होकर घने जंगल की ओर भाग गया। राजा दधिवाहन ने किसी प्रकार वटवृक्ष की एक शाखा को पकड़ कर अपनी जान बचाई। परन्तु वह हाथी रानी को ले बहुत दूर निकल गया। उधर रानी दन्तपुर नामक नगर में पहुंची और वहां पर जैन भिक्षुणियों के समूह में सम्मिलित हो गई। कुछ समय बाद उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका

नाम करकन्डु रखा गया। विधियोग से वह कंचनपुर का राजा बना। कुछ समय पश्चात् करकंडु ने संभवतः अपने राज्य को विस्तृत करने के लिए चम्पा नगरी पर, यह न जानते हुए कि वहां उसके पिता का राज्य है, आक्रमण किया। ठीक इसी समय साध्वी पद्मावती युद्धस्थल पर पहुंची और पिता-पुत्र का परिचय करा दिया। इस प्रकार भीषण रक्तपात होने से बच गया। इसके पश्चात् राजा दधिवाहन ने राज्य अपने पुत्र को सौंप साधु संघ में प्रवेश किया।

जैन ग्रन्थों में उपरोक्त कथा से उस समय के प्रादेशिक राजनैतिक इतिहास के बारे में हमें ज्ञान प्राप्त अवश्य होता है, परन्तु यह सोचना कि चम्पा राज्य कलिंग राज्य में किसी समय भी सम्मिलित हो गया होगा, ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अन्य बौद्ध व ब्राह्मण साहित्य से इस घटना की पुष्टि नहीं होती।

जैन ग्रन्थों में तोसली का भी कई स्थानों पर जैनों के केन्द्र होने का उल्लेख मिलता है। व्यवहार भाष्य (उ० ६, पृ० ११५) के अनुसार यहाँ पर भगवान जिन की एक बहुत ही विशाल प्रतिमा थी, जिसकी स्थानीय राजा तोसलिक द्वारा रक्षा की जाती थी। भगवान महावीर, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, यहाँ पर हत्थसीस से पधारे और मोसली के लिए रवाना हो गए। फिर से वे तोसली लौट कर आए और वहाँ से सिद्धत्थपुर के लिए रवाना हुए। जहाँ पर कि उनको अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ीं।

तोसली का वर्णन कोंकण के साथ भी आता है। यहां के निवासी फल व शाक खाने के बहुत शौकीन थे। यहां तक कि वहां पर फल व फूल बेच कर ही अधिक व्यक्तियों का जीवन निर्वाह होता था। इस देश में जल पर्याप्त था। और यहां पर कृषि वर्षा न होने पर नदियों द्वारा की जाती थी। कभी-कभी अधिक वर्षा के कारण कृषि को अधिक हानि पहुँच जाती थी। इसलिए इस देश में स्थित जैन साधुओं को खजूर पर निर्वाह करने की भी अनुमति थी। तोसली में भैंसों की बहुतायत का भी उल्लेख मिलता है, जो कि अपने सींगों से चलते-फिरतों पर आक्रमण कर दिया करती थीं। आचार्य तोसली की मृत्यु भी एक भैंस द्वारा ही हुई थी। यह प्रदेश झीलों के लिए बहुत विख्यात था। श्री सिलवन लेवी ने तोसली का आधुनिक धौली से समीकरण किया है, जो कि भुवनेश्वर नगर के समीप ही स्थित है।



तथागत

निम्न कविता राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने गत २४ मई को महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण की ढ़ाई हजारवीं पुण्य-तिथि के अवसर पर एक समारोह में पढ़ी, जिसका आयोजन ढाई हजारवीं बुद्ध जयन्ती की कार्यकारिणी समिति ने नयी दिल्ली के रामलीला मैदान में किया था।

रसना-लोलुप मनुज हिंस्र पशु हो उठा
यज्ञ पुरुष भी उसे देखकर रो उठा !
वे ही आंसू, देव ! तुम्हारे रूप में
उद्धारक बन मिले हमें भव-कूप में।

राजभवन धन-धान्य और जन से भरा
राहुल-सा शिशु पुत्र, कलत्र यशोधरा।
हाय ! हमारे हेतु क्या न तुमने तजा
किसमें ऐसा विश्व-वेदना स्वर बजा ?

देख सके तुम हमें न आधि-व्याधि में
यह कहकर रत हुए अखण्ड समाधि में—
'सूख जाय यह काय, न आसन से हिले
मुझे न जब तक सर्वमुक्ति दर्शन मिले।'

आकर दिये अनेक लोभ भय 'मार' ने
छू पाया क्या तुम्हें परन्तु विकार ने ?
कर-सर पर पुरुषार्थ तुम्हारा तुल गया
तभी उठे तुम, सब रहस्य जब खुल गया।

तन पर केवल एक गेरुआ वस्त्र था
एकाकी थे, पास न कोई शस्त्र था।
तदपि भिक्षु भगवान् जिधर तुम चल पड़े
आ-आकर नत हुए नरेन्द्र बड़े बड़े।

हम क्या करते नहीं आप जिसके लिए
गिनते हैं कब पुण्य-पाप जिसके लिए।
तुमने पाकर त्याग किया उस भोग का
दिया नया उपचार पुराने रोग का।

थल पर-सा चल नदी पार कोई गया
लोग चमत्कृत हुए, तुम्हें आई दया।
'धेले का यह चमत्कार', तुमको जँचा
उतराई का यही नाव-भाड़ा बचा!

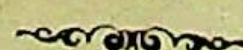
घाव लगा था तुम्हें, लगी सबको व्यथा
पर कुछ भी वैकल्य-भाव तुम में न था
'व्यथा-व्यथा है', सुगत! सहज तुमने कहा
'मानूँ अथवा उसे न, यह मुझ पर रहा!'

ईश्वर हो वा न हो, किन्तु तुम हो, सुनो
पथ अनेक हैं यहां, जिसे चाहो चुनो।
कर्मों की गति सदा सभी के साथ है
भूत गया, भवितव्य तुम्हारे हाथ है।'

नहीं वैर में, वैर शांति है प्रेम में
क्षेम तुम्हारा यहां सभी के क्षेम में।
मैत्री करुणा बिना कहां कल्याण है
जलते हो तुम आप, प्राप्य निर्वाण है।

'बढ़ो भिक्षुओ, भिन्न पथों से लोक में
तड़प रहा जो पड़ा दुःख में, शोक में।
तुम सबका हित और सौख्य साधन करो
एक ओर को गमन एक ही जन करो।'

भय संशय में पड़ा लोक लय पा रहा
अवश मृत्यु के घाट उतरता जा रहा।
देव! दया कर मार्ग दिखाओ फिर उसे
पंचशील की सीख सिखाओ फिर उसे।



तीर्थंकर-वाद

—श्री कस्तूरमल बाँठिया

महावीर का समय

भगवान महावीर और भगवान बुद्ध का हमारे इस आर्यावर्त में उस समय प्रादुर्भाव हुआ था जब कि वैदिकों और वैदिक हिंसा का बोलबाला था। वर्णभेद भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। वेदों को अपौरुषेय माना जाता था और इसलिए वेद वचन बिना ननु-नच के माने और पालन किये जाते थे। श्रद्धा विवेक-हीन अंध हो चली थी। यज्ञ-यागों की पुष्टि अवतार-वाद में भी उसी दृढ़ता से की जाती थी कि जिसका प्रादुर्भाव महाभारत काल में हो गया था।

महावीर के पहले पार्श्वनाथ इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रबल लोकमत जागृत करने में सफल हो गए थे। परन्तु उनके निर्वाण के ढाई सौ वर्ष में ही उनका संदेश लोग भुलाते जा रहे थे। पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय में जन्म लेकर महावीर ने उसी संदेश को कुछ कुछ नए याने संस्कृत रूप में लोगों के समक्ष पेश किया। उनका संदेश लोग सुनें, इसके लिए यह आवश्यक था कि वे अपने को तीर्थंकर घोषित करें ताकि उनके शब्दों के प्रति लोगों में श्रद्धा हो। परन्तु उन्होंने सदा ही अंध-श्रद्धा को बुरा कहा। स्वयं अपने वचन तक को विवेक की कसौटी पर कसने से वे कभी नहीं हिचकिचाए।

आज हम जन्म से जैनी हैं, इसलिए उनके तीर्थंकरवाद का महत्व बराबर नहीं समझते हैं। यही क्यों, हम महावीर को मानव कोटि में या मान-वता की सामान्य भूमिका को पुरुषार्थ बल से अतिक्रान्त करने वाले महामानव रूप में नहीं देख कर, बल्कि मानवातीत, चमत्कारिक एवं पूजनीय मात्र देख रहे हैं। इसलिए न तो हम महावीर का जीवन जीने का, और न उनके आध्यात्मिक जीवन के साक्षात्कार का ही कोई प्रयत्न करते हैं और न जिस बात को हमने जैसा समझा और स्वीकार कर लिया है, उसमें कोई विचार या संस्कार करने का अवसर ही देखते हैं।

धर्म-संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे

हम सब गीता के इन श्लोकों से परिचित हैं कि—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।" इस अवतारवाद को चाहे हम नहीं माने, परन्तु यह तो अस्वीकार कदापि नहीं कर सकेंगे कि तीर्थंकरों के अन्तर(बीच के काल)में कालिक श्रुत का विच्छेद नहीं होता। गौतमस्वामी के इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने स्पष्ट ही कहा है कि—"हे गौतम ! २३ जिनान्तरों में पहले और अन्तिम आठ-आठ जिनान्तरों में कालिक श्रुत (आचारांगादि द्वादशांग) का अविच्छेद कहा है, और बीच के सात जिनांतरों में कालिक श्रुतका विच्छेद कहा है। दृष्टिवाद (बारहवें अंग) का विच्छेद तो सभी जिनांतरों में कहा है।" (भगवतीसार पृष्ठ ५६०)

गौतम स्वामी के फिर यह पूछने पर कि जंबूद्वीप के इस भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी में आप देवानुप्रिय का तीर्थ कहां तक टिकेगा ? भगवान ने स्पष्ट ही कहा है कि "हे गौतम ! इक्कीस हजार वर्ष तक टिकेगा।" भगवान से यह पूछने पर कि तीर्थ तीर्थ है या तीर्थंकर, भगवान ने स्पष्ट किया कि "अर्हंत तो अवश्य तीर्थंकर हैं, परंतु चार प्रकार का श्रमण प्रधान संघ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थ रूप है।"

परंतु धर्मतीर्थ प्रवर्तन करने की शक्ति तीर्थंकर ही में होती है, न कि निरे केवलज्ञानी में। गौतम के यह पूछने पर कि 'केवली वगैरह के पास से धर्म सुने बिना कोई जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है क्या ? और ऐसा केवलज्ञानी केवली को धर्म का उपदेश कर सकता है क्या ?' भगवान ने उत्तर दिया कि "केवल-ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय करने वाला जीव केवली वगैरह के पास से धर्म सुने बिना भी केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। और वह मात्र उदाहरण कहता है, अथवा प्रश्न का उत्तर देता है, परन्तु धर्मोपदेश नहीं करता।" ऐसा केवली किसी को दीक्षित भी नहीं करता। वह 'अमुक से दीक्षा लो' इतना भर उपदेश कर सकता है।" (भगवती सार पृष्ठ १४-२१)

इससे स्पष्ट है कि केवली से भी विशिष्ट व्यक्ति तीर्थंकर होता है और वह वही होता है जो तीर्थङ्कर नामकर्म उपार्जित कर लेता है। जिन विशिष्ट गुणों की आराधना से तीर्थंकर नामकर्म होता है उन्हें बीस स्थानक

कहते हैं। यह आराधना भगवान महावीर ने अपने पचीसवें नंदन राजा के भव में की थी। यह आवश्यक नहीं कि सभी बीस स्थानकों की इस पद की प्राप्ति के लिए आराधना की जाए। किसी एक स्थान की आराधना से भी तीर्थंकर पद प्राप्त हो जाता है। महावीर के कथाकारों का कहना है कि भगवान् महावीर ने अपने पचीसवें नंदन राजा के भव में बीसों स्थानकों की ही आराधना कर यह पद प्राप्त किया था। इस तीर्थंकर नामकर्म का बंध होने के बाद तीसरें भव में वह जीव तीर्थंकर रूप से जन्म लेता है। यहाँ उन बीस स्थानकों का संक्षिप्त परिचय दे देना ही पर्याप्त है —

(१) अरिहंत भक्ति—जो कोई अरहंत भगवान अपने समय में विचरते हों, उनकी शुद्ध हृदय से भक्ति करना।

(२) सिद्धभक्ति—अपने पूर्वकर्म बंधनों को नाशकर सिद्धपद को प्राप्त शुद्धात्माओं की भक्ति करना—जैसे उनके गुणों का स्मरण, अनुकरण इत्यादि।

(३) प्रवचन भक्ति—जिनभगवान की आज्ञा का पालन करने के लिए कटिबद्ध होने वाला संघ 'प्रवचन' कहलाता है। बच्चों पर जैसे गाय प्रेम रखती है, वैसे धार्मिक पर निष्काम प्रेम रखना ही प्रवचन भक्ति है।

(४) आचार्य भक्ति—जिसके पास स्वयं ने व्रत और आचार ग्रहण किये हों, दीक्षा ली हो, उस गुणी पुरुष में शुद्ध निष्ठा से अनुराग रखना।

(५) स्थविर भक्ति—धर्म मार्ग में अपने से जो बड़े हों ऐसे साधु जनों की भक्ति रखना।

(६) उपाध्याय भक्ति—शास्त्र ग्रंथों में शंका दूर कर उनका शब्दार्थ ग्रहण कराने वाले शास्त्रज्ञ की भक्ति।

(७) साधुभक्ति—प्रव्रज्या लेकर मोक्षमार्ग में विचरने वाले विवेकी तथा तपस्वी पुरुषों की भक्ति।

(८) ज्ञान—सर्वज्ञ प्ररूपित तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान में सदा जागृत रहना, उन्हें समझने एवं दृढ करने में सतत प्रयत्नशील रहना।

(९) दर्शन—सर्वज्ञ कथित तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ रुचि रखना।

(१०) विनय—ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग्य-रीत्या बहुमान रखना।

(११) चारित्र—चारित्र रूप धर्मों का अनुष्ठान भावपूर्वक करते रहना।

(१२) ब्रह्मचर्य अथवा शीलादि—व्रतों और नियमों के पालन में किंचिन्मात्र भी प्रमाद नहीं करना।

(१३) शुभध्यान—अशुभ ध्यान में से चित्त को विरत कर, शुभ ध्यान में एकाग्र एवं लीन करना।

(१४) तप—वासनाओं को क्षीण करने के लिए आवश्यक आध्यात्मिक बल संग्रह करने में किंचिन्मात्र भी शक्ति छुपाए बिना, एवं मन-इंद्रिय-शरीर को आत्यंतिक हानि न पहुंचे उस रीति से विवेक पूर्वक उसको जिस-जिस तप से तपाया जा सके वैसा बाह्य एवं आभ्यंतर तप करना।

(१५) दान—किंचिन्मात्र भी शक्ति गोपनीय रखे बिना आहार दान, अभयदान आदि दान विवेक पूर्वक करना।

(१६) वैयावृत्त्य—कोई भी गुणी कठिनाई में पड़ जाए तो योग्यरीत्या उसकी कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करना।

(१७) समाधि उत्पादन—मुमुक्षुओं को औषधि आदि सहायता एवं प्रोत्साहन देकर अपने मार्ग में समाहित एवं स्वस्थ करना।

(१८) अभिनव ज्ञान ग्रहण—नए-नए सूत्र और उनके अर्थ का प्रयत्न से ग्रहण करना अथवा ग्रहण किये हुए का चिंतन मननादि से रहस्य विचारना।

(१९) श्रुत भक्ति—श्रुत अर्थात् शास्त्र की भक्ति, उसका बहुमान, उसमें बताए अर्थों का सम्यक् चिंतन, तथा उसका विधि पूर्वक प्रकाशन करना।

(२०) तीर्थ प्रभावना—अभिमान छोड़ कर ज्ञानादि मोक्षमार्ग को जीवन में उतार कर और दूसरों को उसका उपदेश देकर उसका प्रभाव बढ़ाना।

स्थानांग गाथा ६९१ में कहा है कि भगवान महावीर के तीर्थ में नौ जीवों ने तीर्थंकर नाम-गोत्र का बंधन किया था। वे थे—(१) श्रेणिक (राजगृह का राजा), (२) सुपार्श्व (महावीर के काका), (३) उदायी (कोणिक का पुत्र), (४) पोट्टिल अनगार (५) दृढ़ायु, (६) शंख, (७) शतक, (८) सुलसा श्राविका, और (९) रेवती जिसने भगवान महावीर को औषधि दी थी। इस सूची के नामों में से कुछ नाम समवायांग गाथा १५८ में दूसरे ही दिये गए हैं और इनमें से कुछ का परिचय भी कहीं नहीं मिलता है। ये सब अनागत चौबीसी में—जो आगे उत्सर्पिणी के चतुर्थ आरे में होगी, तीर्थंकर होंगे।

अरिहंत, जिन, तीर्थंकर सब एक अर्थ में ही आगमों में प्रयुक्त किये गए हैं। अरिहंतों के जन्म, प्रव्रज्या, ज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण इन चारों ही प्रसंगों पर—(१) देवलोक में प्रकाश होता है, (२) देवता पृथ्वी पर आते हैं, (३) देवों की सभा एकत्रित होती है, (४) देवियां हर्ष से किलकिलाहट करती हैं, (५) देवेन्द्र मनुष्य लोक में आते हैं, (६) सामानिक देव, (७) त्रायस्त्रिंश देव, (८) लोकपाल देव, (९) देवों की पटरानियां, (१०) पारिवारिक देव, (११) सेनापति और (१२) आत्मरक्षक देव मनुष्य लोक में आते हैं, (१३) देव अपने सिंहासनों पर खड़े हो जाते हैं, (१४) देवों के आसन चलित अथवा कंपायमान हो जाते हैं, (१५) देव सिंहनाद करते हैं, (१६) देव चेलोत्क्षेप करते हैं, (१७) देवों के चैत्यवृक्ष चलित हो जाते हैं और (१८) लोकांतिक देव मनुष्य लोक में आते हैं। जब अरिहंत का परिनिर्वाण होता है, अथवा अरिहंत प्रतिपादित धर्म का, पूर्वगत शास्त्र का एवं अग्नि का विच्छेद होता है तो लोकान्धकार व देवान्धकार होता है (स्थानांग गाथा ३२४)

तीर्थंकरों के ३४ अतिशय होते हैं जो इस प्रकार समवायांग सूत्र की गाथा ३४ में गिनाये गए हैं—

(१) उनके मस्तक के बाल, दाढ़ी एवं मूछ, रोम एवं नख बढ़ते नहीं हैं। (२) शरीर निर्मल और नीरोग होता है। (३) गाय के दूध जैसा सफेद मांस और रुधिर होता है। (४) उनका श्वासोच्छ्वास कमल की सुगंध जैसा होता है। (५) आहार एवं निहार आंख से अदृश्य होता है। (६) आकाश में धर्मचक्र रहता है। (७) आकाश में छत्र फैला हुआ रहता है। (८) आकाश में श्वेत चंवर ढुलते हैं। (९) आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक का बना पीठ सहित सिंहासन उनका होता है। (१०) नाना ध्वजाओं से सुशोभित इन्द्रध्वज उनके आगे-आगे चलता है। (११) जहां-जहां अरिहंत बैठते हैं, खड़े रहते हैं, वहां-वहां पत्रों से युक्त और ध्वजाओं से सुशोभित अशोकवृक्ष देव निर्मित करते हैं। (१२) थोड़ा सा पीछे हटकर उनके मस्तक प्रदेश में तेजो मंडल की रचना हो जाती है जो दसों दिशाओं में प्रकाश फैलाती है। (१३) पृथ्वी समतल और रमणीय बन जाती है। (१४) कांटे अधोमुखी हो जाते हैं। (१५) ऋतु सुख स्पर्शी हो जाता है। (१६) शीतल, सुगंध और सुस्पर्शी पवन से सभी दिशाएँ प्रमार्जित हो जाती हैं। (१७) मंद-मंद वर्षा से भूमि की धूल जम जाती है। (१८) जलज और स्थलज

पुष्पों का जानु तक ऊंचा ढेर किया जाता है। (१९) अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का नाश हो जाता है। (२०) मनोज्ञ शब्दादि का प्रादुर्भाव होता है। (२१) भगवान का स्वर हृदयंगम और योजनगामी होता है। (२२) अर्द्धमागधी भाषा में भगवान उपदेश करते हैं। (२३) यह अर्द्ध मागधी भाषा आर्य-अनार्य मनुष्यों को, पशु एवं पक्षियों को अपनी अपनी भाषा रूप में परिणमित होती है और हितकर, सुखकर एवं मोक्षदायी बनती है। (२४) भगवान के पादमूल में बैठकर परस्पर के शत्रु देव-असुर आदि अपनी शत्रुता भुलाकर प्रसन्नचित से उपदेश सुनते हैं। (२५) अन्य तीर्थिक प्रवचनकार भी उनका उपदेश सुनने आते हैं। (२६) अन्यतीर्थिक भगवान के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते हैं। (२७) जहां जहां अर्हंत विचरते हैं, वहां वहां भीति, ईति उपद्रवों का भय नहीं रहता। (२८) महामारी का भय नहीं रहता। (२९) स्वचक्र का भय नहीं रहता। (३०) परचक्र का भय नहीं रहता। (३१) अति वृष्टि नहीं होती। (३२) अनावृष्टि नहीं होती। (३३) दुर्भिक्ष नहीं रहता। (३४) पहले के रोग भी सब शांत हो जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता इन अतिशयों के विषय में सम्पूर्णतया एक मत नहीं और न सब श्वेताम्बर आचार्य ही इनके जन्म-प्रत्यय, कर्मक्षय-प्रत्यय और देवकृत होने के संबन्ध में एकमत हैं। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य तो इनके नामों में भी भेद कर देते हैं। इस वाद-विवाद से यहाँ प्रयोजन नहीं है। स्मरण रखने या जानने की बात यह है कि सारे जैनों में तीर्थंकर के ३४ अतिशयों की मान्यता है। इसके विभाजन का कोई एक निश्चित सिद्धान्त मान्य नहीं है जब कि आगम समवायांग में इनका किसी प्रकार का विभाजन किया ही नहीं गया है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इनका विभाजन पीछे किया गया था।

एक बात और कह देना आवश्यक है कि तीर्थंकर को जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि—ये तीन ज्ञान होते हैं। अवधिज्ञान तब भवप्रत्यय ही होता है। पूर्ण अर्थात् लोकावधि ज्ञान तो पीछे होता है जैसा कि भगवान् महावीर को दीक्षा लेने या अभिनिष्क्रमण से छठे वर्ष में हुआ था। हाँ सभी तीर्थंकरों को अभिनिष्क्रमण करते ही मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है। तीर्थंकर क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के लेशमात्र भी मैल या राग नहीं होता। जहाँ राग या मैल लेशमात्र भी होता है वहाँ क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि ही होती है।

यहाँ यह कहा जासकता है कि हम जैनियों ने अपने तीर्थंकरों में ऐसे अतिशयों, जन्मजात ज्ञान आदि की कल्पना उन्हें बड़ा बनाने के लिए कर ली है। परन्तु बात यह जैनों की ही नहीं है। श्रमण संस्कृति में उस समय महावीर भगवान के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध और आजीविक मती गोशालक भी प्रसिद्ध थे। वे सभी अर्हंत कहलाते थे। आजीविकों के शास्त्र आज उपलब्ध नहीं है। परंतु बौद्ध पिटकों से तीर्थंकर की मान्यता बौद्धों में भी प्रमाणित होती है। अनुत्तर निकाय में भगवान बुद्ध उन सात तीर्थंकरों के नाम गिनाते हैं जो भूतकाल में हो गए थे और उनके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार जैनों में तीर्थंकर होने वाले को बीस स्थान की आराधना अनिवार्य कही गई है उसी प्रकार बौद्धों में बुद्ध होने वाले के लिए दश पारमिता की साधना अनिवार्य कही गई है। दश पारमिताएँ ये हैं—दान, शील, नैष्कर्म्य (वैराग्य) प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान (अडिगता) मैत्री और उपेक्षा। बोधिसत्व ने ये पारमिताएँ पृथक्-पृथक् जन्मों में अथवा प्रसंगों में किस-किस प्रकार सिद्ध कीं, इसकी रसिक तथा मनोरंजक कथाएँ हैं। परन्तु किसी जैन आगम या कथा ग्रंथ में महावीर भगवान द्वारा नंदन राजा के भव में आराधित बीस स्थानकों में से किसी एक स्थानक के साधन की कथा भी नहीं मिलती है। आवश्यक निर्युक्ति में इतना भर कहा गया है कि पहले और चौबीसवें तीर्थंकर ने बीसों स्थानकों की आराधना की थी। बीच के तीर्थंकरों में से किसी ने एक, किसी ने दो, किसी ने तीन तो किसी ने सभी बीस स्थानक आराधे थे।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ के पूर्व भवों के वर्णन में कहा गया है कि उनने विपुलवाहन राजा के भव में दुष्काल के समय संघ को भोजन कराकर वैयावृत्य नामक सोलहवें स्थानक की आराधना की थी और जिससे तीर्थंकर गोत्रकर्म का बंधन किया था। इस प्रकार की तीर्थंकरों के विषय में भी यदि कथाएँ दी गई होतीं तो वे कितनी बोधप्रद एवं इनकी आराधना में प्रोत्साहित करने वाली होतीं।

जैन और बौद्ध साधना

मैंने पहले कहा है कि बौद्धों में भी तीर्थंकर की मान्यता है। इसमें इतना और कह देना आवश्यक है कि बौद्ध भी यह मानते हैं कि जो तीर्थंकरों के प्रति बहुमान दिखाते हैं वे देवलोक में जाते हैं और जो निंदा करते हैं वे बहु-पाप उपार्जित करते हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि भगवान

बुद्ध ही बौद्धों के पहले तीर्थंकर नहीं थे। उनमें २४ बौद्धों की मान्यता है। प्रथम बुद्ध दीपंकर जिस कल्प में उत्पन्न हुए, उसमें अन्य भी तीन बुद्ध हुए थे। परंतु उनके पास गौतम के बुद्ध होने की भविष्यवाणी नहीं हुई इसलिए उनका बुद्ध के पूर्वभवों के वर्णन में वर्णन नहीं किया जाता है। यह महावीर के पूर्वभव में भगवान् ऋषभनाथ द्वारा उनके अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर होने की प्रथम घोषणा के ही समान है। दीपंकर बुद्ध के समय में गौतम बुद्ध सुमेध ब्राह्मण रूप से जन्मे थे। बचपन में ही उसके माता पिता अधिक द्रव्य छोड़कर मर गए थे। इससे उसे वैराग्य हुआ और वह सारा धन दान कर तापसों के सम्प्रदाय में साधु हो गया। अभिज्ञा (ज्ञान)-बल प्राप्त कर तपस्वी सुमेध अपने दिन सुख में बिता रहा था, तभी दीपंकर प्रथम बुद्ध संसार में उत्पन्न हुए जिनके गर्भ प्रवेश, उत्पत्ति, बुद्धत्व प्राप्ति तथा धर्मोपदेश के समय हुए शकुनों को सुमेध तापस ने समाधिरत होने से नहीं देखा। ये दीपंकर बुद्ध जब सुमेध तापस के आश्रम के निकटवर्ती ग्राम में पहुंच रहे थे और लोग उनके लिए मार्ग तैयार कर रहे थे तब उसे पता चला कि दीपंकर बुद्ध इधर से जा रहे हैं। बुद्ध नाम सुनते ही सुमेध को प्रेरणा हुई कि वह भी इसमें योग दे। उसने शारीरिक परिश्रम द्वारा योग देने का निश्चय किया। निर्दिष्ट ऊबड़-खाबड़ स्थान को वह अभी ठीक कर ही नहीं पाया था कि दीपंकर बुद्ध आते दीख पड़े। उनके मुख मंडल आदि की दिव्य प्रभा से वह इतना प्रभावित हुआ कि मार्ग के कीचड़ में बुद्ध के लिए सूखा मार्ग बनाने के लिए वह स्वयं लेट गया ताकि शिष्यों सहित बुद्ध बिना कीचड़ लगे उसके ऊपर से चले जाँए। आठों धर्मों का खयाल करते हुए बुद्ध पद की प्राप्ति के लिए बलवती इच्छा किये लेटा रहा। भगवान दीपंकर ने तपस्वी सुमेध के सिर की ओर खड़े-खड़े उसके बुद्धत्व की भविष्यवाणी कर, उसकी प्रशंसा करते आठ मुट्ठी फूल से पूजा प्रदक्षिणा देकर चल दिए और इसी प्रकार उनके चार लाख अर्हत भी प्रदक्षिणा व पूजा कर आगे बढ़ गए। तभी सुमेध तापस ने बुद्धत्व प्राप्ति का दृढ़ संकल्प कर लिया और उस ओर प्रगति करने में लग गए। तेईस बुद्धों के तीर्थ में यह प्रवृत्ति उनकी चलती रही तब वे अन्त में चौबीसवें बुद्ध हुए। इस प्रवृत्ति में जानने की बात यह है कि उनकी साधना बौद्ध सम्प्रदाय में ही सीमित नहीं रही। उनने सारे विश्व के प्राणियों को ही अपनी साधना का साध्य बनाया।

जब कि हमारे जैन ग्रंथकारों ने तीर्थंकर पद की आराधना के बीस

स्थानकों में से पहले सात और अन्तिम चार इस प्रकार ११ स्थानकों को तो जैनों में स्पष्ट रूप से सीमित कर दिया है। पंद्रहवां और सोलहवां स्थानक दान और वैयावृत्य भी अपनी ही सम्प्रदाय के साधुओं या श्रावकों तक सीमित है जैसा कि हेमचंद्राचार्य ने विपुलवाहन राजा के दुष्काल समय में संघ (जैन संघ) को भोजन देकर तीर्थंकर नामकर्म का बांधना कहा है। सात स्थानक ही ऐसे रह जाते हैं और यदि इनमें से ज्ञान एवं दर्शन को जैन तीर्थंकर कथित में ही सीमित कर दें तो केवल पांच स्थानक ऐसे रहते हैं जिन्हें सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता है। यह 'सवि जीव करूँ शासन रसी' की उदात्त भावना को प्रोत्साहन नहीं करता। कदाचित् वह समय ऐसा ही रहा हो पर आज का समय तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना के प्रोत्साहन एवं वर्तन का है। तीर्थंकर की कल्पना इस प्रकार हम देखते हैं कि वह जैनों की ही नहीं है। परंतु तीर्थंकर पद प्राप्ति के गुणों का विकास क्षेत्र अवश्य ही हमारा संकुचित है। क्या उस संकुचित क्षेत्र का पोषण करते हुए हम महावीर भगवान के संदेश की ओर जन-जन को आकर्षित और श्रद्धान्वित कर सकते हैं, बस यही सोचना और उसका उचित मार्ग निकालना मेरे खयाल से भगवान महावीर का विवेक पूर्ण अनुकरण है।

आगम में तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध कारण निम्न २० स्थानक कहे हैं—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुसुए-तवस्सीसुं ।
वच्छल्लया य एसिं, अभिक्ख-नाणोवयोगे य ॥१॥
दंसण-विणए आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारो ।
खणलव-तव-च्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अपुव्व-नाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

कोई भी जीव (आत्मा) इन बीस कारणों से तीर्थंकरपन को प्राप्त कर सकता है। १-अर्हन्त, २-सिद्ध, १-संघ, ४-गुरु, ५-स्थविर, ६-बहुश्रुत, ७-तपस्वी—इनमें वत्सलभाव—उत्कट श्रद्धा व भक्ति होने से; ८-निरन्तर ज्ञान—आराधन से, ९-सम्यग्दर्शन, १०-विनय, ११-नियमपूर्वक आवश्यक, १२-अतिचार रहित शील और व्रत, १३-क्षणलव—वैराग्य भावना, १४-तप, १५-त्याग, १६-वैयावृत्य—सेवा, १७-समाधि, १८-अभिनव ज्ञान ग्रहण, १९-श्रुतभक्ति, २०-प्रवचन (तीर्थ) की प्रभावना—इनके आराधन एवं करने से।

(ज्ञात-धर्मकथांग, अध्ययन ८, सूत्र १९; तथा आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १७६ से १७८)

स्वतंत्रता क्या है और क्या नहीं है ?

स्वतंत्रता अपना काम आप करना है।
स्वतंत्रता अपना काम सदा निश्चित समय पर करना है।
स्वतंत्रता अपना काम एकाग्र चित्त होकर करना है।
स्वतंत्रता अपना काम बुद्धि पूर्वक सोच समझ कर करना है।
स्वतंत्रता अपने कर्तव्य और ज़िम्मेवारी को निबाहना है।
स्वतंत्रता अपनी समस्याओं को अपने आप हल करना है।
स्वतंत्रता कष्टों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना है।
स्वतंत्रता विषमता और असमानता को मिटाना है।
स्वतंत्रता भेदभाव और ऊँच नीच को दूर भगाना है।
स्वतंत्रता स्वयं जीना और दूसरों को जीने देना है।
स्वतंत्रता दीन-दुःखियों को ऊँचा उठाना है।
स्वतंत्रता निष्ठापूर्वक वैज्ञानिक ढंग से श्रम करना है।
स्वतंत्रता कमज़ोर साथियों को सहायता देना है।
स्वतंत्रता सब के हित में अपना हित समझना है।
स्वतंत्रता सबका सम्मान करना है।
स्वतंत्रता जैसा कहा जाय वैसा करके दिखाना है।
स्वतंत्रता बोलना कम और काम अधिक करना है।
स्वतंत्रता शरीर और मन को स्वस्थ रखना है।
स्वतंत्रता वाणी और मन पर संयम रखना है।
स्वतंत्रता नये मूल्यों की स्थापना करना है।
स्वतंत्रता निरंतर पूर्णता की ओर जाने का प्रयत्न करना है।
स्वतंत्रता मनमानी करना नहीं है।
स्वतंत्रता स्वच्छन्दता और उद्दण्डता नहीं है।
स्वतंत्रता किसी के काम में विघ्न डालना नहीं है।
स्वतंत्रता कर्तव्य और ज़िम्मेवारी का अभाव नहीं है।
स्वतंत्रता केवल खेल कूद और मनोरंजन नहीं है।
स्वतंत्रता किसी का अपमान या अनादर करना नहीं है।
स्वतंत्रता समय का दुरुपयोग नहीं है।

स्वतंत्रता काम से जी चुराना नहीं है।
स्वतंत्रता नियमों का भंग करना नहीं है।
स्वतंत्रता हुल्लड़ मचाना नहीं है।
स्वतंत्रता बिना सोचे-समझे हड़ताल कर देना नहीं है।
स्वतंत्रता स्वार्थ सिद्धि का साधन नहीं है।
स्वतंत्रता अधिकारों का दुरुपयोग नहीं है।
स्वतंत्रता नीच वृत्तियों का पोषण नहीं है।
स्वतंत्रता किसी पर सत्ता जमाना नहीं है।

–भाई वंसीधर जी

जब तक 'ईश्वर की मर्जी' हमारा नियम है; हम एक किस्म के महज शरीफ़ गुलाम हैं; जब उसकी मर्जी हो जाती है, हम स्वतंत्र हैं।

—मैक्डोनल्ड

जिसको सत्य ने स्वतंत्र किया है वही स्वतंत्र है, बाकी सब गुलाम हैं।

—अज्ञात

'किसी से कुछ भी नहीं लेना' ऐसा निश्चय जिसके चित्त में आ गया हो सचमुच वही स्वतंत्र है।

—विवेकानंद

स्वतंत्रता शक्ति के ही साथ रहती है।

—शिलर

स्वतंत्रता राष्ट्रों का शाश्वत यौवन है।

—फौय

स्वागत ! स्वतन्त्रते स्वागत ! जिन्दगी और आत्मा की अमरता के बाद ईश्वर की सर्वोत्तम देन।

—थामसन

स्वतंत्रता देवी के उपासक तोते को पिंजड़े में नहीं रखा जा सकता।

—विनोबा

भारत की अहिंसक संस्कृति

—मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज

—गतांक से आगे—

खेद है कि अपने को भारत राष्ट्र के महान् निर्माता कहलाने वाले व्यक्ति, आज भी जैन-संस्कृति की अहिंसा-साधना के प्रति विद्रोह कर रहे हैं। उन्होंने अहिंसा की जगह हिंसा को भी जीवन के सिद्धान्तों में मान लिया है। यह इस युग की एक बड़ी भारी भूल है, जब कि आज सारा भयत्रस्त संसार जीवन की भीख मांग रहा है; और जब कि भारत का समस्त दर्शन साहित्य, अहिंसा क. परम धर्म' के रूप में स्वीकार कर चुका है। इसका मतलब यह है कि वे अहिंसा का विरोध करके फिर दुबारा भारत को हजारों वर्ष पीछे उस युग की तरफ़ लौटाना चाहते हैं, जो मूक प्राणियों के रक्त से रंजित था, और जिसके प्रति जैन-संस्कृति को बड़ा भारी विद्रोह करना पड़ा था। इसलिए अहिंसा जीवन के सिद्धान्तों से कभी बाहर नहीं हो सकती, और किसी तरह की हिंसा का जीवन के साथ कोई संबन्ध नहीं हो सकता। इसलिए आधुनिक युग के राष्ट्रनिर्माताओं के जीवन का सब से पहला सूत्र, अहिंसा होना चाहिए। अहिंसा, और शान्ति भारत का पहला सन्देश है। भारत की जनता को हर कीमत पर इसे उज्जीवित रखना है। इस सन्देश की उपेक्षा कर के, भारत जीवन की किसी दिशा में प्रगति व सफलता प्राप्त नहीं कर सकता; चाहे वह सामाजिक हो या आध्यात्मिक, नैतिक हो या राजनैतिक। कोई दर्शन शास्त्र या मानव जीवन, समुद्र से भी गम्भीर क्यों न हो, अहिंसा के अगाध जल के बिना एक सड़ा हुआ तालाब है।

जैन-संस्कृति, भारत की ही नहीं, विश्व की महान् संस्कृति होने की क्षमता रखती है। इसका अहिंसा का सन्देश, किसी विशेष व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए न होकर, दुनिया की समस्त मानव जाति के लिए है। इसने जीवन के सिद्धान्तों का निर्माण सब बन्धनों से मुक्त होकर किया है; क्योंकि वे इतने व्यापक हैं कि उन्हें कुछ ही शब्दों या किसी विशेष धर्मग्रन्थ में बन्द नहीं किया

जा सकता। इसलिए सत्य और अहिंसा-जैसे विराट सिद्धान्तों के पीछे किसी जात-पाँत वगैरह के भी बन्धनों को जोड़ना, मनुष्य की बड़ी भारी भूल रही है। आग या सूली पर खड़े होकर जिस जगह सत्य या अहिंसा ने, अपने अपराधियों पर करुणा के आंसू बरसाए, जैन-संस्कृति बड़े विश्वास के साथ उन आंसुओं की अर्चना में अपनी श्रद्धा का उपहार चढ़ाती है। यही कारण है कि अहिंसा से लेकर अपरिग्रहवाद-जैसे धार्मिक सिद्धान्तों को इसने किसी विशेष धर्म ग्रन्थों से नहीं सीखा। इसने उन्हें अपने ऊँचे-से-ऊँचे अनुभवों और चिन्तनों से सीखा है। यही अनुभव और चिन्तन का मार्ग, भारतीय जनता को भी दिया गया, जिससे वह अनेक मिथ्या प्रवादों की दासता से मुक्त हुई। ईश्वरवाद की बड़ी भारी गुलामी से मुक्त होने के लिए, भारतीय जनता ने मनुष्य के महत्त्व का अनुभव किया; और ईश्वर के सिंहासन पर मनुष्यता का अभिषेक किया; मनुष्य को इष्ट देव और परमात्मा के रूप में स्वीकार किया। भारतीय जनता के अनुभव ने, उसे बतलाया कि मनुष्य ने ही संसार को अनन्त मङ्गल का निर्देश किया है, और वह ही समस्त-सृष्टि का सम्राट् हो सकता है। इसलिए जैन-संस्कृति का ईश्वर, वह मनुष्य है, जो मनुष्य का आदर्श है। जब तक मनुष्य का अपना अनुभव मिथ्या प्रवाद के अन्धकार के नीचे दबा रहता है, तब तक उसे किसी तरफ़ मोड़ा जा सकता, और उसकी भ्रान्त धारणाओं का भी अन्त नहीं हो सकता। मानव जाति के इस महान् उपकार को लक्ष्य में रखते हुए मूलतः श्रमण संस्कृति ने ही भारतीय जनता में तर्क प्रणाली का आवाहन किया, जिससे भारत की प्रत्येक विचार धारा तर्क पर कसी जाने लगी; और भारतीय जनता अपने जीवन का निर्माण अपने स्वतन्त्र अनुभवों, चिन्तनों और तर्क के आधार पर करने लगी।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों भारत राष्ट्र के महापुरुष हुए हैं। इन्होंने ही अपने युग में भारत को मानवता का संदेश उपदेश दिया था। जिस स्वतन्त्र प्रजातन्त्र भारत में आज हम बन्धन मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रहे हैं; यह उन्हीं महापुरुषों की मौलिक देन है। किसी की अधीनता में जीवन व्यतीत करना, मानवता के आदर्शों के सर्वथा विरुद्ध और भीषण कलंकों में से है। इन दोषों और कलंकों को, अन्त में भारत ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के मार्ग पर चल कर दूर किया है। सदियों की दासता से जर्जर भारत, जिसके पास और कोई बल नहीं था, अहिंसा का ही सहारा लेकर उठा! और आज वही भारत, पाशविक सत्ता में उलझे हुए संसार की समस्या

का समाधान करने के लिए जेनेवा-जैसी विश्व कान्फरेंसों में अहिंसा का सन्देश लेकर पहुँचा, तब से भारत ने दुनिया के समस्त राष्ट्रों की दृष्टि में महान् पद प्राप्त कर लिया है। इस गौरव और प्रभुत्व की रक्षा के लिए भारत की जनता नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की ओर बढ़े, अपने जीवन पर संयम रखते हुए चले, यही इष्ट है। भारत ने अपना अतीत प्रभुत्व और गौरव, भोग-विलास की निरंकुश आकांक्षा के कारण ही खोया था, अहिंसा और संयम के कारण नहीं। यह एक स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्य है। इसलिए भारत की जनता, दृढ़ विश्वास के साथ अहिंसा और संयम के सिद्धान्तों के प्रति अपनी ग़लत धारणा को छोड़ दे।

इस देश के राज्य सिंहासन पर ऋषि-मुनियों का प्रभाव रहा है। यहाँ के शासकों ने, या तो ऋषि-मुनियों के नेतृत्व में इस देश का संचालन किया है, या वे स्वयं त्यागी-तपस्वी बन कर इस देश के राज्यसिंहासन का संचालन करते रहे हैं। उन्होंने इस देश का संचालन अहिंसा, तप और त्याग के सिद्धान्तों पर किया है। भारत के आधुनिक राष्ट्र संचालकों पर भी, अहिंसा तप और त्याग की इस परम्परा को अक्षुण्ण एवं सजीव रखने का उत्तरदायित्व आया है। वे अपने इस उत्तरदायित्व को समझने और पूरा करने का प्रयत्न करें। भारतीय जनता को भोग और विलास की तरफ़ न ले जाकर, उसे अहिंसा, तप और त्याग की तरफ़ ले जाने में ही उन के कर्तव्य की पूर्ति है। इसी मार्ग पर चलकर भारतीय जनता, अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकती है। इसलिए राष्ट्र के संचालक, भारतीय जनता के लिए अहिंसा और संयम का अखंड वातावरण उत्पन्न करने के लिए राष्ट्र में मांस, मदिरा और स्त्रैण-जीवन की बढ़ती हुई अमर्याद प्रवृत्तियों का बिल्कुल अन्त कर दें। भारत में आजादी का सन्देश लाने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने विदेश यात्रा करने से पहले, अपनी मां की सत्प्रेरणा से जैन-संस्कृति के सन्देशवाहक एक सन्त से इसी संयम साधना की शपथ ग्रहण की थी, जिसके बदले राष्ट्रपिता को महान् व्यक्तित्व, महान् जीवन और राष्ट्रीय बन्धन-मुक्ति का महान सौभाग्य पुरस्कार रूप में मिला। इसलिए भारत राष्ट्र की अहिंसा की भावना, केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। पशु, पक्षी आदि जानवरों तक भी, अपनी दैवी संपत्ति अहिंसा की भावना का उपयोग करके भारत राष्ट्र अपने देवत्व का परिचय दे। जैन-संस्कृति अहिंसा की इस अखण्ड-साधना का सन्देश आज भी देती हुई अपना कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व पूरा करती है।

भारत राष्ट्र जैन संस्कृति और उसके सांस्कृतिक सन्देशों का हमेशा से ऋणी रहा है। इसने बाहर से आने वाले अनेक कुत्सित और गलत विचारों से बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ी हैं, भारत के सांस्कृतिक सन्देशों की अपने महान् बलिदानों से रक्षा की है, और अनेक विचारों के संगम पर खड़ी रहकर वह भारतीय जनता को भटकने से रोकती रही है। भारतीय जनता को, इस संस्कृति और उसके मानवीय सन्देशों के बदले अपनी कृतज्ञता उसके सांस्कृतिक पुरुषों को अर्पित करनी चाहिए जैन-संस्कृति और उसके सन्देशों का हार्दिक स्वागत करते हुए, भारत की जनता अपनी मानवता का प्रमाण दे। जो जातियां अपनी संस्कृति और उसके सन्देशों की उपेक्षा कर देती हैं, उन्हें पिछड़ी और बर्बर जातियों में मिलना पड़ा है। इसलिए भारतीय जनता अपने महान् उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए, जैन-संस्कृति, उसके सांस्कृतिक पुरुष, और उसके सांस्कृतिक सन्देशों के चिन्तन एवं मनन में प्रतिवर्ष अपने जीवन का एक दिन ही अर्पण कर दे।

आंशिक संस्कृति बनाव-चुनाव की तरफ दौड़ती है; परिपूर्ण संस्कृति सादगी की ओर।

—बोवी

बड़ी से बड़ी बात को सरल से सरल तरीके से कहना उच्च संस्कृति का प्रमाण है।

—एमर्सन

अहिंसा धर्म का तकाजा है कि हम दूसरों को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा देने के लिए स्वयं अधिक से अधिक असुविधाएँ सहें यहां तक कि अपनी जान भी जोखिम में डाल दें।

—गांधी जी

मानव की १५ त्रुटियाँ

साप्ताहिक हिन्दुस्तान के गत १५ फरवरी १९५६ के अंक में फरीदाबाद की सुश्री लीला वर्मा ने मानव की निम्न लिखित पन्द्रह त्रुटियाँ बतलाई हैं —

१ इसी विचार में मग्न रहना कि मैं स्वस्थ और धनी हूँ।

२ इसी विचार से पाप करना कि केवल दो-चार बार करके छोड़ दूँगा।

३ सुख में पाप करना और दुःख में ईश्वर का स्मरण करना।

४ साधारण रोग समझ कर यह विचार करना कि स्वतः अच्छा हो जाऊँगा।

५ दूसरे की तुलना में अपने को बढ़कर समझना।

६ किसी निकृष्ट मनुष्य की एक बार परीक्षा हो जाने पर पुनः उसी की बातों में आना।

७ दूसरों की तुलना में अपने को तुच्छ समझना।

८ दूसरे की अनुमति का ध्यान न रखकर अपनी इच्छा से कार्य आरम्भ करना।

९ उद्यमहीन समय में हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना और उचित उपाय न करना।

१० स्वयं दूसरों की सहायता न करना, बल्कि अपनी सहायता की दूसरों से आशा करना।

११ सुसंगति में न बैठकर बुरी संगति का आनंद प्राप्त करना।

१२ संगति से अच्छी बातों को न ग्रहण करके बुरी बातों को ग्रहण करना।

१३ अपनी भूल को न देखकर दूसरों की भूल पकड़ना।

१४ माता-पिता की सेवा न करना और अपनी संतान से सेवा की आशा करना।

१५ आय से अधिक व्यय करना या आय की आशा पर अधिक व्यय की योजना बना लेना।

पुस्तक सूची

—श्री महेन्द्र राजा एम० ए०

(गत फरवरी अंक से आगे)

कार्ड सूची, मुद्रित सूची एवं शीफ सूची इन तीनों में कार्ड सूची की श्रेष्ठता सर्वमान्य है और आजकल प्रायः सभी व्यवस्थित पुस्तकालयों में इसी का प्रचलन है। अन्य सूचियों की अपेक्षा इसमें जो अतिरिक्त लाभ हैं, वे पहले बतलाए जा चुके हैं। अब हमें यह देखना है कि कार्ड सूची कितने प्रकार से बनाई जा सकती है।

१—लेखक सूची—सबसे अधिक सरल एवं साधारणतः सबसे अधिक उपयोगी रूप लेखक सूची है। लेखक सूची में सभी कार्ड अकारादि क्रम से लेखकों के नामानुसार व्यवस्थित रहते हैं। अनुवादक, चित्रकार, संपादक, संयुक्त लेखक आदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस प्रकार की सूची में एक स्वतंत्र कार्ड रहता है, जिससे पाठक को अपनी ऐच्छिक पुस्तक पाने में किसी प्रकार की दिक्कत न हो। मान लीजिए कोई पाठक 'अजन्ता की कला' नामक पुस्तक की खोज में है। यह पुस्तक 'क' ने अंग्रेजी में लिखी थी, उसका हिन्दी अनुवाद 'ख' ने किया है। इस पुस्तक के चित्र 'ग' ने बनाए हैं। चित्रों के कारण यह पुस्तक और भी महत्वपूर्ण हो गई है। अब यदि पाठक न तो मूल लेखक का नाम ही जानता है, न अनुवादक का; वह केवल चित्रकार का नाम जानता है और इसी के आधार पर वह सूची में अपनी ऐच्छिक पुस्तक की तलाश करता है। यदि सूची में चित्रकार के नाम का कार्ड नहीं बनाया गया हो तब तो पाठक को पूरी सूची प्रारंभ से अंत तक देखना पड़ेगी; फिर भी उसे अपनी ऐच्छिक पुस्तक का पता लग ही जाएगा, यह संदेहास्पद है। क्योंकि वह तो प्रत्येक कार्ड में चित्रकार का नाम ही खोजेगा और चित्रकार के नाम का कार्ड सूची में है ही नहीं। अतः पाठक को परेशानी से बचाने के लिए सूची में चित्रकार के नाम का कार्ड होना आवश्यक है। इसी प्रकार अनुवादक की बात है। यदि कोई पाठक न तो इस पुस्तक के लेखक का नाम जानता है न चित्रकार का; वरन वह केवल अनुवादक को ही जानता है। अतः वह सूची में अनुवादक का नाम ही देखेगा। पर यदि सूची में अनुवादक के नाम का कार्ड न बनाया गया हो तो, उसकी ऐच्छिक पुस्तक पुस्तकालय में होने पर भी उसे उसकी जानकारी नहीं हो सकेगी। इसलिए लेखक सूची में संयुक्त लेखक, चित्रकार, अनुवादक, संपादक आदि के नाम के भी अलग-अलग कार्ड होने चाहिए।

उपरोक्त बातें ध्यान में रखने पर यह समझ में आ जाता है कि लेखक-सूची एक निश्चित सीमा तक ही पाठकों के लिए उपयोगी है। उससे पाठक को केवल यही पता चल सकेगा कि क्या पुस्तकालय में किसी लेखक की कोई विशेष कृति है; या किसी लेखक की कौन-कौन सी कृतियाँ पुस्तकालय में हैं। लेकिन उससे यह मालूम नहीं हो सकता कि पुस्तकालय में किसी विषय की कौन-कौन सी पुस्तकें हैं। अधिकांश पाठक विषय के आधार पर ही पुस्तकों की मांग करते हैं और उन्हें पुस्तकों के लेखकों के नाम ज्ञात नहीं रहते। ऐसे पाठकों के लिए केवल लेखक सूची का कोई महत्व नहीं। क्योंकि कोई भी एक पुस्तक देखने के लिए उन्हें पूरी सूची देखना पड़ेगी और यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूरी सूची देखने के उपरान्त भी उन्हें अपनी ऐच्छिक पुस्तक मिल ही जाएगी।

उपन्यास, कहानी आदि के लिए लेखक सूची बहुत ही महत्व की है और जहाँ उक्त विषय की पुस्तकें अधिक हैं, वहाँ लेखक सूची भी होना चाहिए। क्योंकि अधिकांश पाठक उपन्यास अथवा कहानियों की पुस्तकों की मांग उनके लेखक के नाम से ही करते हैं।

२—नाम-सूची—लेखक-सूची का ही थोड़ा अधिक विस्तृत रूप नाम-सूची है। इसमें और लेखक सूची में थोड़ा ही अंतर है। लेखक सूची में कार्ड केवल लेखक के नाम से ही रहते हैं पर इसमें उन व्यक्तियों के नाम के भी रहते हैं जिनके विषय में किसी पुस्तक में कोई आलोचना, संस्मरण, जीवनी आदि हो। उदाहरणार्थ आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की पुस्तक 'बिहारी' के लिए लेखक के नाम का कार्ड तो बनेगा ही पर साथ ही साथ एक कार्ड कविवर बिहारी के नाम का भी बनेगा। इसी प्रकार शचीरानी गुर्टू द्वारा संपादित पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' के लिए लेखिका का कार्ड बनने के साथ ही साथ सुमित्रानंदन पंत के नाम का भी कार्ड बनेगा। पर यदि पुस्तकालय बड़ा हो हो और पाठक भी अधिक आते हों तो कुशल पुस्तकालयाध्यक्ष उन लेखकों के नामों के कार्ड भी बनाएगा जिनके लेख उस पुस्तक में संग्रहीत किये गए हैं। पर इतना विस्तार बहुत कम पुस्तकालय कर पाते हैं क्योंकि ऐसा करना अत्यंत ही व्ययसाध्य है।

इतना होने पर भी इस सूची में वही दोष रह जाते हैं जो लेखक-सूची में पहले बतलाए जा चुके हैं। क्योंकि इससे विषयानुसार पुस्तकों का पता नहीं चलता। इस सूची का महत्व केवल इतना ही समझना चाहिए कि यह विषय सूची या वर्गीकृत सूची के पूरक के रूप में उपयोगी है। (क्रमशः)

इतना अन्तर !

एक दिवस
मैं जब
था जा रहा
कानपुर की
ख्याति प्राप्त 'विरहाना रोड' पर !
तो
देखा क्या,
सड़क के दोनों ओर
थी खड़ीं
रंग-विरंगे परिधान पहने
ऊँची-ऊँची
गगन-चुम्बी, अट्टालिकाएँ !
मध्य में, उनके ही–
था एक भव्य भवन !
जिससे
आ-जा रहे थे
कुछ व्यक्ति !
फैशन के–
साक्षात् पुतले-से,
कोट-पेन्ट में
छुपाए अपने आपको !
गौर से जो देखा
तो
था वह एक सिनेमा घर, !
और
समीप ही
एक बहुत बड़ा होटल भी
था खड़ा
अपनी ऐंठ में !

उसमें भी
नहीं था अभाव,
उसके
प्यासों का !
मजनुओं का !!
जो
सभ्यता को
देकर तलाक,
फिर रहे थे–
युवक कुछ
अपनी-अपनी
प्रेयसी के–
हाथ में हाथ डाल !
कुछ
अधेड़ भी !
कर रही थी संकेत,
केशों की धवलता
जिनकी जरठता का !
वे भी
रखना नहीं, चाहते थे–
पीछे, युवकों से स्वयं को !
अन्दर
होटल में
विनोदार्थ
बज रहा था रेडियो
और
हो रहा था
विलासिता का नग्न ताण्डव !
खूब ही

नाच और गान का,
हँसी और मज़ाक का,
चल रहा था, दौर दौरा
रुक-रुक कर
लग रहे थे कह-कहे !
मानो
सुनकर
इस, दानवी अट्टहास को,
भाग चली थी,
मानवता
झरोखों से,
खिड़कियों से,
बचाकर
अपने पाक दामन को !!

× × ×

और
उसी होटल के बाहर
कितने ही फटे हाल,
सरदी से ठिठुरते,
भूख से गिड़गिड़ाते,
बाल-वृद्ध, और युवा
घूम रहे थे
मचाते शोर—
ओ, बाबू !
ओ, माई-बाप !
एक पैसा !
बस,
केवल एक पैसा !!
और भी
फिर रहे थे
कितने ही
इधर से उधर
अर्धनग्न अवस्था में
नारी कंकाल !
पुकारते हैं,
जिनको हम
माता, बहन, पुत्री कहकर !
बाहर आने वालों के आगे
फैलाती हाथ !
आवाज़ भी
भूख से—
रह जाती थी, होठों तक ही !!

× × ×

देखते ही
ये
दोनों दृश्य
रह गया मैं
अवाक् सा !
भौंचक्का सा !!
भ्रमित सा !!!
तब
सहसा ही
हृदय से
निकल ही तो पड़ा—
कि
आज भी
मानव-मानव में
इतना द्वैत्य !
इतना वैषम्य !!
इतना अन्तर !!!

—मुनि श्री उमेश जी

श्रमण जीवन का

बदलता हुआ इतिहास

–मुनि श्री आईदान जी महाराज

—गतांक से आगे—

भीनासर का सम्मेलन

सादड़ी और सोजत में अधूरे रहे प्रश्नों को पूरी तरह सुलझाने, एक शिष्य परंपरा, साध्वी-संगठन, आगम-संपादन तथा साहित्य-सर्जन आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-चर्चा करने के लिए वि. सं० २०१२ चैत्र कृष्णा २ को करीब १३५ सन्त उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के नेतृत्व में भीनासर पधारे और उसी दिन सायंकाल गोधूलि वेला में श्री चम्पालाल जी बांठिया के हाल में उपाचार्य श्री की अध्यक्षता में श्रमण-सम्मेलन का कार्य प्रारंभ हुआ।

सम्मेलन में चहल-पहल अच्छी थी, साज-सजावट भी शानदार थी, सेवा सुश्रूषा की व्यवस्था में कोई कमी नहीं थी, परन्तु सन्त-मानस उत्साह-हीन प्रतीत हो रहा था। सन्तों के अधूरे रहे प्रश्नों को सुलझाने तथा श्रमण-संगठन को दृढ़ एवं विकसित बनाने के लिए बीकानेर, भीनासर और गंगाशहर के संघत्रय ने बार-बार जाकर विनतियाँ एवं मनौतियाँ कीं, उन्हें चलने की प्रेरणा दी और उन प्रार्थनाओं पर श्रमण-निर्ग्रन्थ एक हुए, सन्तों की उपस्थिति तो अच्छी हो गई परन्तु कार्य करने की इच्छा किसी में जागृत नहीं थी और न बाहर का वातावरण ही अनुकूल था। नित्य नए विस्फोट होते जा रहे थे, सन्त-मानस में भी तूफान चल रहा था, श्रमण-संघ की नैया डगमगा रही थी और कभी-कभी यह शंका उठ खड़ी होती थी कि कहीं श्रमण-संघ की नैया डूब न जाए परन्तु वह तूफान पूरी तरह असफल रहा, संगठन में कोई आँच आने नहीं पाई।

इस तरह के तूफानी वातावरण में श्रमण-संघ का दूसरा अधिवेशन शुरू हुआ और उस अंधड़ में हमारी सारी योजनाएँ उड़ गईं, एक शिष्य परम्परा की स्कीम फेल हो गई। सिंघाड़ा परिवर्तन पर विचार किया गया, परन्तु उसे भी एक कोने में उठाकर फेंक दिया, साध्वी-संगठन एवं उसके अधिकारों की तरफ किसी ने ध्यान ही नहीं दिया और न उसके विचारों को सुनने की उदारता ही दिखाई गई, कारण कि साधु-समाज अपने अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने में लगा रहा। साहित्य के प्रश्न को छुआ ही नहीं गया, आगम-संपादन तथा

आगम-संशोधन का प्रश्न कान्फरेंस के नेताओं ने सम्मेलन में रखा और उन्होंने सुझाव भी दिया कि संशोधन का कार्य श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द जी की देखरेख में हो परन्तु श्रमण-संघ के पुराणपंथी घबरा गए, वे इधर-उधर बगलें झाँकने लगे, आपस में कानाफूसी होने लगी और उन परंपरावादियों ने बातों ही बातों में इस महत्वपूर्ण प्रश्न को उड़ा दिया।

सम्मेलन का सारा समय छोटे-छोटे प्रश्नों को सुलझाने में ही पूरा कर दिया गया, कोई भी महत्व का कार्य नहीं हो पाया; न तो विधान को ठोस एवं व्यापक बनाया गया और न कोई खास कदम ही उठाया गया। पदवी-धारियों की संख्या जरूर बढ़ा दी गई, इस बार उपाध्याय पद की भी पूर्ति कर दी गई और एक आचार्य परंपरा को मान्य करने वाले श्रमण-संघ ने चार-चार उपाध्याय बना दिये ! और १४ मंत्री बनाये गए, जब कि इतने बड़े मंत्रीमण्डल की कोई आवश्यकता नहीं थी। बहुत से मंत्री तो नाममात्र के बनाये गए हैं और सबसे बड़ा भारी आश्चर्य तो यह रहा कि जिन मंत्री-मुनियों ने तीन वर्ष में कोई काम नहीं किया, उन्हें फिर से मंत्री बना दिया गया परन्तु कार्य करने वाले नवयुवक मुनियों को किसी तरह का अवसर ही नहीं दिया गया। एक नव विचारक मुनि को मंत्री बनाया गया परन्तु कर्तव्यनिष्ठ कार्यकर्ताओं का अभाव होने के कारण उन्होंने त्यागपत्र दे दिया, जो कि जरासी दिखावटी मान-मनुहार के बाद स्वीकार कर लिया गया। बात यह थी कि सम्मेलन का सारा संचालन पुराने हाथों में था और प्रगतिशील कहे जाने वाले नेता भी उनकी हां में हां मिलाते जा रहे थे, नवयुवकों की कोई भी बात नहीं सुनी जाती थी, उन्हें डाँट-डपट कर बैठा दिया जाता था। इस सम्मेलन में मान-प्रतिष्ठा एवं सभ्यता को बहुत कम स्थान दिया गया, डाँट डपट से ही सारा कार्य होता रहा। एक दो बार संघर्ष भी हुआ, अड़े भी रहे और ध्वनिवर्धक यंत्र के प्रश्न पर तो काफी गंभीर समस्या बन गई और फिर वह किस तरह सुलझ पाई यह तो पाठक प्रस्ताव की भाषा से सहज ही समझ सकते हैं। उस समय पुराण-पुरुषों का रंग-ढंग देखने लायक था, साधुत्व एवं श्रमण-संस्कृति खतरे में दिखाई पड़ने लगी थी। परन्तु आज तक भी मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने वाला साधु कौन से महाव्रत का—किस तरह और किस कारण एवं कौन से योग से—भंग कर रहा है ?

ध्वनिवर्धक यंत्र के विरोधी यह तर्क देते हैं कि बिजली सचित्त (सजीव) है और उसमें बोलने से अग्नि के जीवों की हिंसा होती है ? परन्तु यदि

निष्पक्ष होकर सोचा जाए तो वक्ता के द्वारा बिजली में रहे हुए जीवों की—यदि वह सजीव है तो—हिंसा होने की संभावना नहीं रहती है और यह एक सैद्धान्तिक मान्यता है। यदि ऐसा माना जाता हो कि साधु की भाषा के पुद्गल सीधे उस यंत्र पर टकराते हैं और इस कारण अग्नि के जीवों की हिंसा होती है ? तो मैं पूछना चाहता हूँ कि साधु गृहस्थ के घर गोचरी जाते हैं तो वहाँ चूल्हा जलता रहता है, अस्पताल में जाते हैं तो वहां बिजली जलती मिलती है और दोनों स्थानों पर भाषा का प्रयोग किया ही जाता है और वे भाषा के पुद्गल अग्नि एवं बिजली से सीधे टकराते हैं, तो क्या वहां अग्नि की हिंसा नहीं होती ? यदि हिंसा होती है तो उसका क्या प्रायश्चित्त लिया जाता है और यदि वहां शब्द की टक्कर से अग्नि के जीवों की हिंसा नहीं होती है तो फिर ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने मात्र से ही अग्नि के जीवों का घात कैसे हो जाता है ?

वायुकाय के जीवों की हिंसा का सवाल उठाना तो बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। मुखवस्त्रिका बांधकर बोलने वाले साधु की भाषा से वायुकाय की हिंसा की कल्पना करना आश्चर्यजनक ही नहीं, जैन सिद्धान्त के विपरीत है। वायु के जीवों की हिंसा शब्द से नहीं होती और न सामूहिक रूप से निकलने वाली तेज आवाज से ही। यदि इनसे होती हो तो फिर इस हिंसा से कोई साधु-साध्वी बच नहीं सकते, चाहे वे कितनी ही मुखवस्त्रिकाएँ लगाकर बोलें। जैनधर्म की सैद्धान्तिक मान्यता यह रही है कि वायु के जीवों की हिंसा भाषा के साथ निकलने वाली गर्म वाष्प से होती है और उसी को शक्तिहीन एवं निष्क्रिय बनाने के लिए मुखवस्त्रिका बांधने का विधान है, न कि भाषा की आवाज को रोकने के लिए। इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने मात्र से वायु और अग्नि के जीवों की हिंसा होने की कल्पना करना सिर्फ अपनी पकड़ तथा अपनी बनाई गई मान्यता का व्यामोह ही कहा जा सकता है।

अब रहा उसकी व्यवस्था में होने वाले आरंभ का सवाल। इसका संबंध तो गृहस्थ वर्ग से है। जिस तरह जनता के बैठने की व्यवस्था के लिए शामियाना बांधते हैं, पंडाल बनाते हैं और साधु वहां अपना भाषण देते हैं, उसी तरह जनता के सुनने की व्यवस्था के लिए उस साधन की भी व्यवस्था की जा सकती है। और इसी तरह पुस्तक, लेख आदि के छपवाने का कार्य भी तो किया जाता है। यह प्रश्न जब सम्मेलन में रखा गया तो हमारे श्रद्धा के केन्द्र पूज्य मुनिवर गर्म हो गए और अधिकार प्राप्त एक महामुनि जी ने तो

यहां तक कहने का साहस किया किया कि हम छपवाने का कार्य भी बन्द कर सकते हैं परन्तु लाउडस्पीकर खोलने के पक्ष में नहीं हैं। पर बड़ा अफसोस यह रहा कि वे अपनी बात को कार्यरूप में परिणत नहीं कर सके। मुझे आश्चर्य है कि ध्वनिवर्धक यंत्र का साधु से सीधा संबन्ध न होने पर भी इसका डटकर विरोध करते रहे और संघ तोड़ने की धमकियां देते रहे परन्तु छपवाने एवं पत्र लिखवाने की प्रत्यक्ष दोषपूर्ण एवं सावद्य प्रवृत्तियों को जानते हुए भी बंद नहीं कर सके और न उनका प्रायश्चित्त ही लिया जाता है।

ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने या न बोलने का मेरे सामने कोई महत्व नहीं है, फिर भी मेरे लिखने का उद्देश्य इतना ही है कि अपनी पकड़ के पीछे तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के व्यामोह में पड़कर सचाई की ओर क्यों नहीं देख पाते!

ध्वनिवर्धक यंत्र के प्रश्न में ही चश्मे में रहने वाली धातु की कील एवं फाउन्टेन पेन का प्रश्न भी चल पड़ा कि ये चीजें रात को रखी जाती हैं, अतः उनके ऊपर प्रतिबन्ध होना चाहिए; जब कि इनका पूरी तरह निषेध है।

चश्मे में धातु की कील का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण था और हम इसका हार्दिक स्वागत करेंगे कि अपरिग्रही श्रमण-निर्ग्रन्थों की निगाह से एक नन्हीं सी कील भी न बच सकी परन्तु इसके साथ-साथ वर्तमान में चले आ रहे उपकरणों तथा श्रमणों की अन्य प्रवृत्तियों पर भी हमें फिर से सोचना होगा।

परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ किया जाए, तब तो पदार्थ का ग्रहण करना ही परिग्रह है। यहां तक कि शरीर भी परिग्रह है और साधक एक क्षण भी निष्परिग्रही नहीं रह सकता। उसका प्रत्येक श्वासोच्छ्वास परिग्रह से परिपूर्ण है। इसी कारण श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया कि परिग्रह पदार्थों के ग्रहण में नहीं; ममत्व, मूर्छा एवं आसक्ति की भावना में है। संयम साधना के हेतु रखे जाने वाले उपकरणों में परिग्रह नहीं लगता।

एक नन्हीं सी कील पुराण-पुरुषों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकी परन्तु जो परिग्रह के पहाड़ के पहाड़ खड़े हैं उस ओर किसी का ध्यान तक नहीं गया। संस्थाओं के लिए चन्दा कराया जाता है, उन्हें सहयोग दिलाने की प्रेरणाएँ की जाती हैं, समाचार पत्रों के प्रकाशन एवं संपादन तथा प्रचार आदि की व्यवस्था में भाग लेते हैं। इनमें परिग्रह नहीं लगता, और न पहले महाव्रत का ही भंग होता है। शारीरिक शक्ति एवं चर्बी बढ़ाने के लिए स्वर्ण भस्में, चन्द्रोदय आदि धातु की पौष्टिक दवाएँ खाई जाती हैं और इसी सम्मेलन में देखा गया कि बगैर किसी कारण के आँवले के मुरब्बे पर लगाकर चांदी के वर्कों की सैकड़ों गड्डियां उदरस्थ हो गईं। हां, तो क्या धातु खाने में

परिग्रह नहीं ? चाहे प्रतिवर्ष हजारों रुपए का धातु पेट में चला जाए ! और मृत्यु शय्या पर पड़े हुए भी—जो संथारा एवं संलेखना के करने का समय है—चन्द्रोदय, दिवालमुस्क, मकरध्वज, कस्तूरी आदि दवाएं लेते रहते हैं।

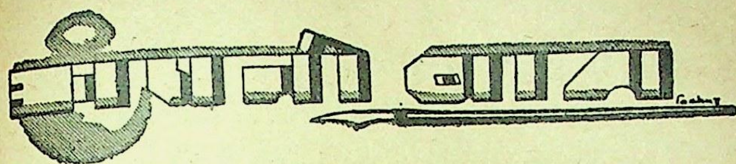
वस्त्रों की ओर देखते हैं तो दिमाग चकरा जाता है। जहां आगमकारों ने जूने-पुराने और अल्प मूल्य वाले वस्त्रों को रखने का आदेश दिया है वहां साधु का शरीर नए और कीमती वस्त्रों से आवेष्टित मिलता है। महात्मा गांधी के पास एक पश्मीने के दुशाले का पुराना टुकड़ा था, जिसे वे सरदी के दिनों में कभी मस्तक पर व कभी पैरों पर डालकर ठंड मिटाते थे। जब वह फट गया तो मनु गांधी ने नया दुशाला बदलने का विचार किया और रात्रि को सोने के बाद उसने फटे हुए दुशाले के बदले अपना नया दुशाला मस्तक पर ओढ़ा दिया। परन्तु बापू की विचक्षण दृष्टि से वह छिपा नहीं रह सका। उस नये शाल को उन्होंने पहचान लिया और हाथ लगाकर पूरी तरह देखने के बाद पूछा—यह नया दुशाला कहां से आया ? तो मनु ने कहा—यह मेरे पिता जी ने भेजा था और मेरे किसी काम आता नहीं और आपका दुशाला फट चुका है, इसलिए आपको ओढ़ा दिया। बापू ने कहा—तुम्हारे पिता तो धनवान हैं, वे नया दुशाला लाकर दे सकते हैं परन्तु मेरे तो पिता हैं नहीं और न मैं स्वयं ही कमाता हूं, इसलिए मैं नया दुशाला काम में नहीं लूंगा; लाओ फटा हुआ दुशाला मुझे दो, मैं अभी सिलाई करके उसे नया बना लेता हूं और वह विश्व का महापुरुष रात के ११ बजे सुई धागा लेकर पुरातन एवं फटे हुए दुशाले को अभिनव बनाने बैठ गया और उसके जोड़ लगाकर उसे नया दुशाला बना दिया।

यह था बापू का, एक गृहस्थ-संन्यासी का अपरिग्रही जीवन; जो व्यर्थ में एक धागा भी बरबाद करते हुए हिचकता था और दूसरी तरफ है अपरिग्रह के ठेकेदार श्रमण-श्रमणियों का जीवन; जो फटे हुए तो क्या, अर्ध पुराने वस्त्रों को भी फाड़-तोड़ कर जंगल में फेंक आते हैं और जिनकी गांठों में दो-सौ चार-सौ का कपड़ा तो सहज ही बँधा हुआ मिल जाएगा। खादीधारी सन्त भी सादगी का दिखावा करते हैं—वे भी बारीक से बारीक कीमती खादी टटोलते फिरते हैं। खादी जो एक दिन त्याग-तप और सादगी की प्रतीक थी, आज फैशन की एवं दुनिया को प्रभावित करने की चीज बन गई है। मुझे लिखते हुए दुःख होता है कि जहां भारत की आधी से अधिक जनता तन ढकने के लिए चदाई भी प्राप्त नहीं कर पाती, उस राष्ट्र का त्यागी-निर्ग्रन्थ सौ-सवासौ रुपए की कंबलों को नीचे

बिछाकर फाड़ फेंकता है। और शीतनिवारण के लिए हल्के, चमकीले और मुलायम शाल-दुशाले लाए जाते हैं; जिनकी कीमत कम से कम १५०)-२००) रुपये से ५००)-७००) रुपये तक होती है। यह है त्यागी-सन्तों का अपरिग्रह व्रत, जब कि जमीन का कचरा साफ करने के लिए भी २०) २५) और ४०) रुपये पौंड की कीमत की ऊन के रजोहरण बनाये जाते हैं। त्याग की महत्ता इसी में समझी जाती है कि—बढ़िया खाना हो, कीमती वस्त्र हो, शानदार शाल-दुशाले हों, ताकत बढ़ाने के लिए धातु की बनी पौष्टिक दवाइयाँ हों। त्याग के नाम पर—अपरिग्रही जीवन में सभी वस्तुएं ग्रहण की जा सकती हैं, पचास रुपये का चश्मा भी पाँचवें महाव्रत को तोड़ नहीं सकता, बशर्ते कि उसमें चार पैसे की कील न हो। यदि उसमें कील है, तो चश्मा चाहे एक दो रुपये का साधारण ही क्यों न हो, संयम रक्षा के हेतु ही लगाया गया हो—असाधुत्व का प्रतीक है, सिर्फ कील ही संयम की विराधक है। श्रद्धेय उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्र जी म० ने तो सम्मेलन में एक बार स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "हमारा ध्यान छोटे-छोटे छिद्रों की ओर तो जा रहा है परन्तु दूसरी ओर दीवारें की दीवारें ढ़हती जा रही हैं उस ओर हम देख भी नहीं पाते। आज संस्थाओं के भूत हमारे पीछे बँधे हैं, साधु संस्थाओं का संचालन करते हैं, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चन्दा करवाते हैं, समाचार पत्रों का संचालन करते हैं और इस महापरिग्रह के पीछे बेचारी नन्हीं सी कील का क्या महत्व!"

इन दोनों प्रश्नों का हल हो गया। कील एवं फाउन्टेन पेन के लिए तो निषेध ही रहा, किन्तु ध्वनिवर्धक यंत्र का उपयोग अपवाद रूप में स्वीकार किया गया और उसके लिए प्रायश्चित्त रखा गया।

विचार-चर्चा की दृष्टि से यह सम्मेलन इतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि भीनासर का यह सम्मेलन सर्वथा असफल नहीं रहा। श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द जी म० के शब्दों में कहूं तो "हम पीछे भी हटे तो संगठन को सुरक्षित रखने के लिए। अगरचे संगठन कायम रहा तो हम अवश्य ही आगे बढ़ सकेंगे।" अस्तु, श्रमण-सम्मेलन ने एक बड़ा भारी काम यह किया कि—"विरोधियों की अफवाहों को असत्य कर दिया और इतने भयंकर तूफानी वातावरण में भी अपनी नैया को सही-सलामत रखा और एकता को कायम रखकर स्नेह और प्रेममय वातावरण में सबने शान के साथ विहार किया।" —वि० सं० २०१३, वैशाख शुक्ल-अक्षयतृतीया



अजमेर के विविध सम्मेलन

थोड़े दिन हुए ता० २०, २१, २२ मई को तीन दिन तक श्वेताम्बर खरतर गच्छ की ओर से अजमेर में कई सम्मेलन हुए। समूचे जैन समाज के इतिहास में अजमेर का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कई प्रसिद्ध जैनाचार्यों से संबन्ध रहा है। कई बार यहाँ सम्मेलन व कान्फरेंसें पहले भी होते रहे हैं। आज से बीस साल पहले सन् १९३३ में स्थानकवासी जैन समाज का बहुत बड़ा साधुसम्मेलन भी अजमेर में हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से भी अजमेर का महत्व कम नहीं है। सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज चौहान जैसे राजा यहाँ हो चुके हैं। आज भी पूरे राजस्थान का यह केन्द्र पड़ता है।

आज से आठ सौ वर्ष पहले विक्रम संवत् १२११ आषाढ़ शुक्ल ११ के दिन अजमेर में ही सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनदत्त सूरि जी का स्वर्गवास हुआ था। यहीं पर उनके नाम की समाधि व दादावाड़ी भी बनी हुई है। उक्त आचार्य जी के स्मारक में ही इस वर्ष बड़े उत्साह से अष्टम शताब्दी समारोह मनाया गया। इस अवसर पर मुनि सम्मेलन, यति सम्मेलन आदि कितने ही सम्मेलन भी हुए। मुनि सम्मेलन में खरतर गच्छ के १४ साधु और ५० आर्यिका जी सम्मिलित हुए। जयपुर, बीकानेर और लखनऊ की गद्दियों के तीनों श्री पूज्य—श्री जिन धरणीन्द्र सूरि जी, श्री जिन विजयेन्द्र सूरि जी और श्री जिन विजयसेन सूरि जी भी यतिसंघ के साथ विराजमान थे। बाहर से ८-१० हजार की जैन जनता भी आई थी। मुनियों और यतियों के सम्मेलन के साथ ही श्रावक-श्राविका-सम्मेलन, जैन युवक सम्मेलन, जैन साहित्य परिषद्, सांस्कृतिक सम्मेलन आदि और भी कई सम्मेलन हुए। सब सम्मेलनों के अध्यक्ष भी आवश्यकता और रुचि के अनुसार अलग अलग चुने गए थे। सुप्रसिद्ध आचार्य मुनि श्री जिनविजय जी और इतिहास रत्न श्री अगरचन्द जी नाहटा आदि विशिष्ट विद्वान भी उक्त सम्मेलनों में उपस्थित थे। नाहटा जी तो उक्त सम्मेलनों के केन्द्र ही बने हुए थे।

ये सभी समारोह-सम्मेलन जिनकी पवित्र स्मृति में मनाए गए, वे दादा श्री जिनदत्त सूरि जी समूचे जैन इतिहास में बड़े ही प्रभावशाली, अपने समय के विशेषज्ञ और चारित्रनिष्ठ विद्वान आचार्य हुए हैं। आप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के विशिष्ट साहित्य निर्माता तो थे ही, साथ में बड़े

ही जबरदस्त क्रान्तिकारी और संगठन कर्ता भी थे। जिन बातों के लिए आज के साधु और यति लोग क़दम उठाते हुए हिचकते हैं, उक्त आचार्य ने उन बातों को आज से आठ शताब्दी पहले ही करके दिखा दिया था। आपने हजारों अजैनों को जैनधर्म की दीक्षा देकर ओसवाल वंश के संगठन को सुदृढ़ बनाया था। यह संगठन आज भी सजीव, प्रभावशाली और हर दृष्टि से सम्पन्न है। इस ओसवाल वंश में आजतक एक से एक प्रभावशाली राजपुरुष, मंत्री, धनकुबेर और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। सांसारिक दृष्टि से भी ओसवालों का स्तर काफी ऊँचा और अनुकरणीय रहा है। जैन होने के नाते इस वंश के लोग जुआ, मद्य, मांस आदि व्यसनों से सदा ही दूर रहे हैं। सचमुच यह सूझ-बूझ उक्त आचार्य की ही थी, जिसको देखकर आज भी आश्चर्य होता है।

अजमेर सम्मेलनों की कार्यवाहियों और प्रस्तावों को हमने ध्यान से देखा-पढ़ा है। आचार्य श्री जिनदत्त सूरि के अष्टम शताब्दी के समारोह के अवसर पर हमें आशा थी कि कोई क्रान्तिकारी कदम उठाया जाएगा। मुनि सम्मेलन के कुछ प्रस्तावों को देखकर तो निराशा ही होती है। उदाहरण के लिए मुनि सम्मेलन ने अपने संगठन का नाम 'खरतर-गच्छीय श्रमण संघ' रखा है। हमारे विचार से कम से कम तपागच्छ आदि दूसरे श्वेताम्बर गच्छों को तो लेने का प्रयत्न होना चाहिए था। चौथे प्रस्ताव में बालदीक्षा प्रतिबन्धक बिलका विरोध करके बालदीक्षा का समर्थन किया है। इसके विपरीत यति सम्मेलन के प्रस्तावों में काफी उदारता है। वहां किसी गच्छ या संप्रदाय का बन्धन न रख कर 'अखिल भारतीय यति संघ' बनाया गया है। और एक प्रस्ताव में यह भी लिखा है कि १८ वर्ष से पहले यतिदीक्षा नहीं हो सकेगी। यति सम्मेलन ने और भी कई बातों की ओर समयानुसार क़दम उठाया है। यतिसंघ के विधान में सभी तरह के यतिओं को संगठन में लाने का प्रयत्न किया गया है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि धर्म में श्रद्धा व विश्वास रखने वाला सद्‌गृहस्थ यतिशिष्य भी श्रद्धालु यति कहलाएगा। जैन दर्शन में श्रद्धा रखता हुआ विद्वान यतिशिष्य पण्डित कहलाएगा। यति धर्म का पालक यति, तो यति होगा ही। इस तरह इस संघ में यति ही नहीं, बल्कि सभी तरह के यतिशिष्यों को भी यति संघ में शामिल कर लिया गया है, जिनका किसी न किसी रूप में यतिपन से संबन्ध बनता हो। भले ही फिर वह विवाहित सद्‌गृहस्थ भी क्यों न हो। निःसंदेह यतिसम्मेलन ने बन्धनों की दीवारों को तोड़कर अपने क्षेत्र को बहुत विस्तृत बना लिया है। जिसका

फल यह हो सकता है कि उसमें फिर से प्राण-संचार होकर वह अपने खोए हुए महत्व के स्थान को पुनः अपना ले। यतियों में जो हीनता का भाव घर कर गया था, वह दूर हो सकेगा। जैन समाज का इतिहास बतला रहा है कि श्वेताम्बर समाज में यतिओं और दिगम्बर समाज में भट्टारकों का भूतकाल बड़ा ही प्रभावशाली और समुज्वल रहा है। बड़े बड़े राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार आदि भी उन्हें गुरुतुल्य मानते थे। जैन समाज पर भी उनका बहुत बड़ा प्रभाव रहा है। सच पूछो, जब जब भी जैन धर्म व समाज पर आपत्तियाँ आईं, इन्हीं लोगों ने ठीक समय पर उनका संरक्षण व संवर्धन किया। इनके अभाव में संभव है, जैन धर्म की वही स्थिति होती, जो कि भारत में बौद्ध धर्म की हुई थी। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि भगवान महावीर के बाद का पचीस सौ साल का इतिहास बतला रहा है कि मुनि धर्म के रूप में भगवान महावीर के उत्कृष्ट मार्ग का—क्रिया का उद्धार कई बार होता रहा है। अन्त में शिथिल पड़ते पड़ते मुनि लोग ही यति व भट्टारक बने। यह उत्तार-अवतार जैन धर्म के इतिहास में कई बार देखने को मिलता है। भगवान महावीर के उत्कृष्ट मार्ग का ही प्रभाव अवश्य है कि जब जब भी अवतार सीमा तक पहुँचने लगता है, तो फिर कोई न कोई प्रभावशाली पुरुष खड़ा हो जाता है और महावीर के उत्कृष्ट मार्ग—मुनिधर्म का उद्धार करता है। यह मानना होगा कि जैन धर्म में यह बीज है, भगवान महावीर के उत्कृष्ट मार्ग का यह प्रभाव है, जिससे वह आज भी अपने गौरवपूर्ण अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

इस बार अजमेर के यति सम्मेलन ने एक नया कदम और उठाया है। अब वह क्रिया या क्रिया उद्धार के चक्कर में न पड़ कर जैन धर्म के संरक्षण व संवर्धन की खुले रूप में जिम्मेवारी अपने पर लेना चाहता है। वह जैन प्रचारक अथवा जैन मिशनरी के रूप में जनता की सेवा करना चाहता है। इसलिए उसने अपने को गच्छों या संप्रदायों के बन्धनों में न बाँधकर समूचे जन व जैन समाज की सेवा को सामने रखा है। 'अखिल भारतीय यति संघ' के संयोजकों का यदि यही अभिप्राय है, जैसा कि हमने समझा है, तो अवश्य ही वे धन्यवाद एवं प्रशंसा के पात्र हैं। आज जैन समाज को बीच के मार्ग पर चलने वाले ऐसे वीर प्रचारकों तथा मिशनरियों की बड़ी जरूरत है, जो घर में बन्द न रह कर भगवान महावीर के अहिंसा और शान्ति के संदेश को देश-विदेशों तक भी पहुँचा सके। संतोष की बात है कि अब जैन समाज में

ऐसे वीर प्रचारकों की आवश्यकता सभी लोग अनुभव करने लगे हैं। थोड़े दिन हुए हमने देखा था कि भीनासर में कान्फरेंस के अवसर पर 'वीर सेवा संघ' के लिए एक प्रस्ताव आया था, उसकी योजना भी 'जैन प्रकाश' में आ चुकी है। ये बातें ऐसी हैं, जो यह बतला रही है कि आज हमें क्या करना हैं, किस बात के लिए कदम उठाने की जरूरत है।

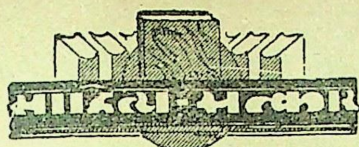
आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी स्वयं महान् धर्म प्रचारक थे। बाद के साधु और यति लोग यदि उनका अनुकरण भी करते रहते, तो आज जैन समाज की संख्या लाखों में नहीं, करोड़ों में होती। आज भी जैन त्यागियों का प्रभाव जैन-अजैन जनता पर कम नहीं पड़ता। अफ़सोस यही है कि यह सब, उपदेश या थोड़े-बहुत त्याग तक ही रह जाता हैं। उसके पीछे न संगठन बल है और न कोई सूझ-बूझ ही। हमारा विश्वास है कि आज का यति समाज और दूसरे संगठन भी यदि आचार्य श्री जिनदत्तसूरि जी का आदर्श सामने रख कर चलेंगे और उसके लिए जी-जान से जुट जाएँगे, तो जैन समाज के इतिहास में वे बहुत बड़ा काम कर सकते हैं।

जैन मिशन

जैन समाज के उत्साही एवं अनुभवी कार्यकर्ता बाबू कामताप्रसाद जी जैन वर्षों से जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं। आप ही अखिल विश्व जैन मिशन अलीगंज (एटा, उत्तर प्रदेश) के संस्थापक व संचालक भी हैं। भगवान महावीर के अहिंसा और शान्ति के संदेश को आप विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाना चाहते हैं। वर्षों के प्रयत्न के बाद अब मिशन का काम काफ़ी आगे बढ़ चला है। योरप तक में भी इसकी आवाज़ पहुँची है। मिशन के संपर्क में आकर योरप के कई लोग जैन बने हैं। मद्य, मांस तक को छोड़ शाकाहारी बन गए हैं। जैनधर्म के व्रतों का आचरण भी करने लगे हैं। जैन मिशन की ओर से हिन्दी में 'अहिंसा-वाणी' और अंगरेजी में Voice of Ahimsa ये दो पत्र भी निकलते हैं। और भी कई तरह का साहित्य बाँटा जाता है।

इधर बुद्ध जयन्ती के अवसर पर प्रचार के लिए कई तरह से तैयारी की जा रही है। हिन्दी और अंगरेजी के अलावा चीनी, जापानी, तिब्बती, श्यामी, सिंहली आदि भाषाओं में भी कई तरह का जैन साहित्य छप रहा है। जिससे इस साल बाहर से आने वाले लोगों के हाथों तक वह पहुँचाया जा सके।

हम समझते हैं जैन समाज इस कार्य में जैन मिशन को धन जन से जितनी अधिक सहायता पहुँचाएगा, उतना ही ठोस कार्य मिशन कर सकेगा। आशा है जैन समाज का ध्यान इधर अवश्य जाएगा। —कृष्णचन्द्राचार्य



सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा

श्रमण के गत अंक में उक्त ज्ञानपीठ के तीन नए प्रकाशनों की सूचना निकल चुकी है। उनके संबन्ध में हम यहाँ इतना कह देना चाहते हैं कि ज्ञानपीठ ने इधर कुछ ही वर्षों में इतना अच्छा साहित्य निकला है जो सर्व-साधारण के लिए बहुत ही उपयोगी और दिलचस्प है। प्रकाशनों में प्रसिद्ध मनीषी उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द जी के प्रवचनों की मुख्यता है। ये प्रवचन मानवता की भावना से प्रेरित रहते हैं। आज के भौतिक वाद के फँदे से छुड़ाकर मानव जीवन को नैतिक और आध्यात्मिकता का बल प्रदान करके उसकी धारा को मोड़ने का सामर्थ्य रखते हैं। कवि जी की सरल-सरस भाषा, विचारों की गंभीरता और वाणी का प्रवाह श्रोता व पाठक को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। जीवन पर उनका स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। जीवन को ऊँचा बनाने के लिए इन पुस्तकों को एक बार नहीं, बार बार अवश्य पढ़िए।

१. **प्रकाश की ओर**—संपादक, मुनि सुरेशचन्द्र शास्त्री, साहित्य रत्न
मूल्य ३) रु०

२. **विचारों के नए मोड़**—,, ,, ,, मूल्य ३) रु०

३. **अमर-वाणी**—संपादक, डॉ० इन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
मूल्य २) रु०

—कृष्णचन्द्राचार्य

अहिंसा-वाणी (तीर्थंकर महावीर अंक)

प्रकाशक—अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज (एटा), इस अंक का मूल्य २) रु०

अहिंसा-वाणी के प्रस्तुत विशेषांक में महावीर जीवन से संबन्धित कई महत्व के पठनीय लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', कामताप्रसाद जैन, अयोध्याप्रसाद गोयलीय, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य, तथा कृष्णदत्त वाजपेयी के लेख प्रमुख हैं। इस अंक के लिए सामग्री जुटाने में

सम्पादक मण्डल ने जो श्रम किया है, वह तो अंक के देखने से ही पता चलता है; पर उस सामग्री को सुव्यवस्थित रूप न दे सकने के दोष से भी सम्पादकों को बरी नहीं किया जा सकता। बहुत सा महत्व का छिटपुट मैटर अंक में यत्र तत्र बिखरा पड़ा है। जान पड़ता है लेखों के क्रम में कोई निश्चित योजना नहीं थी। जैसे जैसे लेख मिलते गए वैसे वैसे उनका मुद्रण भी होता रहा। ऊपर टाइटिल को सजाने में सम्पादक मण्डल ने जितना श्रम व व्यय किया है यदि उसका अंश अन्तरंग सजाने में भी लगता तो अंक बहुत ही सुन्दर बन जाता।

अभी तक महावीर जीवन से संबंधित सामग्री जो यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी थी, उसे चुन चुनकर एक ही स्थान पर इस अंक में प्रकाशित किया गया है, इस बात के लिए भी संपादक मण्डल का श्रम स्तुत्य है।

—महेन्द्र राजा

नए कुलपति का स्वागत

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के सुप्रसिद्ध कुलपति सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने ग्रीष्मावकाश से पहले ही अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद जी के पास भेज दिया था। अतः राष्ट्रपति ने उनके स्थान पर शिक्षा के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध डॉ० वेणीशंककर झा को नया कुलपति नियुक्त किया है। आपका ता० २ जुलाई १९५६ को विश्वविद्यालय के अधिकारियों व निवासियों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। डॉ० वेणीशंकर झा इसी विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल रायबहादुर लज्जाशंकर झा के सुपुत्र हैं और जबलपुर के सुप्रसिद्ध झा परिवार में से हैं। आपने लन्दन के यूनिवर्सिटी कालेज से दर्शन शास्त्र में डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की थी। प्रारंभ से ही शिक्षाक्षेत्र आपका मुख्य रहा है। आशा है आप जैसे शिक्षाशास्त्री को पाकर विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में विशेषरूप से आगे बढ़ेगा। और स्वर्गीय पं० मदनमोहन मालवीय जी के सुयश को फैलाने में समर्थ बनेगा। नए कुलपति का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

—अधिष्ठाता

ड० वेणीशंकर झा

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के कुलपति डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर के स्थान पर राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने मध्यप्रदेश लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष डा० वेनीशंकर झा की नियुक्ति ६ वर्ष के लिए की है। इस समाचार का शैक्षणिक क्षेत्र में हर्ष के साथ स्वागत किया जाएगा, ऐसी आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है। डॉ० झा जबलपुर के उस सुप्रसिद्ध 'झा परिवार' से संबंधित हैं जिसकी गत तीन पीढ़ियों ने मध्यप्रदेश के शिक्षा विभाग की अमूल्य सेवा ईमानदारी व निस्पृह भाव से की है। राष्ट्रपति ने डॉ० झा की नियुक्ति बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के कुलपति पद पर करते समय 'झा परिवार' की पहले की गई सेवाओं को भी दृष्टि में रखा है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

नागपुर के मारिस कालेज में अपना जीवन सहायक प्रोफेसर के रूप में आरम्भ कर, उन्होंने आज विश्वविद्यालय का सर्वोच्च पद प्राप्त किया है और उस विश्वविद्यालय का जहाँ कि उनके पिता टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल थे।

इसके पूर्व डा० झा अनेक महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर चुके हैं। सन् १९३१ में आप नागपुर के मारिस कालेज में सहायक प्रोफेसर नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद ही आप स्कूलों के सहायक निरीक्षक नियुक्त किए गए। १९३६ में आप 'इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स' बने जो उस समय अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पद समझा जाता था। १९४६ में आप मध्यप्रदेश के शिक्षा विभाग के संचालक हुए। तीन वर्ष पश्चात् आपकी नियुक्ति शिक्षा विभाग के सचिव के पद पर हुई और इसके बाद १९५३ में आप प्रादेशिक पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष हुए। केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित किये गए विश्वविद्यालय आयोग के भी आप एक सदस्य थे और अभी तक हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा संबन्धी अनेक छोटी-बड़ी कमेटियों से भी आपका सम्बन्ध बराबर बना रहा। स्कूलों में एन. सी. सी. और ए. सी. सी. के महत्व और आवश्यकता को शासन के समक्ष आपने ही रखा। इस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में आपका अनुभव विशाल है और राष्ट्रपति ने काशी विश्व विद्यालय के कुलपति के स्थान पर आपकी नियुक्ति कर आपका उचित सम्मान किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा क्षेत्र में चली आनेवाली महत्वपूर्णप रम्परा को डा० झा न केवल जीवित ही रखेंगे वरन् उसे आगे बढ़ाएँगे।

—महेन्द्र राजा

श्रमण-संस्कृति के प्रेमियों से

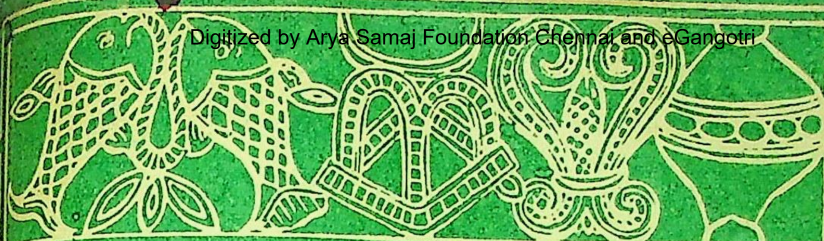
अहिंसा, संयम और तप का सन्देश देनेवाली संस्कृति ही श्रमण-संस्कृति है। श्रमण का अर्थ है---किसी दूसरे को कष्ट न पहुँचा कर स्वयं कष्टों को सहर्ष झेलने के लिए तैयार रहनेवाला व्यक्ति। जो कष्टों से अपना बचाव चाहता है, जिसका यही प्रयत्न है कि वह कष्टों से बच निकले ; वह अहिंसा का पालन कर ही नहीं सकता। अहिंसा के आदर्श मार्ग पर तो वही चल सकता है, जो कष्टों व परीषहों से कभी नहीं घबराता। सच पूछो, वही मानव श्रमण है, और मानव-संस्कृति ही श्रमण संस्कृति है। यह संस्कृति बहुत पुरानी है, बल्कि वेदों से भी पहले की है। इस संस्कृति के प्रचारक इतिहास से पहले भगवान ऋषभ देव आदि हुए हैं और इधर इतिहास काल में काशी में भगवान पार्श्वनाथ तथा विदेह जनपद एवं मगध में श्रमण महावीर और गौतम बुद्ध आदि महापुरुष इसके उन्नायक हुए हैं। अहिंसा, पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त आदि श्रमण-संस्कृति की मौलिक देन है।

आज का भारत श्रमण-संस्कृति की आधारभूत अहिंसा को लेकर ही स्वतन्त्र हुआ है। अहिंसा एवं शान्ति की नीति को अपना कर ही वह विश्व में मान-सम्मान पा रहा है। इसी नीति का सुमधुर मनोहर शुभ फल सह-अस्तित्व का सिद्धान्त है, जिसके बल पर भारत आगे बढ़ रहा है और विश्व को विश्वबन्धुत्व की भावना की ओर ले जा रहा है।

मानवता की श्रमण-संस्कृति का प्रचार-प्रसार ही 'श्रमण' का ध्येय व लक्ष्य है। इसी के लिए वह प्रयत्नशील भी है। इसका घर-घर में प्रचार हो, यही हमारी कामना है। श्रमण-संस्कृति के प्रेमियों से हम चाहते हैं कि वे 'श्रमण' के प्रचार में सहायक बनें। कम से कम इसके पाँच-पाँच ग्राहक बनाने का प्रयत्न अवश्य करें। वार्षिक मूल्य सिर्फ ४) रु० है।

निवेदक,
व्यवस्थापक, 'श्रमण'
जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए श्रीरामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस-५ में मुद्रित।





श्रमण

वर्ष ७ — सम्पादक — अंक १०

पं० कृष्णचन्द्राचार्य

महेन्द्र राजा एम.ए.



पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस-५

इस अंक में

समिति के मेम्बरों से निवेदन

'श्रमण' के इसी अंक के साथ श्री सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर की १७ वीं रिपोर्ट भेजी जा रही है। इसी रिपोर्ट के अंत में यह सूचना दी गई है कि ता० २६ अगस्त १९५६ को अमृतसर में समिति के वार्षिक अधिवेशन की बैठक होगी। साधारण और लाइफ—दोनों तरह के मेंबरों के नामों की लिस्ट भी इसी रिपोर्ट में छपी है। आशा है है समिति के माननीय मेंबर ज्यादा से ज्यादा संख्या में इस मीटिंग के अवसर पर पहुचेंगे जिससे उनकी इच्छानुसार समिति की कार्यकारिणी के सदस्यों का चुनाव हो सकेगा। ता० २२ अगस्त तक अमृसर के पते पर मंत्री जी को अपने पहुँचने की सूचना देने की अवश्य कृपा करें।

कृष्णचन्द्राचार्य
अधिष्ठाता,

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस-५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ अगस्त १९५६ अंक १०

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङमय का स्वाध्याय—

(गतांक से आगे)

—४१—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी ॥

—४१—

सुन करके यह नमि का उत्तर
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ॥

—४२—

घोरासमं चइत्ताणं
अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसह-रओ
भवाहि मणुयाहिवा ॥

—४२—

गृह-आश्रम को तज कर राजन् !
अन्य आश्रम में क्यों तुम जाते ?
यहीं व्रतों में रत होकर के
सुखमय जीवन क्यों न बिताते ?

—४३—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी ॥

—४३—

सुन करके इस इन्द्र-प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ॥

—४४—

मासे मासे उ जो बालो
कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुय-क्खाय-धम्मस्स
कलं अग्घइ सोलसिं ॥

—४४—

मास मास पर जो अज्ञानी
कुशाग्र जितना भोजन लेता ।
शुद्ध धर्म की कभी न फिर भी
कला षोडशी वह पा लेता ॥

—४५—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी ।।

—४५—

सुन करके यह नमि का उत्तर
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ।।

—४६—

हिरण्णं सुवण्णं मणि-मुत्तं
कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ।।

—४६—

कनक रजत मणि मुक्ता वाहन
कांस्य द्रव्य अरु कोष विपुलतर ।
संग्रह करके पुनः उचित है
तुम्हें नरेश्वर होना मुनिवर ।।

—४७—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविंदं इणमब्बवी ।।

—४७—

सुन करके इस इन्द्र प्रश्न को
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ।।

—४८—

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलास-समा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगास-समा अणंतिया ।।

—४८—

स्वर्ण रजत के पर्वत अगणित
हों कैलास समान उच्चतर ।
तदपि न नभ सम अविरम इच्छा
पूरी कर पाता लोभी नर ।।

—४९—

पुढवी साली जवा चेव
हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नाल-मेगस्स
इह विज्जा तवं चरे ।।

—४९—

यव शाली धन पशु आदिक से
पूर्ण सुसंभृत पृथ्वी सारी ।
अलं नहीं है लोभी जन के
इसीलिए है तप प्रियकारी ।।

—५०—

एयमट्ठं निसामित्ता
हेउ-कारण-चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविंदो इणमब्बवी ।।

[उत्तरा., अध्य.० ९, गा. ४१–५०]

—५०—

सुन करके यह नमि का उत्तर
तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
देवराज ने नमि मुनिवर से
पूछा प्रश्न एक फिर सत्वर ।।

–अनु० मुनि श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर'

अपभ्रंश के कविवर

पुष्पदंत, क्या पुष्पभाट थे ?

—प्रो० देवेन्द्र कुमार एम. ए.

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार, अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानते हैं और इसलिए हिन्दी के आरंभिक युग के अन्तर्गत वे ऐसी कृतियों की भी चर्चा कर देते हैं जो वस्तुतः हिन्दी की नहीं हैं। हिन्दी के आरंभिक युग को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'प्रवृत्ति विशेष' को लक्ष्य में रख कर वीरगाथा काल कहा था, परंतु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी विषय-वस्तु की दृष्टि से उसे आदिकाल कहते हैं। वैसे भाषाशास्त्र की दृष्टि से अपभ्रंश हिन्दी नहीं है; तो भी हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों और काव्य रूपों को समझने के लिए डाक्टर द्विवेदी ने जो अपभ्रंश कृतियों का आदिकाल के अन्तर्गत विचार किया है, वह शुभ प्रयत्न ही है। परंतु इसमें उनकी कई स्थापनाएँ सचमुच भ्रमजनक या तथ्यहीन जान पड़ती हैं।

जैसे उन्होंने किसी भाषा कवि पुष्पभाट की एकता अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत से सिद्ध की है। यह पुष्पभाट कौन है इसका विशेष पता नहीं चलता। श्री शिवसिंह ने अपने इतिहास में लिखा है, "वि० सं० ७७० में राजा मान अवंतीपुरी का बड़ा पंडित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था, उसके पास पुष्पभाट ने प्रथम संस्कृत पढ़ पीछे भाषा में दोहे बनाए। हमें भाषा की जड़ यही कवि मालूम देता है।" इस कथन के 'मान' और 'पुष्प' शब्दों को लेकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि कवि पुष्पदंत जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज के आश्रित थे उसकी राजधानी मान्यखेट पर से राजा का नाम मान समझ लिया गया। और सभा कवि होने से उसे (पुष्पदंत को) पुष्पभाट कह दिया गया। आगे चलकर टिप्पणी में उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि अवंती राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के अधीन थी। मालवनरेश श्रीहर्ष ने विद्रोह भी किया पर वह कृष्ण के रहते सफल नहीं हो सका। इससे स्पष्ट है कि मान्यखेट (मान) का उज्जयिनी पर शासन था। हो सकता है कि बाद में मान के कवि पुष्फ का यश मात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भुला दी गई हो पर यह अनुमान ही अनुमान है ?[१]। परंतु "हिन्दी साहित्य"

[१] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७

में उन्होंने निश्चयपूर्वक लिखा है कि इसको (पुष्पदंत को) हिन्दी की भूली हुई अनुश्रुतियों में राजा मान का पुष्प कवि कहा गया है।

यह एक विचित्र बात है कि एक पुस्तक में जिसे वह कोरा अनुमान कहते हैं उसी को दूसरी पुस्तक में तथ्य मान लेते हैं। डाक्टर द्विवेदी के इस असंभव अनुमान के मुख्य तर्क दो हैं—(१) मान्यखेट का अवंती पर शासन होना, (२) पुष्पदंत का राजा कृष्ण का सभासद होना। परंतु इसमें दूसरा तर्क निर्मूल है। क्योंकि पुष्पदंत कृष्ण तृतीय के आश्रय में नहीं रहे। वे उसके सभासद भी नहीं थे। यथार्थ में उन्होंने मंत्री भरत और उसके पुत्र नन्न के संरक्षण में काव्य साधना की। कवि ने इसके लिए उन दोनों के प्रति जी खोलकर कृतज्ञता भी प्रगट की है। पहले तर्क में भी अधिक बल नहीं है, क्योंकि अवंती से कृष्ण तृतीय का राजनैतिक संबंध होते हुए भी उससे पुष्पदंत का साहित्यिक संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि कृष्ण तृतीय के शीघ्र बाद, उसके उत्तराधिकारी खोट्टिगदेव को हराकर धारानरेश श्रीहर्ष ने मान्यखेट को धूल में मिला दिया था। इस समय पुष्पदंत संभवतः नन्न के आश्रय में थे, उन्होंने इस दुर्घटना का उल्लेख भी किया है। इसलिए अवंती पर मान्यखेट का शासन भी बहुत समय तक नहीं रहा। जिससे अवंती के तथाकथित राजा मान के पुष्पभाट को मान (मान्यखेट) का पुष्पदंत मान लिया जाय। फिर एक बात यह भी विचारणीय है कि कहां अवंती और कहां मान्यखेट? कहां मान राजा और कहां कृष्णराज? कहाँ पुर्ष्पभाट और कहां उग्र स्वाभिमानी पुष्पदंत? दोनों को एक मानना सचमुच आकाश-पाताल एक करना है।

यह भी स्पष्ट नहीं है कि श्री शिवसिंह को भाषा से क्या अर्थ अभिप्रेत है। यदि भाषा का अर्थ अपभ्रंश लें तो पुष्पदंत उसकी जड़ नहीं हो सकते। क्योंकि उनके बहुत पहले सातवीं सदी में इस भाषा की न केवल जड़ जम चुकी थी, अपितु आठवीं सदी में स्वयंभू की रामायण के रूप में वह विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी। और पुष्पदंत की भाषा में अपभ्रंश का प्रारंभिक रूप नहीं अपितु उसका पूर्ण विकास है। भाषा का अर्थ यदि हिन्दी लिया जाय तब भी बात नहीं बनती, क्योंकि पुष्पदंत की भाषा साहित्यिक है। उसमें नई भाषा के अंकुर की अपेक्षा, पुरानी भाषा का परिनिष्ठित रूप है।

पुष्पदंत के व्यक्तित्व और साहित्य की कसौटी पर तो उक्त निष्कर्ष और भी नहीं टिकता। श्री शिवसिंह ने पुष्पभाट को दोहाकार कहा है। जब कि पुष्पदंत के साहित्य में इस छंद का एक भी उदाहरण नहीं। पुष्पभाट का

विषय राजस्तुति रहा होगा जब कि पुष्पदंत का साहित्य जिन-भक्ति से ओत-प्रोत है। वे कश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। अत्यंत उग्र स्वाभिमानी, एकाकी और एकांतवासी जीव थे। उन्होंने राजाओं की कड़ी और तीखी भर्त्सना की है। ऐसी स्थिति में अनुश्रुति भी उन्हें पुष्पभाट कहने में लजाएगी। पुष्पदंत ने जो कुछ भी लिखा—वह मान्यखेट में भरत और नन्न की प्रेरणा से। उनका समूचा साहित्य धार्मिक है। इस साहित्य की हिन्दू राजदरबारों में पहुंच हुई होगी—यह असंभव है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुश्रुति पुष्पभाट को आठवीं सदी का मानती है जब कि पुष्पदंत दसवीं में हुए।

पुष्पदंत मान्यखेट में बाहर से आए थे। इस पर भी यह संभावना करना ठीक नहीं कि वह किसी मान राजा के पास से आए होंगे। श्री प्रेमी जी ने उन्हें स्पष्ट रूप से विदर्भ का माना है। उनके साहित्य में मराठी के बहुत से शब्द हैं, इसलिए मराठी विद्वान उन्हें मराठी का महान कवि कहते हैं। पुष्पदंत ने यह संकेत अवश्य किया है कि भलपाटी आने के पहले उन्होंने किसी 'भैरव' राजा की प्रशंसा में रचना की थी। पर बाद में विरक्त होकर चले आए। अतः उन्हें अवंती से प्रवासित नहीं माना जा सकता।

उक्त तथ्यों से सिद्ध हो जाता है कि पुष्पदंत पुष्पभाट नहीं हो सकते। वह कोई दूसरा कवि होगा। संभव है उसने अवंती के किसी मान राजा के आश्रय में दोहों में रचना की हो। अवंती के राजा साहित्य के पंडित होते रहे हैं। और फिर एक ही नाम के कई व्यक्तियों का मिल जाना भारतीय इतिहास में असंभव नहीं। यह भी संभव है कि श्री शिवसिंह ने अपने संग्रह में कोई गलत अनुश्रुति अंकित कर दी हो। और यदि अनुश्रुति ठीक और सच्ची हो, तो यह भी संभव है कि आठवीं सदी में किसी पुष्पभाट ने दोहों में राजभक्ति की व्यञ्जना की हो। पर यह स्फुट कवि रहा होगा, प्रबंध कवि नहीं। क्योंकि अपभ्रंश के किसी भी प्रबंध कवि ने अपने प्रबंध काव्य में दोहे को स्थान नहीं दिया। यद्यपि वह अपभ्रंश का औरस छंद था। स्फुट या मुक्त रचना में ही उसकी पूछ थी। परंतु बाद में वह अत्यधिक लोकप्रिय हो उठा और हिन्दी के प्रबंध काव्यों में घत्ता का काम देने लगा। इसलिए यदि पुष्पभाट आठवीं सदी का दोहाकार हो तो अवश्य ही वह स्फुट कवि था। यह असंभव भी नहीं, क्योंकि इस काल में मध्यदेश के राजदरबारों में अपभ्रंश की प्रतिष्ठा थी। इसलिए पुष्पदंत से पहचान कराने की अपेक्षा, पुष्पभाट को स्वतंत्र कवि मानना ही अधिक तर्कसंगत है।



सब इन्सान समान !

सब इन्सान समान !

सिख पारसी जैन यहूदी मुसलमान क्रिस्तान
रूसी अमरीकी जापानी चीनी ग्रीक पठान
पोथी ग्रंथ कुरान बाइबिल गीता वेद पुराण
सबके लिए सुलभ उतने ही जितना अक्षर ज्ञान
सब इन्सान समान !

सन्त महन्त पीर पैगम्बर ज्ञानी गुरु यजमान
पोप पादरी शेख मौलवी योगी साधु सुजान
हरिजन जाट चौधरी पासी कुर्मी और प्रधान
सब आदम के औरस जारज सब मनु की सन्तान
सब इन्सान समान !

सोने के महलों के वासी जगत सेठ धनवान
टूटी झोपड़ियों के वासी निर्धन दीन किसान
सबके तन में एक तरह के आंख नाक मुंह कान
सबमें जीवन शक्ति एक-सी, सबके घट में प्राण
सब इन्सान समान !

सूर्य वायु जल अम्बर धरती सबके लिए समान
कन्द मूल फल अन्न सभी को देते जीवन दान
नदियाँ सबके लिए एक सी बहतीं गाती गान
पर्वत सबके लिए एक से हैं कठोर निष्प्राण
सब इन्सान समान !

सबको सुख सुविधा पहुंचाते हैं विभिन्न विज्ञान
सबको एक साथ ले जाते वायुयान जलयान
सबको मीठे लगते कोमल स्वर अलाप लय तान
सबको आकर्षित करते हैं उच्चादर्श महान
सब इन्सान समान !

सब आपस में रहें प्रेम से दुनियाँ के इन्सान
सब को अपनी अपनी मानवता पर ही अभिमान
सब में हो सद्भाव परस्पर सबके हित का ध्यान
सबको अवसर मिले प्रगति का सबका हो कल्याण
सब इन्सान समान !

—श्री निरंकार देव सेवक

यह अगस्त का महीना

—श्री एम० के भारिल्ल एम० ए०

अंग्रेजी साल के बारह महीनों में ऐतिहासिक दृष्टि से अगस्त का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस समय अंग्रेजी मास का महीना अगस्त रहता है, उस समय विक्रम संवत का श्रावण महीना रहता है। श्रावण का भारतीय महीनों में कितना महत्व है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। अंग्रेजी या भारतीय दोनों ही दृष्टि से यह महीना विशेष महत्व का है।

'अगस्त' शब्द 'आगस्ट' का बिगड़ा हुआ रूप है। जूलियस सीजर के पौत्र 'आगस्टस' के नाम पर इस महीने का नाम 'आगस्ट' पड़ा। पहले इस महीने का नाम 'सेक्सटिलिस' (Sextilis) था। 'आगस्ट' नाम कब रखा गया, इस संबंध में ऐतिहासिक ग्रन्थों एवं किवदंतियों से दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि आगस्टस के रोम की गद्दी पर बैठने के समय से ही इस महीने का नाम 'आगस्ट' पड़ा। दूसरी किंवदन्ती के अनुसार ऐसा माना जाता है कि आगस्टस के जीवन की कई प्रमुख घटनाएँ संयोगवश इसी महीने में घटीं, इसीलिए उसकी स्मृति में इस महीने का नाम 'आगस्ट' रखा गया। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित ही है कि 'आगस्ट' शब्द का मूल आधार रोम के सम्राट जूलियस सीजर का पौत्र 'आगस्टस' ही है। 'आगस्ट' शब्द का अर्थ होता है—प्रतापी, आदरणीय, श्रद्धेय। संयोगवश इस महीने में जो ऐतिहासिक घटनाएँ घटीं व जो त्योहार मनाए जाते हैं वे सभी शुभ, श्रद्धास्पद एवं गौरवपूर्ण हैं, इससे भी इसकी सार्थकता सिद्ध होती है।

धार्मिक और पौराणिक दृष्टि से तो अगस्त मास का विशेष महत्व है ही, पर राजनीतिक दृष्टि से भी अब भारत के इतिहास में इसका महत्व हो गया है। भारतीय राजनीतिक इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ अगस्त मास में ही हुई।

महीने का पहला ही दिन १ अगस्त हमें कई महत्वपूर्ण घटनाओं की याद दिला देता है। एक ओर तो हमें इस अवसर पर भारतीय राजनीति के उद्‌भट सेनानी लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की याद आती है तो दूसरी ओर हम महात्मा गांधी द्वारा इसी दिन प्रारंभ किये गए असहयोग आन्दोलन को भी भुला नहीं पाते। अगस्त १९२० की वह घटना आज ३५ वर्ष बाद भी हमें कल की ही सी जान पड़ती है। 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' यह लोकमान्य का ही नारा था। इसी के बाद क्रमशः ७ अगस्त व १५ अगस्त की भी दो और पुण्यतिथियाँ आती हैं। एक तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की और दूसरी बापू के अनन्य एकनिष्ठ सहयोगी और सहनिवासी महादेव भाई की। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर सरस्वती के सच्चे पुजारी थे। यद्यपि जन्म से वे भारतीय थे पर हृदय से वे समस्त विश्व के थे। 'विश्व-भारती' उनकी इसी कल्पना का मूर्त रूप है। आचार्य दादा धर्माधिकारी के शब्दों में भारत को उन्होंने विश्व की अनुपम प्रतिकृति माना और भारतीय राष्ट्र को विश्वराष्ट्र का अग्रदूत माना। जहां एक ओर महात्मा गांधी ने हमें इस मास में 'असहयोग' का संदेश दिया, कवि-गुरु ने हमें समर्पण और उत्सर्ग की दीक्षा देते हुए इस लोक से प्रस्थान किया। 'गीतांजलि' की उनकी मधुर ध्वनि अभीतक हमें उनकी और उस दिवस की याद दिला देती है।

महादेव भाई 'आत्म-समर्पण' के जीवन्त प्रतीक थे। उन्होंने अपने आप को, तथा अपना सारा जीवन जिस प्रकार बापू को समर्पित कर दिया था, उनके जैसा दूसरा दृष्टान्त सहसा नहीं दिखाई पड़ता। उनकी आत्म-समर्पण की भावना आदर्श थी। बापू के निजी सचिव के रूप में उन्होंने 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' की कहावत सार्थक की थी। साहित्यिक तो वे थे ही पर साथ ही पाकक्रिया में भी वे कुशल थे। सफाई के भी वे बड़े प्रेमी थे।

इसी महीने में एक और पुण्यतिथि पड़ती है, वह है सांस्कृतिक सामंजस्य के सिद्धान्त के अनुष्ठाता स्वामी रामकृष्ण परमहंस की। इसी महीने की १६ तारीख को उन्होंने ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त किया था।

इसी महीने में चार क्रांतिकारी देशभक्तों को ब्रिटिश तानाशाही का शिकार होना पड़ा। १ अगस्त १९३३ को सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी सूर्यसेन तारकेश्वर को, एवं ५ अगस्त सन् १७७५ को भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज पर घूस लेने का अभियोग लगाने के कारण महाराज नन्द कुमार को फांसी दी गई। इसी महीने में १६ अगस्त १९०९ को क्रांतिकारी

नेता मदनलाल धींगरा तथा १९ अगस्त १९०८ को खुदीराम बोस को भी फांसी दी गई।

यह महीना जहां एक ओर इतनी पुण्य तिथियों से गौरवान्वित है, ५ महान आत्माओं को जन्म देने का सौभाग्य भी इसी महीने को मिला है। ११ अगस्त १८८५ को हमारे वयोवृद्ध राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त का जन्म हुआ था। १५ अगस्त १८७२ को योगिराज अरविन्द का भी जन्म हुआ था। योगिराज अरविन्द भारत के उन इने-गिने शीर्षस्थ योगियों में थे जिन पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है। कांग्रेस के १५ वें अधिवेशन के अध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र का जन्म १८४८ में इसी महीने की १३ वीं तारीख को हुआ था। कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष श्री सैयद हसन हमाम का जन्म भी इसी महीने के आखिरी दिन हुआ था। आधुनिक भारत के जन्मदाता और भारतीय राष्ट्रीयता के पैगम्बर राजा राममोहन राय की जन्मतिथि भी इसी महीने की २०वीं तारीख को पड़ती है। उनका जन्म सन् १८२८ में हुआ था।

भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास से संबंधित कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ भी इसी महीने में घटी हैं कि उन्हें हम किसी भी प्रकार नहीं भुला सकते। ८ व ९ अगस्त भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की अविस्मरणीय तिथियाँ हैं। ९ अगस्त १९४२ से ही 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ था। २ अगस्त १९३५ को गवर्नमेन्ट आफ इंडिया एक्ट के विरोध में कांग्रेस ने अपना मत प्रदर्शन किया था और उसे आठ प्रांतों के चुनाव में सफलता प्राप्त हुई थी। २० अगस्त १९१७ को मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार भारत में लागू हुआ। भारत मंत्री मांटेग्यू ने जो घोषणा की थी, उसमें भारतीयों को उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा में शासन में सम्मिलित करने का संकल्प और उत्तरदायी शासन प्रणाली को उत्तरोत्तर अधिक परिमाण में चरितार्थ करने का उद्देश्य निहित था। १९०५ में इसी महीने की ७ तारीख से स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी बहिष्कार नीति प्रारंभ हुई।

१६ अगस्त १९०८ से महात्मा गांधी के नेतृत्व में जोहान्सबर्ग (दक्षिण अफ्रिका) में सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। १९ अगस्त १८३२ का दिन भी हमारे लिए कम महत्व का नहीं, जब कि पहली बार मजिस्ट्रेट और ज्यूरर के लिए

[शेष पृष्ठ १८ पर देखिए]

एक छोटी सी बात

इस वर्ष गत २३ जुलाई को लोकमान्य बालगंगाधर तिलक की १०० वीं पुण्यतिथि भारत भर में सर्वत्र धूमधाम से मनाई गई। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अग्रदूत, भारत में स्वराज्य की भावना का मंत्र फूँकने वाले एवं "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्धि अधिकार है" के जन्मदाता श्री तिलक के जीवन की निम्न लिखित एक छोटी सी घटना हमारे आज के जीवन के लिए कितनी महत्वपूर्ण बात है, यह इसे पढ़कर ही जाना जा सकता है।

उन दिनों श्री तिलक दादाभाई नौरोजी के साथ ही रहकर वकालत का अभ्यास करते थे। एक बार किसी मुकदमे के संबन्ध में श्री नौरोजी को इग्लैंड जाना पड़ा और मितव्ययता के विचार से लन्दन से दूर, एक छोटे से उपनगर में ठहरने की व्यवस्था की। साथ में तिलक महाराज भी थे।

श्री नौरोजी अरुणोदय से पूर्व ही ब्राह्म मुहूर्त में उठने के अभ्यस्त थे। घर की सफाई, कपड़ों पर ब्रुश और जूतों पर पालिश वह स्वयं कर लेते थे। सूर्योदय के पूर्व ही स्नान ध्यानादि से निवृत्त होकर वे अपने काम में जुट जाते थे।

एक दिन जब वे यथानियम तिलक महाराज के जूतों पर पालिश कर रहे थे, तो उनकी आँख खुल गई। गुरुदेव का यह व्यापार देख वे स्तंभित रह गए और दौड़कर उनके हाथों से जूता छीनने लगे। दादाभाई ने तब उनसे स्नेह भरे स्वर में कहा, "क्या हममें कोई दुराव है? यदि मैं अपने जूते साफ कर सकता हूँ तो तुम्हारे क्यों नहीं कर सकता?"

"क्या आज नौकर नहीं आया, जो आप को यह सब करना पड़ रहा है?" तिलक ने पूछा।

"तुम लन्दन के उस भाग में हो, जहाँ सब नौकर ही रहते हैं। वे सब अपना काम अपने हाथों से करते हैं।"

चरित्र निर्माण की इस छोटी सी घटना से श्री तिलक के जीवन की दिशा ही बदल गई और वही चिर-स्मरणीय और अनुकरणीय जीवन की लीला संसार को कर्म-सिद्धान्त का अपूर्व ग्रंथ-रत्न 'गीता-रहस्य' देने का निमित्त बन गई।



प्राचीन जैन राजस्थानी गद्य साहित्य

—श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

साहित्य के विभिन्न प्रकारों में गद्य और पद्य ये दो प्रधान हैं। प्राचीन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में गद्य में भी काफी साहित्य लिखा गया। पर स्मरण रखने की सुविधा इत्यादि कारणों से पीछे पद्य को ही प्रधानता मिली; फिर भी पद्य की व्याख्या के रूप में गद्य का आश्रय लेना ही पड़ा। सरलता व सुगमता की दृष्टि से गद्य का विशेष महत्व है भी। प्राकृत और संस्कृत में तो गद्य के सैकड़ों व हजारों ग्रन्थ हैं पर अपभ्रंश की प्रधानता के समय पद्य का आकर्षण इतना अधिक बढ़ गया था कि अपभ्रंश में विविध प्रकार की सैकड़ों पद्य-बद्ध छोटी-बड़ी रचनाएँ मिलती हैं, तब गद्य में लिखा गया एक भी स्वतन्त्र अपभ्रंश ग्रन्थ नहीं मिलता। केवल कुवलय-माला आदि में कहीं कहीं प्रसंगवश अपभ्रंश-गद्य के कुछ वाक्य प्रयुक्त मिलते हैं।

अपभ्रंश से उत्तर-भारत की प्रायः सभी वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ। उनको अपभ्रंश की बहुत बड़ी परम्परा मिली। उन भाषाओं में भी प्राचीन गद्य बहुत ही कम पाया जाता है। चौदहवीं-शताब्दी के पहले का प्रान्तीय भाषाओं का गद्य दुर्लभ सा है। उस समय तक लोक भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश का अच्छा प्रभाव देखने को मिलता है। इसलिए तत्कालीन भाषा की संवृता 'अपभ्रंश' भी पाई जाती है। पाटन भण्डार सूची के पृष्ठ १२८ में 'उक्ति व्यक्ति विवृति' नाम की ताड़पत्रीय अपूर्ण प्रति का विवरण प्रकाशित है। इसमें लोक भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा देते हुए जो उदाहरण दिए हैं, उसका थोड़ा सा अंश यहाँ दे रहे हैं—

उक्तेः—भाषितस्य, व्यक्ति—प्रकटीकरणं विधास्यामः। अपभ्रंश-भाषा-छन्नां संस्कृत-भाषां प्रकाशयिष्याम इत्यर्थः।

अपभ्रंशभाषया लोको वदति यथा—धर्म्मु आथि। धर्म्मु कीज। दुह गावि दूधु गुआल। याच कांबले यजमान कापडि। गंगा न्हाए धर्म्मु हो पापु जा। पृथिवी धर। मेहं वरिस। आंखि देख नेहाल। आंखि देखत आछ। जीभें चाख। काने सुण। बोलें बोल—वाचा वदति। [प० १०–२] बोलं

बोलति । पायं जा—पादेन याति । मूतत आछ—मूत्रयन्नास्ते[प० ११–२]भोजन कर । देवदत्त कट करिह—देवदत्तः कटं करिष्यति [प० १३–२] हउं पर्व्वतउ टालउं—अहं पर्वतमपि टालयामि । सवहि उपकारिआ होउ—सर्वेषामुपकारी भूयात् [प० १४–२]

उक्ति संज्ञक ग्रन्थों की परम्परा १७ वीं शताब्दी तक निरन्तर चलती रही है। संग्रामसिंह रचित 'बाल शिक्षा' इस संबन्ध में अच्छा ग्रन्थ है, जिसके कुछ अवतरण प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ के पृष्ठ २०५ से २१७ तक में प्रकाशित हैं। प्राचीन राजस्थानी की गद्य रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से ही प्राप्त होने लगती हैं। जिनमें से संवत् १३३० की आराधना, १३५८ का नवकार-व्याख्यान, १३५९ में लिखित सर्वतीर्थ नमस्कार एवं १३६९ में लिखित अतिचार नामक लघु कृतियाँ 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' में प्रकाशित हो चुकी हैं। तत्परवर्ती 'तत्वविचार' और 'धनपाल कथा' को मैंने 'राजस्थान-भारती' में प्रकाशित कर दिया है। इसी समय की एक उल्लेखनीय कृति में चार प्रान्तीय भाषाओं के उदाहरण मिलते हैं, जो कलकत्ते की राजस्थान रिसर्च सोसायटी की मुख पत्रिका 'राजस्थानी' वर्ष ३, अंक ३ में १५ वर्ष हुए, प्रकाशित की गई थी। इससे गुजरात, मालवा, पूर्व प्रदेश और महाराष्ट्र की चौदहवीं शताब्दी की बोली का कुछ परिचय मिल जाता है उस समय राजस्थान एवं गुजरात में एक ही भाषा बोली जाती थी, इसलिए इस रचना में गुर्जरी नायिका के मुख से जो शब्द कहलाए गये हैं उसे प्राचीन राजस्थानी कहा जा सकता है।

"अहे बाई एहु तुम्हारा देसु कवण लेखा मांहि गणियह। किसउ देसु गुजरातु, सांभलि माहरी बात। एउजु लाधउ माणुसओ जमारओ आलि मात्रि कांइ हारउ एजि सम्यक्तव मूल बारह व्रत पालियहि।"[१]

१४ वीं शताब्दी की उपर्युक्त रचनाएँ तो बहुत छोटी-छोटी हैं और विवरणात्मक होने से भाषा का प्रवाह भी उनमें देखने को नहीं मिलता। अतः इन रचनाओं का महत्व केवल गद्य की प्राचीन परम्परा के उदाहरण के रूप में ही है। वास्तव में १५ वीं शताब्दी से ही राजस्थानी गद्य का सुन्दर रूप सामने आने लगता है। संवत् १४११ में तरुणप्रभ सूरि रचित षड़ावश्यक-बालावबोध ही व्यवस्थित गद्य का पहला ग्रन्थ है। इसमें प्रसंगवश सम्यक्त्व एवं बारह व्रत आदि की कथाएं दी गई हैं। जिनमें से २३ कथाएँ 'प्राचीन

[१] चौदहवीं शती की गद्य रचनाओं के उद्धरण के लिए देखें—देवनागर में प्रकाशित मेरा लेख।

गुजराती गद्य संदर्भ' में प्रकाशित हैं। इसके बाद 'बालावबोध' संज्ञक भाषा-टीकाओं का रचा जाना बराबर चालू रहा है।

राजस्थानी का प्राचीन जैन गद्य साहित्य बहुत ही विशाल है। इसका परिमाण पांच-सात लाख श्लोक तक पहुँच जाएगा। विशालता के साथ-साथ इसकी विविधता भी कम नहीं है। जैन-ग्रन्थों के अतिरिक्त जीवनोपयोगी प्रत्येक ग्रन्थों की भाषा टीकाएँ जैन विद्वानों ने की हैं। अतः व्याकरण, छन्द, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-यंत्र, कामशास्त्र व ऐतिहासिक ग्रन्थ भी गद्य में मिलते हैं। सभाशृंगार, वाग्विलास आदि नामों से जो विविध वर्णन संग्रह रूप ग्रन्थ मिलते हैं, वे तो बहुत ही महत्व के हैं। उस तुकान्त-प्रधान व प्रवाहशाली गद्य को 'गद्य काव्य' की संज्ञा दी जा सकती है। संवत् १४७८ में रचित पृथ्वीचन्द-चरित में सर्व प्रथम ऐसे वर्णन दृष्टि गोचर होते हैं। ग्रन्थकार को कथा का आश्रय लेकर उसे सुन्दर वर्णन संग्रह बनाना इष्ट प्रतीत होता था। इसलिए इसका नाम 'वाग्विलास' रखा गया। माणिक्य सुन्दर सूरि की यह महत्वपूर्ण कृति 'प्राचीन गुजराती गद्य संग्रह' और 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' में प्रकाशित हो चुकी है। अतः पाठकों को उसका रसास्वादन स्वयं ग्रंथ पढ़कर प्राप्त करना उचित होगा। ऐसे स्वतंत्र वर्णन-संग्रहों की भी कई प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका कुछ परिचय उदाहरणों के साथ 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित 'कतिपय वर्णनात्मक गद्य ग्रन्थ' शीर्षक लेख में प्रकाशित किया गया है। ऐसे ग्रन्थों की भी एक परम्परा रही है। जैन विद्वानों के रचित १५ वीं से १८ वीं शताब्दी तक के ऐसे सात-आठ संग्रह-ग्रन्थ और कुछ फुटकर वर्णन प्राप्त होते हैं। चारण कवियों के रचित ऐसे दो ग्रन्थ १८ वीं और १९ वीं शताब्दी के मिले हैं, जिनके नाम 'गांगे व नीबावत रो दोपहरो' और 'राजान रावत से बात बणाव' है।

इनमें से बात बणाव के वर्णन तो बहुत ही सुन्दर एवं विस्तृत हैं। ये दोनों ग्रन्थ स्वामी नरोत्तमदास जी से संपादित होकर राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशित होने वाले हैं। उपर्युक्त जैन विद्वानों के वर्णन संग्रहात्मक ग्रन्थों का भी संपादन मैंने किया है, जो नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से छप रहा है।

राजस्थानी गद्य ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों पर है और वे विविध प्रकार के हैं। प्रारंभिक बालावबोध आदि रचनाओं के निर्माण का उद्देश्य साधारण व्यक्तियों को सुगमता से बोध दिये जाने का ही रहा है। अतः इनकी भाषा

बहुत सीधी-साधी व सरल है। बीच-बीच में प्रसंगानुसार कथाएँ देकर ग्रन्थों के भावों को हृदयंगम करने में और भी सुगमता कर दी गई है। वर्णन-प्रधान ग्रन्थों की भाषा व शैली बहुत छटादार और रोचक है।

राजस्थानी गद्य रचनाओं का परिचय देने से पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं एवं प्रकारों का भी विवरण दे देना आवश्यक है। जैन आगम और औपदेशिक ग्रन्थों की भाषा टीकाओं की संज्ञा 'बालावबोध' और 'टब्बा' है, ये दो हैं भी प्रधान। मूल ग्रन्थ की शब्दार्थ-रूप में लिखी जाने वाली संक्षिप्त भाषा टीका 'टब्बा' के नाम से प्रसिद्ध है। हस्त लिखित प्रतियों में बीच में पंक्ति-बद्ध बड़े अक्षरों में मूल पाठ रहता है। और उसका शब्दार्थ उससे ऊपर की पंक्ति में छोटे अक्षरों में लिखा जाता है। बालावबोध विस्तृत भाषा टीका का नाम है। उसमें मूलपाठ थोड़ा रहता है। बहुत बार तो उसकी संक्षिप्त सूचना ही रहती है; विवेचन विस्तार से रहता है। प्रसंग-प्रसंग पर कथाएँ देकर भी ग्रन्थ के भावों को विशद रूप से स्पष्ट किया जाता है।

भाषा टीकाओं की तीसरी संज्ञा 'वचनिका' भी पाई जाती है। साधारणतया भाषा टीकाओं की भाषा अर्थात् लोक भाषा में रचे जाने की सूचना रूप संज्ञा 'भाषा' भी व्यवहृत देखी जाती है। किसी ग्रन्थ का लोक भाषा में पद्यानुवाद किया गया हो, उसके लिए भी भाषा शब्द व्यवहृत मिलता है, जैसे 'नवतत्व भाषा' 'जीव विचार भाषा' आदि। भाषा टीकाओं के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रन्थ भी गद्य में लिखे गए हैं। ये तीन प्रकार के हैं—सैद्धान्तिक, कथात्मक और ऐतिहासिक। सैद्धान्तिक ग्रन्थों में कई तो तत्त्वज्ञान को सुबोध बनाने के लिए और कई खण्डन-मण्डन के लिए और कई प्रश्नोत्तरों के रूप में प्राप्त हैं। कथात्मक ग्रन्थ किसी कथा ग्रन्थ के अनुवाद रूप में भी होते हैं और मौलिक भी। ऐतिहासिक ग्रन्थों में पट्टावलियाँ, वंशावलियाँ आदि मुख्य हैं। श्रीपूज्यों की दफ्तर बहियों में, वे जहाँ जहाँ पर विहार करते हैं, वहाँ के ग्रामों और श्रावकों और उनकी दी हुई भक्ति और शिष्यों को दी गई दीक्षाओं की नोंध आदि का इतिवृत्त रहता है। राजस्थानी गद्य में कुछ ऐतिहासिक शिलालेख भी लिखे गए हैं, जिनमें जैसलमेर के निकटवर्ती अमरसर के बाफना हिम्मतराय जी के मंदिर वाला ६६ पंक्तियों का महत्वपूर्ण बृहत् शिलालेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजस्थानी भाषा में लिखा गया इतना बड़ा शिलालेख और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस लेख में संवत् १८८१ में जैसलमेर से खरतर-गच्छीय जिनमहेन्द्र सूरि की अध्यक्षता में बाफना सवाईराम जी, मगनीराम जी

आदि ने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा का बड़ा संघ निकाला था, उसका ऐतिहासिक वर्णन है। यह संघ भी अपने ढंग का एक ही था। मुनि जिनविजय जी ने जैन साहित्य संशोधक में इसे "अप्रतिम, अपूर्व एवं अद्वितीय" बताया है। इस शिलालेख को संवत् १८९६ में जिनमहेन्द्र सूरि के आज्ञानुयायी मुनि केशरीचन्द ने लिखा है। इसके पश्चात् संवत् १९२८ में इसी वंश वालों ने मंदिर बनाया। इसके शिलालेख में भी आधा अंश राजस्थानी भाषा का है। ये दोनों लेख स्व० बाबू पूर्णचन्द जी नाहर द्वारा संपादित 'जैन लेख संग्रह' के तृतीय खण्ड में प्रकाशित हो चुके हैं।

चिट्ठी-पत्री व्यवहार के पत्रों से भी तत्कालीन गद्य का अच्छा परिचय मिल जाता है। खेद है कि बहुत से व्यक्तियों ने पुरानी चिट्ठी पत्रियों को निकम्मी समझकर ऐसे ही नष्ट होने दिया है। जैन भण्डारों में प्राचीन कुछ पत्र सुरक्षित हैं। १७ वीं शताब्दी से अब तक के बहुत से श्रीपूज्यों के आदेशपत्र, पर्युषणों के समाचार पत्र, श्रावकों की ओर से दिये गए 'वीनती-पत्र', यतियों द्वारा श्रीपूज्यों को और अपने श्रावकों एवं सहधर्मियों को दिये गए पत्र सैकड़ों की संख्या में मैंने संग्रह कर रक्खे हैं। इनमें से कई पत्रों में तत्कालीन इतिहास की सामग्री भी सुरक्षित है।

लोक भाषा में रचित पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ १५ वीं शताब्दी से प्राप्त हैं। उपलब्ध गद्य गुर्वावलियों में विशिष्ट तुकान्त शैली में लिखी एवं सबसे प्राचीन तपागच्छ गुर्वावली की सं० १४८२ की लिखित प्रति हमारे संग्रह में है। जिसे स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने 'भारतीय विद्या' वर्ष १ अंक २ में प्रकाशित भी कर दिया है। उसके परवर्ती खरतरगच्छ, तपागच्छ, लोंकागच्छ आदि की भाषा पट्टावलियाँ बहुत सी उपलब्ध हैं, जिनमें से कइयों का गद्य बहुत सुन्दर है।

वंशावलियों में अधिकतर किसी वंश व गोत्र (पुत्र पौत्रादि संतति) की परम्परा की नामावली रहती है। १६ वीं शताब्दी से अब तक की बहुत सी वंशावलियाँ प्राप्त हैं। जिनमें से संवत् १६१२ से अब तक की कुछ मेरे संग्रह में भी हैं। इनमें नामों के अतिरिक्त कहीं-कहीं उन व्यक्तियों के किये गए विशेष कार्यों की नोंध भी रहती है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी मूल्यवान होती है। कभी-कभी तो उनसे हमारे राजकीय इतिहास की ऐसी विशेष बातों का पता चल जाता है, जिनकी जानकारी के लिए अन्यत्र कहीं भी साधन प्राप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ—सं० १६०० में जोधपुर राज्य शेरशाह के कब्जे में

आ गया था। उसे वापिस प्राप्त कराने का श्रेय जैन श्रावक गदहिया तेजा को है पर इसका उल्लेख किसी भी ख्यात आदि में प्राप्त न था। मुझे अपने संग्रह की वंशावली से ही इसकी सूचना मिली है। कई वंशावलियों में गोत्रों की उत्पत्ति और उस गोत्र के विशेष व्यक्तियों के किये गए कार्यों का विस्तृत वर्णन भी मिलता है, जिससे कई नवीन तथ्य प्रकाश में आते हैं। उदाहरणार्थ-हमारे संग्रह की 'बच्छावत वंशावली' है, उसमें मंत्रीवर कर्मचन्द्र के पुत्र भाग्यचंद और लक्ष्मीचंद को बीकानेर के महाराजा सूरसिंह जी ने किस प्रकार विश्वासघात कर अचानक घेरा डालकर मरवाया—इसका प्रामाणिक वर्णन है। जिसका आवश्यक अंश हमने अपने 'युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि' ग्रन्थ की टिप्पणी में उद्‌धृत किया है। ये वंशावलियाँ जैन यतियों, कुल गुरुओं, महात्माओं एवं भाटों द्वारा लिखी गई हैं।

जैन कवियों द्वारा लिखित गद्य ग्रन्थों में मजलस एवं दवावेत संज्ञक रचनाएं भी मिली हैं। जिनसुख सूरि ने मजलस, और जिनलाभ सूरि ने दवावेत हिन्दी भाषा में लिखी हैं और फारसी आदि के शब्दों का इनमें छूट से व्यवहार किया गया है। चारण कवियों के दवावेतों की भाषा भी हिन्दी है। रघुनाथ रूपक में इसके लक्षण, भेद व उदाहरण पाये जाते हैं। यद्यपि इन दोनों संज्ञाओं वाली गद्य रचनाएं अल्प ही प्राप्त हैं।

राजस्थानी के जैन गद्य ग्रंथ अधिकांश भाषाटीका के रूप में हैं मौलिक कम हैं। जो मूल ग्रंथ प्राकृत एवं संस्कृत में रचे गए थे, वे जन-साधारण के समझने में बिना भाषा टीकाओं के आ नहीं सकते थे। आवश्यकता की पुकार ने बोलचाल की भाषा में उन ग्रन्थों का अनुवाद कराया। जैसा कि पहले बताया गया है, जो प्राचीन गद्य रचनाएँ मिली हैं, वे सभी श्रावकों के नित्य काम में आने वाली पठनीय रचनाएँ हैं। जैसे नवकार मंत्र नित्य स्मरणीय है। अतिचार भी पाक्षिक प्रतिक्रमण में बोले जाते हैं। इनके द्वारा व्रतों के दूषणों का परिहार किया जाता है। आराधना में भी अकरणीय पाप कार्यों की आलोचना की गई है। और सर्वतीर्थ-नमस्कार में देवलोक, पर्वत आदि में रहे हुए जैन मंदिर और प्रतिमाओं को नमस्कार किया गया है। तत्परवर्ती बड़ी रचना सं० १४११ में पाटन के मंत्री दलीय श्रावक बलिराज की अभ्यर्थना से रचित बड़ा रूपक बालावबोध है। उसमें श्रावकों एवं साधुओं के लिए प्रातः एवं सायंकाल के छः आवश्यक कर्तव्यों की विधि एवं विवेचन है। उनके नाम हैं—१ सामायिक—समभाव

पूर्वक पाप कार्यों का त्यागकर ४८ मिनट तक स्वाध्याय ध्यान करना, २. चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति), ३. गुरु वंदन, ४. प्रतिक्रमण—पापों से पीछे हटना, ५. कायोत्सर्ग—देहात्म बुद्धि से हटना और ६. प्रत्याख्यान—पाप न करने और तपश्चर्या आदि धर्म करने की प्रतिज्ञा लेना।

इसी प्रकार उपदेशमाला, पुष्पमाला, शीलोपदेश माला आदि औपदेशिक ग्रंथों एवं षष्टिशतक गौतम, पृच्छा आदि ग्रन्थों और कल्याण मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों—जो कि नित्य पढ़ने एवं सुनने लायक ग्रन्थ हैं—का विवेचन भाषा में बालावबोध के नाम से किया गया है। फिर सैद्धान्तिक ग्रन्थों और आगमों की भी भाषाटीकाएँ की गई है। साथ-साथ प्रश्नोत्तर के रूप में और कथाओं आदि के मौलिक ग्रंथ भी लिखे गए। प्राचीन अंग-उपांग और आगमों, जिनका श्रावकों के लिए पढ़ना निषिद्ध था—का लोकभाषा में विवेचन सर्व प्रथम पार्श्वचन्द्र सूरि ने किया। इसके बाद तो प्रायः सभी आगमों के अनेक टब्बे और बालावबोध रचे गए। इससे इन ग्रंथों के पठन-पाठन एवं प्रचार में बड़ी सुगमता उपस्थित हो गई।

पंद्रहवीं शताब्दी में तरुणप्रभ सूरि के बाद माणिक्यसुन्दर सूरि ने वर्णनात्मक कथा ग्रन्थ पृथ्वीचन्द चरित्र सं० १४७८ में बनाया। इसी के आसपास उपदेश माला और कल्याण मन्दिर का बालावबोध लिखा गया। इस शताब्दी के उल्लेखनीय गद्य लेखकों में सोमसुन्दर सूरि हुए, जिन्होंने संवत् १४८५ में उपदेश माला बालावबोध, १४९६ में षष्टि-शतक बालावबोध और योगशास्त्र, भक्तामर, पर्यन्ताराधना, आवश्यक बालावबोध आदि बनाए। संवत् १४९७ में तपागच्छीय दयासिंह गणि ने संग्रहणी और क्षेत्र-समास के बालावबोध बनाए। १६ वीं शताब्दी में यह परम्परा जोरों से चली और अनेक ग्रन्थों की भाषाटीकाएँ लिखी जाने के साथ-साथ प्रश्नोत्तर आदि के मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गए। इस शताब्दी के प्रारम्भ में हेमहंस गणि ने सं० १५०१ में षडावश्यक बालावबोध, फिर माणिक्यसुन्दर सूरि ने भव भावना बालावबोध, जिनसूरि ने गौतम पृच्छा बालावबोध, संवेगदेव ने संवत् १५१३ में पिण्ड-विशुद्धि, आवश्यक और चउसरण पयन्ना की भाषाटीका बनाई। सं० १५१७ में आसचन्द्र ने कल्पसूत्र बालावबोध बनाया। इसके बाद मेरुसुन्दर और पार्श्वचन्द्र सूरि दो बड़े गद्य लेखक हुए, जिनके रचित १०–१५ ग्रन्थों के बालावबोध प्राप्त हैं। पार्श्वचन्द्र सूरि ने तो आगम ग्रंथों का ही विवेचन किया पर मेरु सुन्दर ने प्रकरणों के अतिरिक्त छन्द, अलंकार आदि के ग्रंथों की भाषा

टीकाएँ भी बनाईं। इनका कुछ परिचय हम अपने 'युग प्रधान जिनदत्त सूरि' ग्रन्थ में दे चुके हैं। सोमसुन्दर सूरि के षष्टि शतक बालावबोध के साथ मेरुसुन्दर का उसी नाम वाला ग्रंथ डॉ० भोगीलाल सांडेसरा से सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। इसी शती के मौलिक कथा ग्रन्थों में कालक-कथा, मुनिपति चरित्र, १२ व्रत कथादि की प्रतियाँ प्राप्त हैं।

१७वीं शताब्दी में आगमादि की भाषा टीकाओं के अतिरिक्त कुछ प्रश्नोत्तर ग्रंथ और जम्बू कथा, कादम्बरी, धूर्ताख्यान आदि मौलिक कथाएँ भी गद्य में लिखी गईं। और यह परम्परा पीछे भी बराबर चालू रही। यहाँ उन सब का विवरण देना सम्भव नहीं। 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ के पृ०१५७१ से १७०३ तक में गद्य राजस्थानी और गुजराती जैन ग्रन्थों का विवरण प्रकाशित है।

अभी प्राचीन गद्य रचनाएँ बहुत ही कम प्रकाशित हुई हैं। अतः भिन्न-भिन्न लेखकों की विविध प्रकार की गद्य रचनाओं का संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित होना अत्यावश्यक है। वैसे उनके स्वरूप के संबन्ध में प्रो० मंजुलाल मजूमदार का 'गुजराती साहित्यनो स्वरूपो' का द्वितीय भाग शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

[पृष्ठ ९ का शेष]

भारतीय नियुक्त किये गए। २५ अगस्त का दिन हमारे लिए उस शुभ प्रसंग की याद दिलाता है जब १९४३ में नेता जी ने आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व अपने हाथ में लिया।

विशुद्ध भारतीय दृष्टि से भी देखा जाय तो श्रावण मास में कई महत्व की तिथियां पड़ती हैं। सावन की तीज तो महिलाओं का प्रमुख त्योहार है ही। नाग पंचमी और रक्षाबंधन भी हमारे सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में महत्व का स्थान रखते हैं। हिन्दी काव्य जगत के जगमगाते नक्षत्र गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म भी इसी माह में हुआ था। रामचरित मानस के रूप में उन्होंने लोक रुचि, लोक संस्कृति और लोक व्यवहार का जो चित्र उपस्थित किया है, वह विश्व साहित्य में दुर्लभ है।

महिला जगत

जब आप घर से अकेली निकलें

—कुमारी रूपलेखा वर्मा

एक ओर आधुनिक नारियों में आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति जितनी तेजी से बढ़ रही है उतनी ही गुण्डों और बदमाशों की हरकतें भी बढ़ती जा रही हैं। आए दिन अक्सर अखबारों में इस प्रकार के समाचार पढ़ने को मिलते रहते हैं और इसका परिणाम यह हो रहा है कि बहनों का अकेली निकलना मुश्किल हो गया है। जो बहनें कहीं टाइपिस्ट, नर्स अथवा शिक्षिका का कार्य करती हैं उनके लिए और भी परेशानी है क्योंकि इन्हें निश्चित समय पर ही प्रतिदिन घर से निकलना पड़ता है और ठीक समय पर आफिस पहुँचना पड़ता है। लौटते समय भी ठीक समय पर ही ये स्कूलों, अस्पतालों या कार्यालयों से निकलती हैं। लौटते समय उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी घर से जाते समय, क्योंकि लौटते समय अक्सर सहयोगी बहनें अथवा सहेलियाँ साथ मिल जाती हैं। पर जो बहनें ट्यूशन कर के अपना काम चलाती हैं, उन की समस्या बड़ी ही विषम है। कार्यालयों, अस्पतालों आदि में काम करने वाली बहनों को कम से कम इतनी निश्चिन्तता तो रहती ही है कि उन के कार्यालय, स्कूल या अस्पताल खुली सड़कों पर होते हैं, पर ट्यूशन करने वाली बहनों को अक्सर अन्दर गलियों में जाना पड़ता है और ट्यूशन पर जाने के लिए भी अक्सर उन्हें शाम का ही समय मिलता है तथा लौटते समय अंधेरा हो जाता है। अतः ऐसी बहनों को अधिक सतर्क रहना पड़ता है।

प्रत्येक बहन के लिए सब से पहले जिस बात की आवश्यकता है वह यह कि उस में आत्मविश्वास एवं साहस पर्याप्त मात्रा में हो तथा किसी भी स्थिति का सामना करने की क्षमता हो। विपत्ति से एकाएक घबड़ा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि गुण्डों से, कब और किस स्थिति में पाला पड़ेगा यह कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आजकल गुण्डों और सभ्य पुरुषों की पहचान भी सरलता से नहीं की जा सकती। जो व्यक्ति देखने में सभ्य, शिक्षित और सीधा-सादा मालूम पड़ता है, कोई आश्चर्य नहीं यदि वह गुण्डा निकले। अतः घर से अकेली बाहर निकलने वाली प्रत्येक बहन को अपने आप में दृढ़

निश्चयी, धैर्यवान और साहसी होना अत्यन्त आवश्यक है। कभी भी बहनों को बाहर निकलने का अवसर पड़े, उन्हें चाहिए कि साथ में घर के या परिचित किसी छोटे-व्यक्ति को साथ में अवश्य ले लें। यदि अकेली ही जाना पड़े तो आगे चलने वाले पुरुष या स्त्री के पीछे इस ढंग से चलें कि कोई व्यक्ति यह न जान सके कि आप अकेली हैं। देखने वाले यही समझें कि आप आगे वाले पुरुष या स्त्री के साथ हैं। जहाँ तक बने कोशिश यही करें कि आप सवारी पर जाएँ। यदि गन्तव्य स्थान किसी गली में हो तब आप काफी सतर्क रहें। वहाँ अकेली जाने का कम से कम अवसर आने दें।

आजकल बहनें घर से बाहर निकलते समय खूब सज-धज कर निकलती हैं, यह उनकी बहुत बड़ी गलती है। प्रत्येक बहन को चाहिए कि लोगों को अपनी ओर आकर्षित होने का कम से कम अवसर दें। किसी बहन के पीछे यदि कभी गुण्डे लग जाते हैं तो उस में उस बहन का भी कुछ कम दोष नहीं है।

अकेली निकलने वाली बहनों को साधारणतः उन सड़कों पर से चलना चाहिए जहाँ लोगों का आना-जाना अधिक रहता हो। मार्ग में यदि कोई परिचित व्यक्ति मिल जाय, वह भले ही छोटा क्यों न हो, उस से बात न कर चुपचाप अपने रास्ते चलना चाहिए क्योंकि अकेली स्त्री यदि मार्ग में चलते किसी परिचित व्यक्ति से भी बात करने लगती है तो भी लोगों की दृष्टि में सन्देह की पात्र बन जाती है। लोग उस के विषय में तरह-तरह की शंकाएं करने लगते हैं। जहाँ तक अपरिचित व्यक्ति का प्रश्न है वह कभी किसी स्त्री को मार्ग में रोकने या उस से बातचीत करने का प्रयत्न ही नहीं करेगा। यदि कभी कर भी बैठे तो उसे बिना किसी प्रकार का उत्तर दिये अपने रास्ते चलें। वह व्यक्ति यदि समझदार होगा तो आप के इस व्यवहार से न तो नाराज ही होगा और न पुनः बात करने की कोशिश करेगा। यदि उस के मन में पाप होगा तो पुनः बात करने की कोशिश करेगा और लोगों के सन्देह का पात्र बनेगा। अक्सर रास्ते में चलते-चलते कार या किसी अन्य सवारी पर कोई परिचित व्यक्ति मिल जाता है और वह सवारी में बैठा कर आप को पहुँचाने को कहता है। यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाय तो जहाँ तक बने उसे नम्रता पूर्वक मना कर दें क्योंकि कई बार इस प्रकार की स्थितियों ने बहुत सी बहनों का जीवन बरबाद कर दिया है।

[शेष पृष्ठ ३५ पर]

अमानवीय प्रवृत्ति मांसाहार

अखिल भारतीय जीवदया सम्मेलन के प्रधानमंत्री श्री तनसुखरायजैन
के एक लेख का सारगर्भित अंश

मांसाहार की ओर दिन प्रतिदिन जन साधारण का बढ़ता हुआ झुकाव आज के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के लिए समस्या बना हुआ है। आज की बढ़ती हुई मांसाहार प्रवृत्ति और हत्याकारक मनोवृत्ति ने देश तथा मानव समाज में ही नहीं, वरन जीव मात्र में एक जबरदस्त तूफान सा खड़ा कर दिया है। सबसे बड़ा दुःख तो हमें इस बात से होता है कि भारत जैसे धर्म प्राण देश में ही यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही है। यहां से प्रति माह लाखों टन मांस पाश्चात्य देशों को भेजा जाता है। स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति पाश्चात्य देशों से ही भारत में आई और अधिकांश मांसाहारी बन्धु पाश्चात्य लोगों का उदाहरण देकर ही अपना पक्ष समर्थन करते हैं। पर इधर पाश्चात्य देशों में इस विषय में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ के लोगों की राय बदल रही है। और अब वे पुनः अपने प्राकृतिक आहार की ओर लौट रहे हैं। उनकी राय में और चाहे जो कुछ हो पर इतना निश्चित है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। पाठकों के लाभार्थ हम नीचे कुछ पाश्चात्य डाक्टरों के मत दे रहे हैं जिनसे आप जान सकेंगे कि मांसाहार मनुष्य के लिए कितना कष्टकर एवं हानिप्रद है—

१—लन्दन के डा० एलेक्समार्सडन एफ०आर०सी०एस० ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा है कि बाजार में बेचा जाने वाला मांस वस्तुतः रोगी पशुओं का होता है जिसके कारण क्षय रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

२—मांस का अधिक उपयोग करने वाले देशों में चिकागो का स्थान प्रमुख है। वहाँ के डाक्टरों ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि मांसाहार के कारण ८१ प्रतिशत नासूर रोग की वृद्धि हुई है। कोपेनहेग और म्यूनिच में तो इस रोग ने भीषण रूप धारण कर लिया था। इसी तरह जब अन्य प्रदेशों की रिपोर्टों को मिलाया गया तो १९ देशों में इस रोग की अधिकता निकली।

३—डा० डग्लस मेकडोनल्ड ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि मांसाहार से यूरिक एसिड की वृद्धि होती है। यूरिक एसिड नासूर के दर्द की उत्पत्ति का प्रधान कारण है। डा० विलियम्स राबर्ट ने भी यही कहा है।

४—इंगलैंड के प्रसिद्ध डा० सर जेम्स सीयर का कहना है कि मेरे गहरे अनुभव के बाद यही सिद्ध हुआ है कि इंग्लैंड में नासूर के रोग की वृद्धि का प्रमुख कारण मांस की खुराक का बढ़ना ही है।

५—डा० जे० एच० केलाग ने भी अपने अनुभव के आधार पर बतलाया है कि ४ वर्ष पुराने नासूर के रोगी को मैंने मांसाहार का त्याग कराकर इस रोग से मुक्ति दिलाई।

६—डा० हैग का विश्वास है कि अन्न, फल और शाक के आहार से यह रोग होता ही नहीं।

इसी प्रकार अन्य बहुत से डाक्टरों ने अपने अनुभव के आधार पर एक स्वर से यही कहा है कि नाक, कान, दांत, क्षय रोग, दूसरे प्रकार के अनेक दर्द, टायफाइड, संग्रहणी, हृदय रोग, एपेण्डीसाइटिस, डिस्पेप्सीथा, पायरिया आदि अनेक रोग मांसाहार के कारण ही होते हैं।

ऊपर हमने जिन डाक्टरों के मत उद्धृत किए हैं वे उन देशों के हैं, जहाँ मांसाहार की प्रवृति बहुत ही ज्यादा बढ़ी-चढ़ी है। उन्होंने कभी मांसाहार का समर्थन नहीं किया बल्कि कटु शब्दों में इसकी भर्त्सना की है और यह सप्रमाण साबित कर दिया है कि ८० प्रतिशत रोग मांसाहार के कारण ही होते हैं।

अपने नफ़े के वास्ते मत और का नुकसान कर
तेरा भी नुक्सां होयगा इस बात पर तू ध्यान कर
खाना जो खा तो देखकर, पानी जो पी तो छानकर
या पांव को रख फूँककर और खौफ से गुज़रान कर
कल-युग नहीं कर-जुग है यह, यां दिन को दे और रात ले
क्या खूब सौदा नक़द है इस हाथ दे उस हाथ ले।

× × × ×

खूँ के दरिया बह गए, आलम तहोबाला हुए,
ऐ सिकन्दर किस लिए? दो ग़ज़ ज़मीं के वास्ते!

वर्षा ऋतु का आहार-विहार

—वैद्यराज पं० सुन्दर लाल जैन

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में ऋतुओं के अनुसार बतलाये हुए पथ्यापथ्य का आचरण करने को ही ऋतु चर्या कहा है। आयुर्वेद में ऋतुओं का विभाजन षट ऋतु के रूप में किया गया है। उसी के अनुसार ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन होता है। आजकल वर्षा ऋतु चल रही है। वैसे लोकाचार के मत से भी ग्रीष्म, वर्षा, शीत ये ऋतुएं प्रधान मानी जाती हैं। वर्षा ऋतु में बादलों के घिरे रहने से वात का प्रकोप होने, सूर्य के दर्शन न होने, वर्षा अधिक होने, या रिमझिम होते रहने आदि कारण स्वरूप, वायु मंडल में आर्द्रता बनी रहने से पित्त की कमी होकर तापमान काफी गिरकर प्रकृति के नियमानुसार प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को मन्दाग्नि हो जाती है।

चरकाचार्य ने भी लिखा है कि इस ऋतु में वर्षा होने से जल दूषित होकर उसका अम्लपाक होता है। पृथ्वी से शीत अबखरे उठते हैं, इस कारण इस ऋतु में प्राणियों का अग्निबल क्षीण हो जाता है। इस ऋतु में कभी सर्दी, कभी गर्मी और कभी २ वसन्त सा मालूम होने लगता है। इस कारण इस ऋतु में अम्ल तथा खट्टे रस की वृद्धि होकर मनुष्य का बल तथा अग्नि क्षीण हो जाती है।

वर्षा ऋतु में होने वाली बीमारियों का आक्रमण—इस ऋतु में मिथ्या आहार विहार करने से शरीर की कार्य प्रणाली यहां तक कि अन्न को पचाने वाली क्रिया, जिस पर हमारे शरीर का दारोमदार है, बिगड़ जाती है। इससे अनेक बीमारियों का आक्रमण होता है। जैसे—मलावरोध, पेचिश, अतीसार, संग्रहणी, प्रतिश्याय, अन्त्र-विकार, अपचन, रक्त विकार, फोड़ा, फुंसी और मलेरिया आदि। हैजा (विशूचिका) भी अपना असर नहीं छोड़ता। देश, काल, प्रकृति के विपरीत खाना-पीना, चलना-फिरना, कार्य करना, संयोग विरुद्ध भोजन करना, दूध और मछली, दही और मूली आदि एक साथ खाना, अनियमित समय पर भोजन करना, कभी ज्यादा कभी कम भोजन करना, पाचन शक्ति से अधिक बिना इच्छा के भोजन करना, भूख लगने पर भोजन नहीं करना, अजीर्ण होने पर भी भोजन करना, अति स्त्री प्रसंग करना, धूप में घूमना, विषैली हवादार गंदी जगह में घूमना, बरसाती पानी से भींगना, गीले

वस्त्र अधिक समय तक पहने रहना, नंगे पैर वर्षा में घूमना, अति परिश्रम या स्त्री प्रसंग करके तत्काल स्नान करना—ये सब मिथ्या आहार-विहार हैं। इन दिनों घर में जूठन, गंदी चीजों का बहुत समय तक पड़ा रखना, घर के अंदर की नालियों में गंदापन रखना, गीले स्थान में रहना, वर्षा के नवीन जल का सेवन, नदी, तालाब, कुआ आदि में गंदले पानी का होना स्वाभाविक ही है। वर्षा में नवीन तरकारियों की भी भरमार रहती है। इनका तथा सड़ी, गली, बासी वस्तुओं का सेवन करने आदि कारणों से वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष कुपित होकर उपयुक्त बीमारियों को पैदा करते हैं।

सच पूछा जाय तो प्राकृतिक शरीर शुद्धि के लिए ही इस ऋतु को प्रकृति न बनाया है। प्रत्येक ऋतु प्राकृतिक नियमानुसार समय समय पर प्राणीमात्र के के लिए खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करती है। जो प्राणी प्राकृतिक नियमों के अनुसार खान-पान रहन-सहन करते हैं, वे इन ऋतुओं के दोष तथा ऋतु दोष से होने वाली बीमारियों के आक्रमण से बचे रहते हैं। वर्षा ऋतु में ग्रीष्म ऋतु का संचित हुआ कफ जो शरीर के अंगों में यत्र-तत्र चिपक जाता है किसी न किसी भयंकर बीमारी को उत्पन्न कर देता है। वर्षा ऋतु संचित हुए कफ को जल के द्वारा बाहर निकाल कर फेंक देती है। वर्षा ऋतु जिस प्रकार जल सिंचन करके सारी पृथ्वी को धोकर साफ (निर्मल) कर देती है उसी प्रकार हमारे शरीर के अन्दर अन्य ऋतुओं के संचित हुए दोषों को अपने जल सिंचन के द्वारा बाहर निकालने का कार्य करती है। यही इस वर्षा ऋतु की विशेषता है।

माधवाचार्य ने लिखा है कि सब बीमारियों की जड़ है मल का दूषित होना। कहा भी है कि "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।" अतएव मल को शुद्ध करने के लिए एनिमा का प्रयोग करना चाहिए या वर्षा ऋतु का स्वच्छ जल, कागजी नींबू, खीरा ककड़ी, तरोई, लौकी, परवल, आम, जामुन, जायफल, भुट्टा, नारियल, अंगूर, नासपाती, सेव, आड़ू, खुमानी, आलूबुखारा, खट्टे मीठे फल, नमक, घृत, तैल, जौ गेहूं, पुराने शाली चावल, गर्म करके शीतल किया हुआ जल, ये सब शरीर व मल शोधन के साथ साथ शारीरिक शक्ति भी प्रदान करते हैं।

प्रतिबंधक उपाय—हमारे ऋषि, मुनियों ने इस ऋतु में सभी धर्म वालों के लिए सभी तरह के त्यौहारों की स्थापना की है। इस ऋतु में धर्म शास्त्रों के प्रणेताओं ने व्रत-उपवास आदि करने का जो विधान किया है, उसका प्रधान

उद्देश्य शरीर-शुद्धि ही है। परंतु आजकल इससे बिल्कुल विपरीत होता है। व्रत-उपवास के दिनों में गरिष्ठ, भारी तरमाल खाने का दौर दौरा रहता है। जिह्वा के वशीभूत न होकर इन पदार्थों का त्याग करना चाहिए। व्रत-उपवास के दिनों में लंघन करना चाहिए, यदि लंघन न कर सकें तो गर्म पानी में नींबू का रस डालकर दिन में २-३ बार पीना चाहिए। अथवा शहद को पानी में डालकर या तुलसी की चाय व फलों का रस सेवन करना चाहिए।

इस ऋतु में गुरु एवं वातकारक अन्न का त्याग कर, नींबू, शहद, मीठे, खट्टे फल, हलका, लघुपाकी भोजन, नमक, घृत, तैल, जौ, गेंहूं, पुराना चावल, मूँग का यूष, कुलथी का यूष, गर्म किया हुआ शीतल जल, तैल का मर्दन, स्नान, स्वच्छ महीन कपड़े, प्याज, लहसुन, पोदीना, अनारदाना आदि की चटनी, प्याज व अदरख को कतरकर उसमें नमक व नींबू का रस मिलाकर सेवन करना, सायंकाल का भोजन सूर्य अस्त होने के पूर्व ही करना आदि पथ्य हैं। रात्रि को कपड़ा ओढ़ कर सोना, घर, कपड़ा आदि की सफाई रखना, घर में सुगंधित धूप, अगरबत्ती आदि जलाना, मच्छरों से बचने का उपाय करना, हलका व्यायाम, स्त्री प्रसंग नहीं करना, बरसाती जीव-जंतुओं से बचते रहना, प्रत्येक वस्तु देखकर उठाना-धरना, कपड़े फटकार कर पहनना, आदि बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। तुलसी की चाय, नींबू का रस गर्म पानी में डालकर पीना, तुलसी पत्र ७, काली मिर्च ७, काला नमक १॥ मासा—इन तीनों चीजों को १० तोला पानी में पीसकर प्रतिदिन प्रातःकाल पीना तथा नींबू, शहद, और प्याज का उपयोग भोजन के साथ अवश्य ही करना चाहिए। शरीर, वस्त्र, भोजन और स्थान आदि की पूर्ण सफाई रखना, मकान में सूर्य के प्रकाश के पहुंचने की व्यवस्था करना तथा आहार विहार में पथ्य पालन पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। बाजारू मिठाई आदि बासी, गरिष्ठ भोजन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

उपर्युक्त दिन चर्या से आप वर्षा ऋतु में रहिए। वर्षा ऋतु की मानव समाज को यह बड़ी भारी देन है कि जिस तरह भूमण्डल के समस्त जीव, पेड़, जड़ फूल पत्ते आदि समस्त प्रकृति हरी-भरी हो जाती है उसी प्रकार आप भी तन, मन से हरे-भरे होकर कर्म क्षेत्र में पूर्ण उत्साह और शक्ति से कार्य कीजिए, तथा पूर्ण स्वस्थ जीवन का लाभ लीजिए।

वैशाली और

दीर्घप्रज्ञ भगवान् महावीर

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

वैशाली संघ के आमंत्रण पर इस वर्ष डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल वहाँ गए थे। ता० २३ अप्रैल १९५६ को महावीर जयन्ती वाले दिन वैशाली महोत्सव पर उन्होंने जो महत्वपूर्ण भाषण दिया था, वह पाठकों के लिए दिलचस्प व ज्ञानवर्धक होने से यहाँ दिया जाता है।

सदसे नमः,

वैशाली महोत्सव के पुण्य अवसर पर आमंत्रित होकर आना मेरे लिए आपके अनुग्रह का फल है। यह पवित्र राजधानी भारत के सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास में चिर-विश्रुत है। यहीं लिच्छवि गणराज्य ने मानव की व्यक्तित्व-गरिमा, समता और स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये और इसी के समीप कुण्डग्राम में जन्म लेकर ज्ञातृवंशीय भगवान् महावीर ने मानव को चिर-प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाले उस महान् बुद्धिपरायण एवं साधना-प्रधान धर्म का उपदेश दिया, जो कहा जाता है, देवों में भी निष्फल गया था। विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ था। वे ७२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। अतएव ५४२ विक्रम पूर्व में उनका जन्म हुआ। उस दिन चैत्र शुक्ल त्रयोदशी थी। वही भगवान् महावीर की जयन्ती तिथि है। यह तिथि मानव के लिए नवीन आस्था और संकल्पवान् व्रतों का संदेश लाती है। सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के प्रति नूतन निष्ठा की जयन्ती के रूप में इस तिथि का महत्त्व है। अदत्तादान परित्याग और अपरिग्रह रूपी महाव्रतों की विजयपताका के रूप में यह जयन्ती तिथि बार-बार हमारे समक्ष आती रही है और प्रतिसंवत्सर में इसके भास्वर तेज का दर्शन हमें मिलता रहेगा। भगवान् महावीर महान् आदर्श के प्रतीक हैं। महाव्रतों की अखंड साधना से उन्होंने जीवन का बुद्धिगम्य मार्ग निर्धारित किया और स्थूल जड़ शरीर से ऊपर उठकर भावों की शाश्वत विजय का नवीन मानदंड स्थापित किया। मन, वाणी और कर्म की साधना उच्च अनन्त जीवन के लिए कोई

प्राणी कहाँ तक कर सकता है इसका उदाहरण तीर्थंकर महावीर का जीवन था। उस महान् धर्म-समुद्र के मेघ-जल सुदीर्घ काल तक बरसते रहे हैं। आगे भी वह अमृत जल प्रत्येक के जीवन को सींच सके, इसके लिए आवश्यक है कि हम उस आदर्श को अपने जीवन में यथाशक्ति उतारने का प्रयत्न करें। हमारे सदाचार की शीत वायु पाकर ही धर्म का दिव्य जल आकाश से पृथिवी पर आया करता है। अव्यक्त धर्मतत्त्व को जीवन में व्यक्त बना लेना ही मानव का बड़ा कौशल है।

धर्म-तत्त्व

यह धर्म-तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म, नित्य, व्यापक, देश-काल में सर्वत्र वितत महनीय भाव है। इसी की पूर्णतम सशक्त अभिव्यक्ति मानव का अध्यात्म-जीवन, नैतिक जीवन और सदाचार पर प्रतिष्ठित सामाजिक जीवन है। उसे ही सत्य कहते हैं। सत्य और धर्म पर्यायवाची हैं। प्रत्येक आचार्य, सिद्ध, केवली, ज्ञानी, ऋषि, बुद्ध, महात्मा, तीर्थंकर, महामानव इसी नित्य धर्म-तत्त्व को निज प्रयत्न से जीवन में प्रत्यक्ष करता है और उसका वह धर्ममय जीवन ही ही मानव का पथ-प्रदीप बनता है। शुद्ध धर्म-तत्त्व सम्प्रदायों की सीमा से सीमित नहीं होता। वह तो उन सब में अविभक्त रहता है। आकाशचारी मेघों के अमृत जल जिस प्रकार पृथिवी के स्वच्छ सरोवरों में संचित हो जाते हैं, ऐसे ही शाश्वत धर्म-तत्त्व के भाव मानवीय मन में पहले प्रत्यक्ष रूप में आते हैं और उसी शक्ति से भौतिक जीवन में अवतीर्ण होते हैं। धर्मान्वेषी संप्रदाय तो सत्य की प्रयोगशालाएँ मात्र हैं। किसी मत या पंथ का अनुयायी बनने मात्र से व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता। वह एकांगी गति है। मन, वचन और कर्म में सत्य की एक साथ गति ही सर्वांगीण गति है। वही सत्य सत्य है जो 'त्रिसत्य' हो, अर्थात् जो मन का सत्य है, वह वाणी का सत्य हो और जो मन-वाणी का सत्य है वही कर्म का भी सत्य बना हो। इस प्रकार का सत्य या धर्म विश्व का सच्चा आलोक है। वह विश्व-मानव के जीवन का चमकीला प्रकाश है। उसी के लिए कहा गया है—

नमो धर्माय महते, धर्मो धारयति प्रजाः

जिस तत्त्व से लोक में प्रजाओं के जीवन को सच्ची प्रतिष्ठा मिलती है, वे ही धारणात्मक नियम धर्म हैं। मनु, वेद-व्यास, वाल्मीकि इसी महार्घ धर्मतत्व की आराधना करते हैं। वाल्मीकि के 'रामो विग्रहवान् धर्मः' इस अनुभव में उस गुणसमष्टि की संज्ञा धर्म है, राम का जीवन तो

उसका प्रतीक मात्र है। भगवान् बुद्ध और तीर्थंकर महावीर ने उसी धर्म-तत्त्व को जीवन रूपी समुद्र के मंथन से प्राप्त किया था। यह अखंड दृष्टि ही धर्मों के समवाय की दृष्टि है। समवाय ही संप्रीति सहिष्णुता और सम्मिलन है। वह दिव्य असीम भाव है जिसकी छाया में व्यक्ति का मन विश्व के साथ एक होने के लिए उमँगता है। आज के मानव को इस समवाय दृष्टि की सबसे अधिक आवश्यकता है। विश्व के क्षितिज पर आज जिस नए मानव का जन्म हो रहा है, वह श्रेष्ठ, प्रज्ञाशील, मानव-प्रेम, सहानुभूति, मैत्री, करुणा आदि भावनाओं से प्रतिपालित विश्व मानव का स्वरूप है। जो धर्म इस विश्व मानव का निर्माण करने की क्षमता रखता है, वही उपादेय है। इस समय प्रत्येक धर्म को आत्मशुद्धि की अग्नि में तपना होगा। प्रत्येक धर्म इस कसौटी पर कसा जा रहा है। विश्व प्रेम की कंचनवर्णी रेखा धर्म के खरे-खोटेपन को प्रमाणित करानेवाली होगी। अतएव यह युग आत्मप्रशंसा या महता कंठ से अपने गुण-बखान करने का नहीं है। धर्म या मत-मतान्तरों को अपने शुद्ध हिरण्मय तेज को प्रकाशित करने की आवश्यकता जैसी इस समय है वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। धार्मिक चमत्कारों से, महात्माओं की सिद्धियों से, अथवा स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं से मानवी बुद्धि को व्यामोहित करने का युग सदा के लिए चला गया। सिद्धि और चमत्कार मानवी प्रज्ञा के शत्रु हैं। महावीर को आगमों में दीर्घप्रज्ञ कहा गया है। बुद्ध प्रज्ञा के महान् स्कंध या वृक्ष कहे गए हैं। कृष्ण का सबसे बड़ा वरदान बुद्धियोग की शिक्षा है। बुद्धि या प्रज्ञा या ज्ञान की आराधना ही मानव की मानवता है। भावुक व्यक्ति सिद्धि को ढूँढ़ता है। नैष्ठिक व्यक्ति स्वयं अपनी बुद्धि के धरातल पर आरूढ़ होकर प्रयत्न करता है और कर्मसिद्धि प्राप्त करता है। बुद्धिनिष्ठ मानव संघर्ष का आवाहन करता है। मनोऽनुगत मानव अनुकूलता या आराम से अभीष्ट पा लेना चाहता है। ऐसी भावना प्रज्ञाशून्य मानव की वृत्ति है।

श्रमण धर्म

ज्ञातृपुत्र महावीर को श्रमणधर्मा कहा गया है। प्राचीन भारतीय श्रमण धर्म की वास्तविक परम्परा जैसी महावीर के साधना-प्रधान धर्म में सुरक्षित पाई जाती है वैसी अन्यत्र नहीं। किन्तु इस श्रम का व्यापक अर्थ था। शरीर का श्रम श्रम है। बुद्धि का श्रम परिश्रम है। आत्मा का श्रम आश्रम है। एकतः श्रमः श्रमः। परितः श्रमः परिश्रमः। आ समन्तात् श्रमः आश्रमः।

एक में जो शरीर मात्र से अधूरा या अवयव श्रम किया जाता है वह श्रम है। एक में जो मन और शरीर की सहयुक्त शक्ति से पूरा श्रम किया जाता है, वह परिश्रम है। और सब के प्रति चारों ओर प्रसृत होने वाला जो श्रम भाव है वह आश्रम कहलाता है। ये तीन प्रकार के मानव होते हैं। केवल जो श्रमिक हैं, वे सीमित, जड़-भावापन्न, दुःखी और क्लान्त रहते हैं। जो अपने केन्द्र में जागरूक, शरीर और प्रज्ञा से सतत प्रयत्नशील रहते हैं वे दूसरी उच्चतर कोटि के प्राणी हैं। वे सुखी होते हुए भी स्वार्थ-निरत होते हैं। किन्तु तीसरी कोटि के उच्चतम प्राणी वे हैं जिनके मानस केन्द्र की रश्मियों का वितान समस्त विश्व में फैलता है और जिनका आत्मभाव सब के दुःख-सुख को अपना बना लेता है। ऐसे महानुभाव व्यक्ति ही सच्चे मानव हैं। वे ही विश्व-मानव, महामानव या श्रेष्ठ मानव होते हैं। ऐसे ही उदार मानव सच्ची श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि और प्रवर्तक थे। वे किसी निजी स्वार्थ या सीमित स्वार्थ की प्राप्ति या भोगलिप्सा के लिए अरण्यवास नहीं करते थे, वह सुख स्वार्थ तो उन्हें गृहस्थ जीवन में भी प्राप्त हो सकता था। अनन्त सुख की संयम द्वारा उपलब्धि ही श्रमण जीवन का उद्देश्य था जिसमें समस्त सीमा-भाव विगलित हो जाते हैं। काश्यप महावीर द्वारा प्रवेदित धर्म एवं शाक्य-श्रमण गौतम द्वारा प्रवेदित धर्म दोनों इस लक्ष्य में एक सदृश हैं। दार्शनिक जटिलताओं को परे रखकर मानवता की कसौटी पर दोनों पूरे उतरते हैं।

शम का मार्ग

विश्व को अपने आत्मभाव की परिधि में समेट लेने की दृढ़ आधार भूमि शम की उपासना है। शम या शान्ति विश्व-मानव की सबसे महती संप्राप्ति है। एक ओर शम का तात्पर्य पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह और आत्म-विजय का मार्ग है। यही आध्यात्मिक साधना कही गई है। इस पथ का यात्री सर्वथा निर्विकार और शुद्ध बनने का प्रयत्न करता है। इसी के अन्तर्गत महाव्रत और अणुव्रतों का जीवन है जिनका उपदेश अरण्यवासी भिक्षु और आगारिक गृहस्थों के लिए किया जाता है। अहिंसा की भावना शम का मूल है। जो व्यक्ति सर्व भूतों के हित में निरत है, जो सबको आत्मवत् मानता है, वह सबके प्रति अद्रोह की भावना ही जीवन में रख सकता है। अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी वह दूसरों का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। किन्तु अहिंसा निराकरणात्मक धर्म नहीं है। कर्तव्य के रूप में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम और हितबुद्धि की भावना सच्ची अहिंसा है जिसकी मानव को आवश्यकता है।

जो व्यक्ति शुद्ध अहिंसा वृत्ति में प्रतिष्ठित हो जाता है वह सारे विश्व के लिए चुनौती है। वह स्वकेन्द्र की परिधि का अनन्त विस्तार कर लेता है। उसका अविचाली भाव उसे अभय प्रदान करता है। वह मृत्यु, भय और शोक से ऊपर उठ जाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन सब प्रजाओं के लिए उन्मुक्त हो जाता है।

किन्तु व्यक्तिगत जीवन की यह विभूति व्यावहारिक जीवन को भी प्रभावित करती है। समाज और राष्ट्र का जीवन एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, इनका भी सच्चा आधार शम की नीति ही हो सकती है। शम की नीति का उल्टा मार्ग साम्राज्यवाद है। आज हमारे राष्ट्र ने जान-बूझ कर शम की नीति का अवलम्बन लिया है और सब प्रकार के साम्राज्यवाद को जहाँ भी वह सिर छिपाए बैठा है, भावात्मक चुनौती दी है। धर्मभावना या शमभावना एक ही मूल प्रवृत्ति के रूप हैं। जहाँ धर्मनीति और राष्ट्रनीति का संगम है, उसी रसपूर्ण स्रोत से इस जीवन-मार्ग का जन्म होता है।

गणराज्य की शम-नीति

यह कहना उचित होगा कि राष्ट्र में शम की नीति का नाम गणतंत्र प्रणाली है और युद्ध या पर-उत्पीडन की नीति का नाम साम्राज्यतंत्र है। बाह्यरूप गणतंत्र का रखते हुए भी गण साम्राज्यवादी बन सकते हैं। पर जो गण विशुद्ध शम की नीति अपना चुके हैं उनका तेज और शील दूसरे ही प्रकार का हो जाता है। इस प्रसंग में महाभारत सभा पर्व के उस प्रकरण (१४, २—६) की ओर ध्यान जाता है जिसमें साम्राज्य शासन पद्धति और गण-शासन पद्धति के मौलिक भेद और तारतम्य का विवेचन किया गया है। मगध के साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए यात्रा का विचार मन में लाकर-कृष्ण युधिष्ठिर के साथ इन दोनों नीतियों के गुण दोषों का तुलनात्मक विचार करते हैं। हमारे आज के इसी क्षेत्र में एक ओर लिच्छवि या वृजियों के गण-राज्य और दूसरी ओर मगध के प्रबल साम्राज्यवाद की लीलास्थली थी। इसलिए भी यह प्रसंग मार्मिक और अवसरोचित है। प्राचीन परिभाषा में संघ-पद्धति के लिए पारमेष्ठ्य शब्द का प्रयोग हुआ था। तदनुसार पारमेष्ठ्य और साम्राज्य दोनों की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई हैं—

(१) पारमेष्ठ्य शासन में प्रत्येक गृह या कुल में एक-एक राजा होता है।

कुल-पद्धति पारमेष्ठ्य शासन का मूलाधार हैं; ऐश्वर्यसत्ता कुलों में समान रूप से बँटी रहती है (गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः)।

(२) साम्राज्य पद्धति सबको हड़पकर सारा अधिकार एक व्यक्ति में केन्द्रित कर देती है (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्)। गणों की भावना इसके ठीक विपरीत होती है। गण शक्ति के एकत्र केन्द्रित होने को सहन नहीं कर सकते (न च साम्राज्यमाप्तास्ते)।

(३) पारमेष्ठ्य या गणशासन में सब लोग एक दूसरे के अनुभाव या व्यक्ति-गरिमा को स्वीकार करते हैं (परानुभावज्ञ) और परस्पर मिल-जुलकर व्यवहार करते हैं (परेण समवेतः)। वे स्वयं अपनी शक्ति की डींग नहीं हाँकते, जैसा साम्राज्यवादी किया करते हैं।

(४) गणराज्य में जनपद या देश की विशाल भूमि भीतर तक जीवन के कल्याणों से भरी-पूरी रहती है अर्थात् राज्य की समृद्धि का वरदान दूर-दूर तक प्रजाओं के घर-घर में फैल जाता है। इस के विपरीत साम्राज्य में सब कुछ सम्राट के राजकुल या उसकी राजधानी में सिमिट कर रह जाता है। राज-कुल के व्यक्ति या जिनकी वहाँ तक पहुँच हो जाती है, वे ही साम्राज्य में कल्याण के भागी बनते हैं।

(५) पारमेष्ठ्य शासन में शम या शान्ति शासन का मुख्य आधार होती है। जो लोग यह कहते हैं कि शम नीति मोक्ष या निर्वाण के मार्ग पर चलने वालों के लिए है, मैं उनसे सहमत नहीं (शममेव परं मन्ये नतु मोक्षाद् भवेच्-शमः)। राष्ट्रनीति में यदि साम्राज्य की मनोवृत्ति को छोड़ दिया जाय और पारमेष्ठ्य आदर्श स्वीकार कर लिया जाय तो निश्चय ही शम या शान्ति की प्राप्ति संभव है। साम्राज्य का मूल बल है, पारमेष्ठ्य या गणतन्त्रका मूल शम है तभी तो जरासन्ध बलपूर्वक ही साम्राज्य चलाता था।

(६) यह निश्चित है कि सैनिक पराक्रम से पारमेष्ठ्य आदर्श की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती (आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः)।

(७) पारमेष्ठ्य शासन में सदा एक व्यक्ति सर्वोपरि या श्रेष्ठ नहीं रहता। जो गण के प्रतिनिधि हैं उनमें कभी कोई और कभी कोई श्रेष्ठ बन जाता है (कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच् छ्रेष्ठो जनार्दन), अर्थात कुलों की शासन प्रणाली

में श्रेष्ठता या परमता कभी किसी के पास चली जाती है, कभी किसी के पास। *

ऊपर जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वे वैशाली के गणराज्य में पूर्णमात्रा में विकसित थीं अर्थात् वैशाली संघ में कुलसंस्था का शासन, व्यक्ति का अनुभाव या गरिमा और शम की नीति इन तीनों विशेषताओं का वर्णन लिच्छवियों के इतिहास से प्राप्त होता है। लिच्छवियों के ७७०७ कुल थे। प्रत्येक कुल का कुलवृद्ध या प्रतिनिधि 'राजा' की पदवी धारण करता था— एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति (ललित विस्तर)। इसे ही महाभारत में 'गृहे गृहे हि राजानः' कहा गया है। प्रत्येक 'राजा' या कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता में समान अधिकार प्राप्त था। लिच्छवियों के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल थे उनके राज्याधिकार पर अभिषेक करने का जल एक विशेष पुष्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे मंगलपुष्करिणी कहते थे (वेसाली नगरे गणराजकुलानं अभिसेकमंगलपोक्खरणी, जातक ४। १४८)। उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलों में प्रभुसत्ता पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती थी, उन्हें ही मंगलपुष्करिणी से मूर्धाभिषिक्त बनने के लिए जल प्राप्त करने का अधिकार था। गण की सभा में वे ही बैठ सकते थे, जो विधिवत् मूर्धाभिषिक्त होते थे। यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। प्रत्येक कुल का बड़ा बूढ़ा या कुलवृद्ध उसका

---

* गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक् ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्तः स पूज्यते ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये नतु मोक्षाद् भवेच् छमः।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥ (सभापर्व अ० १४)

प्रतिनिधि होता था। कुलवृद्ध पिता के अनन्तर उसका पुत्र इस पदवी का अधिकारी बनता था। उस अवसर पर उसका मूर्धाभिषेक समस्त समाज की उपस्थिति में समारोहपूर्वक किया जाता था। आजकल की भाषा में इस लोक-प्रथा को 'पगड़ी बांधना' कहते हैं। समस्त कुल एक दूसरे की तुलना में समानाधिकार रखते थे—'जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा,' अर्थात् सब मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय जन्म और कुल इन दोनों बातों में सर्वथा समान थे। कोई किसी तरह की विशिष्टता का दावा न कर सकता था। लिच्छविसंघ या वृजि जनपद में जो चिरन्तन परम्पराएँ पोषित हुई थीं, उनके अनुसार जातीय स्वाभिमान, समत्वभाव, वैयक्तिक गरिमा और स्वातन्त्र्य भावनाओं की प्रधानता थी—ऐसा बौद्ध साहित्य से विदित होता है। पारिवारिक जीवन की शुद्धि और आदर्श स्थापना के उनमें कठोर नियम थे। कहा जाता है कि यहाँ के क्षत्रिय कुमार एक से रथों पर एक समान वेश पहन कर एक से अनुभाव से निकलते थे। यहाँ की कुलपद्धति के लिए भाषा में विशेष शब्द ही प्रचलित हो गया था, जिसे कात्यायन ने 'वृजिगार्हपतम्' कहा है (सूत्र ६।२।४२)। सभापर्व में जिसे जनपद का श्रेय कहा है, उस कल्याण रूप की पूर्ण मात्रा या दर्शन लिच्छवि संघ में उस समय उपलब्ध था। उनके जीवन के रोचनात्मक वर्णन बौद्ध और जैन साहित्य में उपलब्ध हैं।

लिच्छवि उस समय की संघ-शृंखला में केवल एक कड़ी थे। वस्तुतः महाजनपद युग में संघों की यह परंपरा मिथिला से लेकर वाहीक तक फैली हुई थी। वह राष्ट्रीय जीवन का अभूतपूर्व प्रयोग था। मानवीय स्वतन्त्रता और वैयक्तिक गरिमा का जो अनुभव राष्ट्र ने उस युग में किया, वैसा फिर देखने में नहीं आया। जनपद या संघराज्य संस्कृति की सच्ची धात्रियाँ बन गईं। देश का अधिकांश क्षेत्र जनपदीय संगठन के प्रभाव में आ गया। उस युग में तीन बातें विशेष रूप से प्रकट हुईं। एक आर्थिक समृद्धि, दूसरे नैतिक गुणों का विकास और तीसरे प्रज्ञा या बुद्धि के आकस्मिक स्फोट द्वारा साहित्य और ज्ञान का चरम उत्कर्ष। अनेक शिल्पों का ताना-बाना पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए जनपदों में छा गया था, जिन्हें उस समय की भाषा में जानपदी वृत्ति कहते थे। यास्क और पाणिनि ने उसका उल्लेख किया है और बौद्ध एवं जैन साहित्य में उन शिल्पों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ भी पाई जाती हैं। समता और स्वतंत्रता की भावना का परिपाक व्यक्ति के नैतिक गुणों में देखा जाता है। उस भावना की झलक बुद्ध और महावीर के उपदेशों में तथा

महाभारत के नीति-प्रधान स्थलों में पाई जाती है। चरित्र की उच्चता का वह आदर्श अश्वपति कैकेय के इस वाक्य में अभिव्यक्त होता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

वस्तुतः जनपदों के जीवन की नई प्रेरक शक्ति ही वह महान् धर्म थी, जिसकी ओर हमने आरंभ में संकेत किया था। वही बुद्ध और महावीर के नीतिप्रधान धर्म के रूप में प्रकट हुई। यह धर्म रीति-रिवाज वाला प्राचीन सामयाचारिक धर्म न था, जो किसी न किसी रूप में सभी जगह मिलता है। धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक नियमों से था, जो प्रजा और राष्ट्र को धारण करते हैं। जनपदों में उत्कृष्ट बुद्धिवाद का एक नया आदर्श पोषण पा रहा था, जिसे उस युग के साहित्य में प्रज्ञा कहा गया है। सामान्य नागरिक और शासन का भार वहन करने वाले अधिकारी दोनों के लिए प्रज्ञा या बुद्धिप्रधान जीवन का उल्लेख प्राचीन साहित्य में, विशेषतः महाभारत में आता है। इस प्रज्ञा का उन्मेष साहित्य, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विशेष रूप से हुआ। ब्राह्मणों का उपनिषत् साहित्य, जैनों का अंग साहित्य, और बौद्धों का त्रिपिटक साहित्य उसी जनपदीय युग के प्रज्ञाशील व्यक्तियों की देन हैं। तीन धाराओं में अभिव्यक्त होने पर भी यह महनीय साहित्य एक ही प्रज्ञा भावना से ओतप्रोत है। तत्त्वचिन्तन, सत्यान्वेषण, तथ्यात्मक व्यावहारिक कौशल ये इस साहित्य की समान विशेषताएँ थीं।

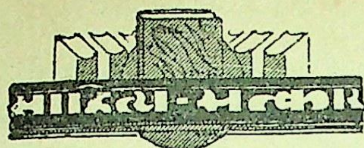
जनपदों और संघों में विकसित मानवीय जीवन के उच्चस्तर की कुछ कल्पना यास्क, शाकटायन, आरुणि, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, जनक, बुद्ध, महावीर, मंखलिगोसाल आदि आदि अनेक आचार्यों के कार्य और विचारों से की जा सकती है।

भारतीय इतिहास में लगभग १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक का युग महाजनपद युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी के गर्भ में लिच्छवि, शाक्य, कुरु, मद्र, गान्धार, मालव, क्षुद्रक आदि महिमाशाली गणों और जनपदों का जीवन अन्तर्निहित है। वस्तुतः उस युग का पूरा महत्त्व अभी तक समझा नहीं जा सका है। यूनान के इतिहास में जो स्थान वहाँ के जगत्प्रसिद्ध पुरराज्यों का था, कुछ उससे भी अधिक व्यापक और चिरस्थायी पद भारतीय इतिहास

में जनपद राज्यों का है। भारतीय जनपद राज्यों का प्रयोग यूनान देश से कहीं अधिक विस्तृत और महान् था। दोनों के विकास और उन्नति का समय भी लगभग एक ही था। यूनान के पुरराज्य जनपदों के समान ही नीतिधर्म के आदर्श को दिव्यगुण और ईश्वरीय सत्ता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते थे। दोनों में जीवन के उच्चतम परिष्कार का स्रोत नीतिधर्म ही था। सांस्कृतिक दृष्टि से जनपद युग में भारतीय संस्कृति की जो मूलप्रतिष्ठा हुई, उसका जो क्षेत्रीय रूप उस युग में संपन्न हुआ, उसी के आधार पर कालान्तर में जनपद संस्कृतियों के मिलने से राष्ट्रीय संस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। पुरराज्यों में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे। वैसे ही जनपद और संघराज्य की भी कई कोटियाँ थीं। जिस प्रकार एथेन्स और स्पार्टा के बढ़ते हुए साम्राज्यों ने पुरराज्यों को हड़प लिया उसी प्रकार भारत में बहुत से जनपदों के राजनैतिक प्रभुत्व और ऐश्वर्य-सत्ता पर चौका फेर कर ही मगध के विक्रान्त साम्राज्य का उदय हुआ। यद्यपि संघों की शम-प्रधान नीति समुदीर्ण साम्राज्य शक्ति के सामने विलुप्त हो गई, किन्तु अमरता और स्वतन्त्रता, समता और व्यक्तिमहिमा, प्रज्ञा और शील के जिन आदर्शों का उस समय विकास हुआ, उनके सौरभ से आज भी मानवीय सभ्यता सुरभित बनी हुई है। यही धर्म की चिरन्तन विजय है।

[शेष पृष्ठ २० का शेष]

जब कभी भी आप के मन में सन्देह हो कि कोई व्यक्ति आप के पीछे पड़ा है तो इस का सब से अच्छा उपाय यह है कि आप पीछे लौट कर चलने लगें। इस से सब स्थिति साफ हो जायगी। यदि वह निश्चय ही आप के पीछे लगा होगा तो उसी समय या कुछ देर बाद लौट कर पुनः आप का पीछा करेगा। दूसरा उपाय यह है कि आगे जहाँ कुछ लोग दिखें वहीं रुक जाएँ। इस से भी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी और यदि इतना सब करने के पश्चात् भी आप दुविधा में ही पड़ी हों तो अच्छा होगा कि आप रास्ते में मिलनेवाली किसी भी सवारी पर बैठकर निश्चित स्थान पर जाएँ। अन्त में एक बात यह याद रखें कि जब कभी कोई गुण्डा छेड़ बैठे, आप अपना समस्त साहस और धैर्य समेट कर उस की मरम्मत करने से न चूकें। आप को कोई भी किसी प्रकार दोषी नहीं ठहराएगा। ऐसे अवसरों पर पुलिस या आसपास चलने वाले परिचित-अपरिचित सभी लोगों की सहायता लेने से भी नहीं हिचकना चाहिए।



STUDIES IN JAIN ART (जैन कला विषयक अध्ययन), लेखक—डॉ॰ उमाकान्त शाह, डिपटी डाइरेक्टर ओरियन्टल इस्टीटयूट बड़ौदा; प्रकाशक—Jain Cultural Research Society, F/3 Banaras Hindu University, Banaras—5

प्रस्तुत पुस्तक में वे तीन व्याख्यान मुद्रित किये गए हैं, जो श्री उमाकान्त शाह ने जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी के तत्त्वावधान में ता॰ ११, १२ और १५ मार्च १९५४ को काशी विश्वविद्यालय में दिये थे। व्याख्याता महोदय ने भारतीय जैन कला का सूक्ष्म अध्ययन किया है। जैन कला के एक अंग पर अपना शोध निबन्ध भी प्रस्तुत किया था। उनके दीर्घ कालीन अध्ययन का सुन्दर फल उस प्रामाणिक सामग्री के रूप में, जो इन व्याख्यानों में दी गई है—देखा जा सकता है। आरंभ में उस सामग्री का परिचय दिया गया है, जो जैन कला के संबन्ध में उत्तर भारत के विभिन्न प्राचीन स्थानों से प्राप्त हुई है। पाटलिपुत्र के पास लोहानीपुर से मिली हुई प्राचीन जिन-प्रतिमा, कुमारी पर्वत या उदयगिरि, खंडगिरि की जैन गुफाएँ, मथुरा के सुप्रसिद्ध देव-निर्मित जैन स्तूप आदि प्राचीन सामग्री का परिचय दिया गया है। बड़ौदा के समीप अकोटा नामक स्थान से मिली हुई ऋषभदेव की कांस्य-मूर्ति जैन कला की अत्यन्त सुन्दर कृति है। जिसकी तुलना लेखक ने सुलतानगंज से प्राप्त सुविदित बुद्ध की मूर्ति से की है। दोनों ही गुप्त-कला के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। जिनका निर्माण ५ वीं शती के मध्यभाग में हुआ होगा। जैन स्थापत्य कला का भी परिचय लेखक ने दिया है; और इस प्रसंग में मध्य काल के प्रायः सभी प्रमुख जैन मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें पहली बार ही लेखक ने पश्चिमी भारत की उस शिल्प कला शैली के संबन्ध में—जिसका उल्लेख तारानाथ ने किया है—पर्याप्त सामग्री का परिचय देते हुए एक अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। गुप्त कला के आदर्शों और निर्माण-सौष्ठव से प्रेरित हो कर उसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए पश्चिमी भारत की यह कला शैली विकसित हुई थी। सिंध में नीरपुर-खास से प्राप्त ब्रह्मा जी की विशिष्ट मूर्ति—जो इस समय कराची संग्रहालय में सुरक्षित है, लेखक के अनुसार—इसी पश्चिमी

कला शैली के अन्तर्गत आती है। अकोटा से मिली हुई जीवनस्वामी और ऋषभदेव की मूर्तियाँ भी उसी के उदाहरण हैं।

ग्रन्थ के दूसरे भाग में जैनधर्म और कला से संबन्धित कुछ प्रमुख मांगलिक चिन्हों के विषय में बहुत ही सुन्दर सामग्री का संकलन किया गया है। इस प्रकार का अध्ययन यहां पहली बार ही दृष्टि गोचर होता है। चैत्य, स्तूप, स्तम्भ, चैत्य वृक्ष, अष्ट मांगलिक चिन्ह आदि के विषय में कला और साहित्य की सविशेष सामग्री यहाँ एकत्र उपलब्ध होती है। लेखक के वर्णन स्पष्ट और प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। जैन कला के संबन्ध में अभी तक अध्ययन का क्षेत्र परिमित ही रहा है। श्री उमाकान्त शाह ने निश्चय ही उस कार्य को आगे बढ़ाया है और इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

—वासुदेव शरण अग्रवाल

पं० दुर्वेक मिश्रकृत धर्मोत्तरप्रदीप। संपादक—पं० दलसुख मालवणिया, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। प्रकाशक—तिबेटन् संस्कृत वर्क्स सिरीज़, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीटचूट्, पटना। मूल्य ७॥) रु०

महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से जो अनेक दुष्प्राप्य बौद्ध संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की फोटो प्रतियाँ भारत में लाए थे उनमें से एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ का यह प्रकाशन है। हेतुविद्या यद्यपि एक लौकिक विद्या है, तथापि महायानी बौद्धों ने उसे महत्व की जानकर उसका समावेश अभिधर्म में कर दिया था। असंग के अभिधर्म समुच्चय में सांकथ्य-विनिश्चय नामक प्रकरण में इस विद्या के संबंध में अनेक बातों का समावेश मिलता है। प्रमाणशास्त्र के विविध ग्रन्थों की रचना का एक काल था, जो प्रायः सभी दर्शनों में हम देखते हैं। बौद्धों में इसका प्रारंभ दिग्नाग के काल से (ई० ३४५–४२५) माना जा सकता है।

वसुबन्धु के प्रधानशिष्य और नालन्दा के प्रधान आचार्य दिग्नाग ने **प्रमाणसमुच्चय** की रचना करके प्रमाणशास्त्र की नींव डाली जिस पर शंकरस्वामी, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, जिनेन्द्रबुद्धि और उद्योतकर आदि पंडितों ने न्यायशास्त्र का एक विशाल भवन खड़ा किया। इनमें आचार्य धर्मकीर्ति (ई० ५५०–६००) अपने **प्रमाणवार्तिक** ग्रन्थ के कारण सुप्रसिद्ध हुए। यह ग्रन्थ दिग्नाग के प्रमाण-समुच्चय की टीका है। इस ग्रन्थ ने एक नई ही बौद्धन्याय की परम्परा खड़ी की, जिसे शान्तिभद्र, विनीतदेव, अर्चट, धर्मोत्तर और प्रज्ञाकर आदि आचार्यों ने पुष्ट किया।

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के अलावा अन्य छ महान् ग्रंथों की रचना

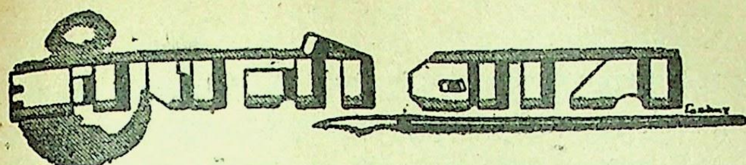
की, जो एक तरह से दिग्नाग के प्रमाण-समुच्चय के ही वार्तिक रूप हैं। इन ग्रंथों में **न्यायबिन्दु** का बड़ा वैशिष्टच है। इसमें धर्मकीर्ति ने प्रमाणशास्त्र के परिनिष्ठित सिद्धान्तों का सूत्ररूप से संकलन किया है। इस कारण यह बौद्धन्याय का मूल सूत्रग्रंथ कहा जा सकता है। विज्ञानवादी होते हुए भी सौत्रान्तिक दृष्टि का अवलंबन करके इसमें पदार्थशास्त्र की व्यवस्था की है।

न्यायबिन्दु पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। उनमें केवल **धर्मोत्तरकृत** न्यायबिन्दु टीका का मूल संस्कृत में उपलब्ध है। अन्य टीकाएँ तिब्बती में अनुवादित हैं।

आचार्य **धर्मोत्तर** (ई० ७००) की न्यायबिन्दु टीका के ऊपर भी अनेक उपटीकाएँ लिखी गई हैं। रूसी विद्वान् श्चेरवास्की ने न्यायबिन्दुटीका टिप्पणी नामक ग्रन्थ का प्रकाशन बिब्लिओथेका बुद्धिका (नं० ११) में किया है। मुनि श्री पुण्यविजय जी को जेसलमेर के जैन भांडारों में मल्लवादी कृत धम्मोत्तरटिप्पण और एक अज्ञात लेखक की तात्पर्य निबन्ध टिप्पण की हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली हैं। चौथी टीका **पं० दुर्वेकमिश्र** (ईसा की दसवीं या ग्यारहवीं सदी) कृत **धर्मोत्तरप्रदीप** है, जिसका संपादन प्रथम बार पं० दलसुख मालवणिया ने किया है।

प्रस्तुत संस्करण में धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु, धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका और दुर्वेकमिश्र का धर्मोत्तर प्रदीप, इन तीनों ग्रन्थों का समावेश किया गया है। बौद्धदर्शन के अभ्यासिओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी साबित होगा इसमें संदेह नहीं है। विद्वान् संपादक ने तीनों ग्रन्थों के योग्यतापूर्ण संपादन में पूरे कष्ट उठाये हैं। धर्मोत्तर की न्यायबिन्दुटीका की अप्रकाशित दो प्रतियों से तुलना करके पाठभेद दिये गए हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में हेतुविद्या और प्रमाण शास्त्र के संबन्ध में लिखी हुई प्रस्तावना संपादक की बहुमुखी विद्वत्ता का परिचय कराती है। अन्त में टिप्पण दिये गए हैं जिनमें अन्य ग्रन्थों के साथ अन्यान्य विषयों की संगति सूचित की गई है। पं० मालवणिया जी ऐसे ग्रन्थों के संपादनकार्य में सिद्धहस्त हैं। सिंघी जैन ग्रन्थमाला तथा गायकवाड़ सिरीज़ में प्रकाशित उनके जैन न्याय ग्रन्थों का जिन्हें परिचय है उन्हें यह ग्रन्थ देखकर और भी अधिक प्रसन्नता होगी। बौद्धन्याय के तीनों महत्वपूर्ण ग्रन्थों को एक-साथ मुद्रित करने के इस प्रयास के लिए सिरीज के प्रधान संपादक डॉ० आलतेकर, तथा इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के योग्य संपादन के लिए पं० मालवणिया धन्यवाद के पात्र हैं। मुद्रण की शुद्धता और ग्रन्थ का मूल्य दोनों अनु-करणीय हैं।

—पद्मनाभ जैनी



कान्फरेंस का ठोस कदम

श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेंस ने अपने ५० वर्ष के जीवन में कई ठोस और महत्व के कार्य किए हैं। आज से चार वर्ष पहले सादड़ी में जो बृहत् साधु-सम्मेलन हुआ था और बीसियों संप्रदायों का 'वर्धमान श्रमण संघ' के नाम से जो एक संगठन हुआ था, वह समूचे जैनसमाज के इतिहास की अद्‌भुत और प्रेरक घटना थी। इसकी सफलता की जड़ में स्वर्गीय धर्मवीर श्री दुर्लभजी भाई जौहरी की पवित्र भावनाएँ कितना काम कर रही थीं, यह समाज से छिपा नहीं है। सफलता का सबसे अधिक श्रेय है—श्री दुर्लभ जी भाई के उत्तराधिकारी अदम्य उत्साही श्री धीरजलाल जी तुरखिया तथा प्रज्ञाशील वयोवृद्ध श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया और समाजहितैषी श्री चमनलाल चकूभाई शाह आदि समाज के उन उन्नायकों को, जिन्होंने अथक परिश्रम उठाकर बड़ी धीर-वीरता के साथ सब कठिनाइयों का सामना किया था। भीनासर निवासी श्री चम्पालाल जी बाँठिया की अध्यक्षता में यह पुनीत कार्य सफल हुआ था, इसलिए वे भी इस यश और पुण्य के भागी अवश्य हैं।

इन्हीं दिनों कान्फरेंस ने एक और ठोस एवं महत्व का क़दम उठाया है। कान्फरेंस के ५० वर्ष के जीवन में इस बात की कमी रह रह कर अनुभव की जा रही थी कि उसका न तो अपना कोई मकान है और न निश्चित स्थान ही। सारे स्थानकवासी जैन समाज की इतनी बड़ी संस्था के लिए यह अभाव बहुत ही खटकने वाला था। अपना स्थान न होने से स्वयं संस्था और उसके द्वारा संचालित प्रवृत्तियों का ठीक विकास नहीं हो सकता। कार्यालय में भी स्थिरता नहीं आती। उसके ऐतिहासिक रिकार्डों का संरक्षण तक भी नहीं हो पाता। संस्था के प्रति समाज में आस्था और विश्वास के भाव पैदा नहीं होते। सबसे बड़ी कमी रहती है समाज में उसके प्रति गौरव के अनुभव की।

हर्ष की बात है कि कान्फरेंस के कार्यकर्ताओं ने समय को पहचाना और नई दिल्ली जैसे महत्व के स्थान में अच्छी खुली जमीन और विशाल भवन खरीदकर अपने साहस का परिचय दिया है। इसके लिए कान्फरेंस के अध्यक्ष श्री विनयचन्द जी जौहरी और प्रधानमंत्री वीर-हृदय श्री आनन्दराज जी सुराना तथा इनके सहयोगी विशेष रूप से प्रशंसा के पात्र हैं। श्री विनयचन्द भाई ने अपने पिताश्री स्वर्गीय श्री दुर्लभजी भाई की पवित्र स्मृति में पचास

हजार के उदार दान की सबसे पहले घोषणा करके इस कार्य को बड़ी प्रेरणा दी थी, जिससे कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ा और वे इस कार्य में सफल हो सके।

हमें आशा है समूचा स्थानकवासी जैन समाज कान्फरेंस की ओर से प्रकाशित पाँच लाख रुपये की अपील को पूरा करने में तन-मन-धन से पूरा सहयोग देगा, जिससे कान्फरेंस के कार्यकर्ता धर्म एवं समाज के कार्यों को करने और उनके विकास के लिए अपने मन में उत्साह अनुभव करने लगें।

संघभेद किस लिए ?

जब से श्वे० स्थानकवासी जैन समाज में श्रमण संघ के नाम से संगठन हुआ है, प्रतिक्रियावादी दिमाग़ दूसरी दिशा में बहने लगे हैं। हम देख रहे हैं कि स्थानकवासी समाज के दो मासिक पत्र जैन सिद्धान्त और सम्यग्दर्शन हर तरह से विरोध पर उतारू हैं। वे समाज के उन्नायकों और ख़ासकर श्वे० स्था० जैन कान्फरेंस के कार्यकर्ताओं और संचालकों का दिल खोलकर विरोध ही नहीं कर रहे हैं, बल्कि शिष्टता को छोड़कर कई कदम आगे बढ़ चुके हैं। बम्बई से गुजराती में निकलने वाले जैन सिद्धान्त के संबन्ध में हम कुछ नहीं कहना चाहते। यह पत्र व्यक्तिगत-सा है, धर्म व समाज की ही नहीं, बल्कि शिष्टाचरण की मर्यादाओं का भंगकर व्यक्तिगत आक्षेपों पर उतर आया है। हमें कुछ निवेदन करना है, तो सम्यग्दर्शन के योग्य संपादक श्री रतनलाल जी दोशी से। ये स्थानकवासी समाज के हितैषी और धर्मप्रेमी व्यक्ति हैं। उन्होंने अपने समाज के लिए कुछ किया भी है। जब वे स्वयं ही संघभेद की बातें करने लगते हैं, तो अवश्य दुःख होता है। वे श्रमण संघ के विरोध में अपना अलग संगठन करना चाहते हैं। श्रमण संघ के कुछ साधुओं को भी खींच रहे हैं। अभी हम अधिक न लिखकर दोशी जी से इतना ही निवेदन करते हैं कि वे ध्वनिवर्धक यंत्र जैसे तुच्छ प्रश्नों को लेकर, जब कि साधु समाज में इससे भी बढ़कर व खुलकर बातें की जा रही हैं—संघमें भेद डालने की बातें न उठाएँ। अपनी शिकायतों के समाधान के लिए दूसरे भी कई उपाय हो सकते हैं। प्रज्ञाशील शान्तमूर्ति श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया जैसे अनुभवी व्यक्ति जब तक समाज में विद्यमान हैं, सभी शिकायतों का समाधान हो सकता है। यह विश्वास रख कर चलने की आवश्यकता है। जैन शास्त्रानुसार संघभेद की बातें करना व उठाना सबसे बड़ा दुष्कृत्य है। दोशी जी स्वयं शास्त्रज्ञ हैं। उनसे विशेष कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं। आशा है वे इस नम्र निवेदन पर अवश्य विचार करेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

लोकमान्य की जन्मशती

गत २३ जुलाई को देश ने एक ऐसे महापुरुष की जन्मशती मनाई जिसने विदेशी दासता के खिलाफ पहली बार जनता में स्वतंत्रता का मंत्र फूँका और 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' यह नारा घोषित किया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रीय नेता थे। और सच पूछा जाए तो भारत को जो इतनी जल्दी विदेशी दासता की जंजीरों से मुक्ति मिल सकी इसके मूल में उनकी प्रेरणा, त्याग, तपस्या और पथ प्रदर्शन ही रहा है। वे एक श्रेष्ठ विचारक और कर्मठ नेता भी थे।

लोकमान्य का आविर्भाव उस समय हुआ था जब कि जनता प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में विफल होकर सुस्त पड़ी थी और निराशा के सागर में गोते लगा रही थी। स्वतंत्रता प्राप्ति की समस्त आशाएँ उसने छोड़ दी थीं। ऐसे समय जनता में राष्ट्रीय भावना जागृत कर उसे विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करने का काम करना कितना मुश्किल था, इसकी अब केवल कल्पना ही की जा सकती है। लोकमान्य के आने के बाद ही कांग्रेस एक पूर्णतया राष्ट्रीय एवं स्वतंत्रता संग्राम की प्रतिनिधि संस्था बन सकी। नाटक, धार्मिक उत्सव और त्यौहारों के साथ ही समाचार पत्रों के माध्यम से लोकमान्य ने देश में जागृति की जो लहर फैलाई उसकी याद अभी तक हमारे हृदयों में ताजा है। राष्ट्रीय रूप में तो वे लोकमान्य थे ही, पर पत्रकारिता के क्षेत्र में भी वे 'लोकमान्य' बने। 'केसरी' का प्रकाशन कर उन्होंने निर्भीक पत्रकारिता की परम्परा स्थापित की।

प्रथम राजबंदी होने का गौरव भी उन्हें ही प्राप्त हुआ। वे कई बार गिरफ्तार किये गए। गांधी जी के व्यक्तित्व निर्माण के पीछे उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। उन्हें आगे बढ़ाने में लोकमान्य ने बराबर प्रयत्न किया। गांधी जी के अन्दर छिपे हुए नेतृत्व को सर्व प्रथम उन्होंने ही पहचाना और उसे विकसित होने को अधिक से अधिक मौका देने की उन्होंने निरन्तर चेष्टा की।

लोकमान्य की जन्म शती के इस अवसर पर हमें उनके स्पष्ट विचार, अडिग निष्ठा और उपदेशों को समझने की आवश्यकता है। दृढ़ता, राष्ट्रीय एकता और अविचल देशभक्ति की जितनी आवश्यकता-स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए थी, जनता के लिए सुख समृद्धि के साधन उपलब्ध कराने के लिए भी उतनी ही आवश्यकता है।

—महेन्द्र राजा

श्रमण का पर्युषणांक

श्रमण का आगामी सितंबर अंक पर्युषण-अंक होगा। जैन समाज के लिए पर्युषण का महत्व सब पर्वों से बढ़कर है। इस अवसर पर पुरुषों, महिलाओं और बच्चों तक के दिलों में शुभ काम करने की अपूर्व प्रेरणा होती है। उनमें दया, दान, तपस्या, स्वाध्याय, शास्त्र श्रवण आदि का उत्साह विशेष रहता है, जिसका आध्यात्मिक प्रभाव काफी स्थायी होता है। इसीलिए इस पर्व को पर्वाधिराज कहते हैं। पर्युषण पर्व समूचे जैन समाज में मनाया जाता है। दिनों का भले ही कुछ हेर-फेर हो, पर मनाते सब हैं। पर्युषण पर्व का सीधा सा अर्थ है—मानव जाति को इसके कल्याण का संदेश देना और व्यक्ति की भूलों व त्रुटियों पर गहरा दृष्टिपात करना। कड़े से कड़े वैर-विरोध व मतभेद को भूल कर शत्रु तक के साथ सरल हृदय से मित्रता का बर्ताव करना, दूसरे की भूलों व गलतियों को भी उदार हृदय से क्षमा कर देना। सचमुच मानवता के पनपने और मानव जाति के कल्याण साधन में इस पर्व का बड़ा हाथ रहा है।

'श्रमण' के कृपालु लेखकों से

हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि पर्युषण पर्व के अवसर पर 'श्रमण' के पाठकों तक ऐसी सामग्री पहुँचाई जाए जो इस पर्व के संबन्ध में ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक आदि पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डालती हो। यह सामग्री लेख, कविता, संवाद, दृष्टांत, कथा-कहानी, उपदेश-प्रवचन, घटना आदि किसी भी रूप में दी जा सकती है। 'श्रमण' के कृपालु लेखकों और प्रेमी पाठकों से अनुरोध है कि इस पर्व के संबन्ध में अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य लिख भेजने की कृपा करें। हमें पूर्ण विश्वास है सभी महानुभाव हमारे इस निवेदन का आदर करेंगे।

आवश्यक सूचना—'श्रमण' का सितम्बर अंक पर्युषण के अवसर पर पहुँचेगा। अतः लेखादि १५ अगस्त तक पहुँचने पर ही छप सकेंगे। लेखादि सब नए हों और किसी दूसरे पत्र-पत्रिका में प्रकाशनार्थ न भेजे गए हों, इस बात का विशेष अनुरोध है।

निवेदक
कृष्णचन्द्राचार्य

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए
श्रीरामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
बनारस-५ में मुद्रित।

श्रमण

वर्ष ७

पर्युषण-अंक

अंक ११

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस

सम्पादक

पं० कृष्णचन्द्राचार्य, महेन्द्र राजा एम. ए.

इस अंक में

(टाइटल ४ का शेषांश)

खार, रामदास जी जिंदल नई-दिल्ली, निरंजनदास, (गेंदामल हेमराज) शिमला, कुंजलाल ओसवाल, दिल्ली, रतनमल शेशमल सेमलानी बांदरा, जगतराम जैन, पन्नालाल जी, हरजसराय अमृतसर वाले, हीरालाल जैन, एडवोकेट, लुधियाना।

साधारण सदस्यों में से—सर्वश्री किशोरीलाल जैन कपूरथला, कृष्णकान्त जैन लुधियाना, डा० राजकुमार जैन अम्बाला, सेठ नानकचन्द पालावत अलवर, दौलतराम जालंधर, सी० आर० जैन पटियाला, एम० आर० कोठारी बम्बई, शादीलाल खार, अमरचन्द मालेरकोटला, रत्नचन्द्र जैन लुधियाना, बंसीलाल जैन होशियारपुर। शेष चुनाव का भार प्रमुख साहब पर रखा गया। सभापति जी का आभार लिखकर मीटिंग समाप्त हुई।

२६-८-५६

हरजसराय जैन
मंत्री

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ सितम्बर १९५६ अंक ११

पज्जोसवणा कप्प—

—पर्युपशमना कल्प

—पर्युषण पर्व—

पिछली भूलों और ग़लतियों को स्वीकार करना, उनके लिए पश्चात्ताप करके क्षमा माँगना, आगे के लिए त्रुटियों को दूर करने का संकल्प करना, मन में छिपी हुई कड़ुवाहट को हटाकर आत्मा में शान्ति एवं हलकेपन का अनुभव करना, प्राणी मात्र के प्रति हृदय से मैत्री और प्रेम का स्रोत बह निकलना—यही पर्युपशमना कल्प का—क्षमा और शान्ति के पुनीत पर्व का सबसे बड़ा संदेश-आदेश हो सकता है।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्व-भूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥

—मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सभी जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री—दोस्ती है, किसी से मेरा वैर—विरोध नहीं है।

इसीलिए यह पर्युपशमना—बुराइयों और भूलों को हटाने का सबसे बड़ा कल्प—संकल्प, विधान या पर्व है।

परि—पूरी तरह से क्रोधादि विकारों का उपशमन—पर्युपशमना 7 पज्जुवसमणा 7 पज्जोसवणा 7 पज्जोसणा 7 पज्जूसण 7 पर्यूषण 7 पर्युषण।

—कृष्ण

पर्युषण-पंचक

जग से मिटा तिमिर का बन्धन !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—१—

कर्म जाल परिदग्ध मूल से
ध्वस्त पाप-रिपु तपस्-मूल से
मान-मोह-मद मिले धूल से
यंत्रित जीवन में संयत मन !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—२—

हिंसा हटी, कटी सब कटुता
उठी विहँसती ऋजुता, समता
मिलीं गले से क्षमा-नम्रता
विश्व-प्रेम का स्वागत-वन्दन !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—३—

पथ प्रशस्त निर्वाण-ज्ञान का
आया रथ अर्हत् महान् का
मुखरित मुख नभ-नभस्वान् का
अमरधाम का शुभ अभिनन्दन !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—४—

सद्‌गुण का सौन्दर्य अंकुरित
धर्म-पुण्य के विटप मंजरित
पीड़ा का पतझार जर्जरित
सुख-वसन्त का मधु आवाहन !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—५—

अहंकार की अवधि संकुचित
जीव मृत्यु के पार उत्तरित
भव की बाधा-व्यथा अंकुशित
'जय जिनेन्द्र ! जय जय उच्चारण !
आया पर्व प्रसिद्ध 'पर्युषण' !!

—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव—



पर्युषण पर्व का दिव्य संदेश

जीवन की कला

—उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी महाराज—

मानव जीवन में कला का विशेष स्थान रहा है। कला की एक निश्चित परिभाषा, भले अभी तक न हो सकी हो, परन्तु जीवन को सुन्दर, मधुर और सरस बनाने की चेष्टा का जब से सूत्र-पात हुआ है, तब से कला भी जीवन के भव्य भवन में जाने-अनजाने आ पहुँची है। कला का अर्थ भोग-विलास के साधन जुटाना, एक भ्रान्त धारणा ही नहीं, अपितु कला के यथार्थ परिबोध की नासमझी भी है। कला जीवन-शोधन की एक प्रक्रिया है। कला जीवन-विकास का एक प्रयोग है। कला जीवन यापन की एक पद्धति है, एक शैली है। भोग-विलास के उपकरणों व प्रसाधनों के अर्थ में 'कला' शब्द का प्रयोग करना, यह कला की विकृति है, संस्कृति नहीं। यह 'कला' शब्द की विसंगति है, संगति नहीं।

भारतीय संस्कृति के जागरणशील प्रतिनिधि भर्तृहरि ने कहा है—जिस जीवन में साहित्य की उपासना नहीं, संगीत की साधना नहीं, कला की आराधना नहीं, वह जीवन मानव का जीवन नहीं, एक पशु का जीवन है। कवि की वाणी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः,
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।"

मानव स्वभाव के संस्कार और संरक्षण के लिए जीवन में कला एक परमावश्यक तत्त्व है।

श्रमण परंपरा में मानव जीवन के दो विभाग हैं—श्रावक और श्रमण। भोगी और योगी। गृहस्थ और सन्त। भोग से योग की ओर बढ़ना—दोनों के जीवन का ध्येय बिन्दु है। जो एक साथ सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता, वह श्रावक होता है, जो एक साथ समस्त बन्धनों को काट कर चल पड़ा, वह श्रमण होता है। परन्तु इन दो भूमिकाओं से पूर्व भी जीवन की दो भूमिकाएँ और हैं—मार्गानुसारी और सम्यग्दृष्टि। जो अभी अन्धकार से मुड़कर प्रकाशोन्मुख बना है, परन्तु

अभी प्रकाश को पा नहीं सका, वह मार्गानुसारी—सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला है। जिसने सत्य श्रद्धा का प्रकाश पा लिया, सत्य का संदर्शन कर लिया, वह सम्यग्दृष्टि है। जो सत्य के महापथ पर चल पड़ा—यह श्रावकत्व तथा श्रमणत्व है। श्रमण संस्कृति की मान्यतानुसार मानव जीवन की ये चार रेखाएँ हैं। इनमें से पहली रेखा तक जीवन की कला प्राप्त नहीं होती। जीवन की कला का आरम्भ होता है सम्यग्दृष्टि व सत्यदृष्टि से। यह कला जिस किसी के भी पास हो, जीवन यात्रा में उसे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता।

वैदिक परम्परा में भी मानव जीवन को चार विभागों में विभाजित किया है, ब्रह्मचर्य—साधना काल, गृहस्थ—कर्तव्य काल, वानप्रस्थ अर्थात् संन्यास की तैयारी और संन्यास—पूर्ण साधना काल। पहले विभाग में जीवन की सुदृढ़ता, दूसरे में धन तथा जन का उपार्जन व भोग, तीसरे में त्याग का अभ्यास और चौथे में त्याग की पूरी साधना की जाती है।

भारतीय विचारधारा में मानव जीवन को 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' कहा गया है। दर्शन सत्य है, धर्म शिव है और कला सुन्दर है। दर्शन विचार है और कला आचार है, धर्म उन दोनों में शिवत्व का अधिष्ठान करता है। फलितार्थ यह होगा, कि सम्यग् निष्ठा, सम्यग् विचार और सम्यग् आचार—इन तीनों का समग्रत्व ही वस्तुतः सच्ची जीवन कला है। जिसके जीवन में निष्ठा हो, विवेक हो और कृति का समन्वय हो, तो समझना चाहिए कि यह जीवन वस्तुतः कलावान् जीवन है, कलामय जीवन है। भारतीय दर्शन की संधारणा के अनुसार आत्मा में सत्, चित् और आनन्द—ये तीन गुण हैं। इन तीनों की समष्टि को 'आत्मा' पद से कहा गया है। सत् का अर्थ है सत्य, चित् का अर्थ है शिव तथा आनन्द का अर्थ है सुन्दर। सत्य, शिव और सुन्दर की समष्टि को ही जीवन की कला कहा जाता है।

मानव जीवन का चरम ध्येय आनन्द है। यदि मानव जीवन में से आनन्द तत्त्व को निकाल दिया जाए तो फिर जीवन का अर्थ ही क्या शेष रहेगा ! और यदि जीवन में आनन्द नामक कोई तत्त्व है, तो फिर जीवन में कला की भी नितान्त आवश्यकता है ही। क्योंकि कला का उद्देश्य जीवन को आनन्दमय बनाना है। कुछ विचारक कहते हैं—"कला का अर्थ है कला याने कला केवल कला के लिए है। जीवन से उसकी कोई संगति नहीं है।" यह नारा भारत का नहीं, विदेश का है। वहाँ पर भोग ही जीवन की अन्तिम

परिणति है। भारतीय जन जीवन में भोग नहीं, योग श्रेष्ठ माना है। अतः यहाँ पर कला, केवल कला के लिए नहीं, मनोरंजन मात्र के लिए नहीं, अपितु जीवन के लिए है, भोग में से योग में ले जाने के लिए है। अतः कहना होगा कि भारतीय विश्वास के अनुरूप कला केवल कला के लिए नहीं, अपितु कला जीवन के लिए है। देश, काल और परिस्थिति वश कला में विभेद हो सकते हैं, परन्तु कला कभी व्यर्थ नहीं हो सकती।

सौन्दर्य की ओर ढलना, मानव मन का सहज स्वभाव है। मानव-मानस में संस्थित सौन्दर्य की भावना, केवल मानव के अपने जीवन तक ही सीमित नहीं रही, किन्तु वह अपने आराध्य भगवान् को भी सुन्दर वेष, सुन्दर भूषा और सुन्दर रूप में देखने की कल्पना करता है। वीतराग को भी भक्त कवि अनुपम, अद्भुत एवं चरम सुन्दर देखना चाहता है—

"यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।।"

इससे अधिक सौन्दर्य की उपासना अन्यत्र दुर्लभ है। भक्त अपने भगवान् को विश्व में सर्वाधिक चिर सुन्दर देखना चाहता है। तभी तो वह कहता है कि जिस शान्तराग परमाणु पुञ्ज से आप के शरीर की रचना हुई है, वे परमाणु विश्व में उतने ही थे; क्योंकि इस विराट विश्व में आप से अधिक रूप किसी में नहीं है। आप से अधिक सौन्दर्य अन्यत्र नहीं देखा गया। सौन्दर्य के उपकरण ही शेष नहीं रहे, तो सौन्दर्य कहाँ रहेगा ?

भले ही हम इस भक्त कवि की सौन्दर्य भावना को भक्ति का अतिरेक कह कर टाल दें; परन्तु सत्य यह है कि सौन्दर्य की ओर झुकना मानव मन का सहज धर्म है। सौन्दर्य-उन्मुखी प्रवृत्ति ही तो कला कही जाती है। अन्तर इतना ही है कि भौतिकवादी बाहरी सौन्दर्य को देखता है और अध्यात्मवादी आत्मा के सौन्दर्य को देखता है। भारत के महान् चिन्तकों ने जीवन की सफलता व सार्थकता में भूलकर भी विलास की गणना नहीं की। जीवन में सौन्दर्य को भी माना, कला को भी माना; परन्तु सौन्दर्य और कला में संयम की संयोजना को वे कभी नहीं भूले। सौन्दर्य की उपासना की, पर संयम के साथ। कला की आराधना की, पर संयम के साथ। आनन्द

की कामना की, पर संयम के साथ। भारत के अध्यात्म-वादी कलाकारों ने अन्तर्जगत् के सौन्दर्य का मन भरकर वर्णन किया है। गीता का विराट रूप-दर्शन इस कल्पना का प्रबल प्रमाण है।

राजा जनक की सभा में, अष्टावक्र ऋषि ज्यों ही पहुँचे कि उन्हें देखकर समस्त विद्वान् हँसने लगे—ऋषि का रूप ही ऐसा था। पर साथ में तपस्वी अष्टावक्र भी हँसने लगे। विद्वानों ने पूछा—आप क्यों हँसे? अष्टावक्र ने मुस्कान भर कर कहा—"मैं अपनी भूल पर हँसा हूँ। मैं समझता था कि राजा जनक अध्यात्म-वादी हैं, उनके विद्वान् सभासद् भी अध्यात्म-वादी होंगे। परन्तु मैंने यहाँ आकर देखा—यह सभा तो चमारों की सभा है। यहाँ चमड़े का रंग रूप देखा जाता है—आत्मा का सौन्दर्य नहीं।"

ऋषि की वाणी में भोगवादी संस्कृति पर एक करारा व्यंग है। साथ ही भारत की अध्यात्म-भावना में अटूट निष्ठा भी। जीवन में सौन्दर्य भी है, परन्तु उसका उपभोग योग में करो, न कि भोग में। भारत का विश्वास भोग-कला में नहीं, योग-कला में है। कला-कला में भी बड़ा अन्तर होता है। एक प्राचीन अध्यात्म-वादी कवि की वाणी में—

"कला बहत्तर पुरुष की वा में दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥"

७२ कलाओं में दो कलाएँ प्रधान हैं—भोग-कला और योग-कला। भोग की एक सीमा है, उसके बाद योग की सीमा रेखा आ जाती है। भोग से योग की ओर जाना, यह भारत की मूल संस्कृति है। भारत में योग-कला का बड़ा महत्त्व है। योग-कला ही वस्तुतः जीवन की सच्ची कला है। भोग में से योग में जाना ही तो श्रमण साधना का मुख्य संलक्ष्य रहा है। पर्युषण पर्व हमें यही दिव्य सन्देश सुनाता है कि अपने जीवन को भोग पंक में से निकालने का सतत प्रयत्न करते रहो। यह भी जीवन की एक कला है।



पर्यूषणमयी आराधना

श्रमण ! तेरी श्लाघनीया साधना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

(१)

वह अनन्त निगोद जिस में चेतना खद्योत बन कर ;
जल रही थी, बुझ रही थी, कर्म के आघात गिन कर।
उस तमस से हे श्रमण ! कैवल्य तक तू पहुँच पाया ;
भव जलधि के प्रलय में निर्वाण तक तू नाव लाया ॥
मनुजता का स्वर्ण पाकर विश्व प्रहरी तू बना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

(२)

आत्मभाव बसे विना मानव नहीं सुख पा सकेगा ;
स्वार्थ-विषधर विश्व में प्राणान्त विष फैला सकेगा।
समझ लो परघातकारी स्वयं का आघात् करता ;
कूप जो परहेतु खोदे, प्रथम उसमें स्वयं गिरता ॥
परस्पर उपकार करना, विश्व की हित कामना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

(३)

धर्म के दश लक्षणों में सार जीवन का समाया ;
और इन से विमुख होना, मरण का सामान लाया।
सैकड़ों हिटलर यहाँ पर पराजय का घूँट पीते ;
श्रमण पथ के पथिक कुछ बापू समा हो अमर जीते ॥
श्रमण संस्कृति सुजनता है अपर निश्चय दुर्मना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

(४)

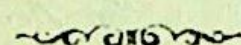
जैन पर्व इसे कहो तुम, राष्ट्र का पर मैं कहूँगा ;
नित्य समता-सलिल संभर क्षमा सरिता में बहूँगा।

अग्नि द्वारा अग्नि का प्रतिकार हो सकता नहीं है ;
एटमों से विश्व का उपकार हो सकता नहीं है ॥
विश्व की हितकारिणी बस एक मैत्री भावना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

(५)

शक्ति का, विज्ञान का युग साँस अन्तिम ले रहा है ;
स्वेज़ का छिनना उन्हें संकेत क्या क्या दे रहा है।
स्वयं ही जड़वाद की जड़ खोखली होने लगी है ;
और फिर अध्यात्म की यश दुन्दुभी बजने लगी है ॥
प्रेम द्वारा जीतना ही जीत सच्ची मानना है।
धन्य पर्यूषणमयी आराधना है ॥

—श्री रामकुमार जैन 'स्नातक'—



पर्यूषण-वन्दना

क्षमा

प्रिय पर्यूषण ! सद्गुण भूषण ! तेरी जय हो।
अभिन्न अक्षय अखण्ड शाश्वत,
क्षमा क्षमा सी दिखती विस्तृत।
क्षमा मिले तो रिपु पर आया अमर्ष क्षय हो ॥

मार्दव

'विनयी माता सभी जगह सुख',
मार्दव कहता 'उसे न तिल दुख'।
देख मृदुलता कठोर वाणी ममतामय हो ॥

आर्जव

'कुटिल मनुज को भूल नहीं सुख',
आर्जव कहता—'सीधे को सुख'।
सीधा साधा जीवन ले जन बहुगुणमय हो ॥

सत्य

झूठ नहीं अणु भर उपयोगी,
सत्य सदा अनुपम सहयोगी।
सत्यवान की सभी जगह पर निश्चय जय हो ॥

शौच

'शुद्धि चाहिए बाहर-भीतर',
कहे शौच यह निर्भय होकर।
शौच, पूर्णिमा-चन्द्र ज्योति सा नभ-भूमय हो ॥

संयम

'तन-मन तथा वचन पर संयम',
आवश्यक कहता सच संयम।
हित-मित-प्रिय भाषी का जीवन नित सुखमय हो ॥

तप

'आशाएँ विश्वास बनीं सच',
बाधाएँ निश्वास बनीं सच।
तप कहता तू रोक वासना मुझमें लय हो ॥

त्याग

देखो, त्यागी बादल ऊँचा,
सत्य संग्रही समुद्र नीचा।
कहता त्याग अन्य के हित तू सब तन्मय हो ॥

आकिञ्चन्य

मानव-जीवन नहीं अकिञ्चन,
सचमुच दुर्लभ लाल अचिन्तन।
आकिञ्चन्य कहे मनु जीवन बस नयमय हो ॥

ब्रह्मचर्य

तन-मन औ' विचार-वाणी से,
ब्रह्मचर्य कहता प्राणी से।
ब्रह्मचर्य आत्मानुकूलता रह निर्भय हो ॥

—श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज'—

पर्युषण का सामाजिक महत्व

श्रीमान् संपादक जी,

दामोदर घाटी की एकान्त बालू में यह लेखन सूर्य प्रकाश में समाप्त कर आप को भेज रहा हूँ।

लोग समझते होंगे, केवल आठ दिन के उत्सव से क्या लाभ? थोड़े से समय तक धर्म क्रिया कर लेने से फायदा क्या? इससे आत्मा या वीर-शासन की कौन-सी उन्नति होती है? ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं।

—जयन्त मुनि

इतिहास कह रहा है कि मनुष्य सदा समूह के रूप में जिन्दा रहा है और वह सामाजिक स्वरूप को व्यापक एवं विस्तृत बनाता आ रहा है। अपने अन्दर संचित समस्त सद्भावों का वह समाज में प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। आत्मा में निहित गूढतम शक्तियों को वह समाज के सहारे व्यक्त करता है। आत्मा का मूर्त स्वरूप समष्टि-रूप में प्रगट हो यह मानव की चिरकालीन सहज तीव्र अभिलाषा है, अन्यथा वह एकांत में ही साधना पूर्ण कर मर जाना अच्छा समझता और बुराइयों के प्रगट होने से जरा भी न लजाता अथवा समाज को अलिप्त रखकर, मनोगत विकृतियों को मन ही मन धोने का प्रयास न करता। मजबूरन उसका विकृत-स्वरूप प्रगट होता है या हो जाता है—किन्तु वह नहीं चाहता कि मेरी विकृतियां व्यक्त होकर समाज-स्वरूप को कलंकित करें। इससे उलटा, वह उत्तम-स्वरूप अधिक से अधिक समाज में व्यक्त करना चाहता है और इसके लिए अवसर ढूंढता है। इन अवसरों को मांगलिक भी समझता है, इसके पीछे मनोविज्ञान भी है। किसी को आप 'बुरा' कहते हैं, उसको अच्छा क्यों नहीं लगता? खासकर आप उसे समाज-विघातक, समाज-द्रोही या प्रगति-घातक आदि बताते हैं, तब ज्यादा चोट लगती है। व्यक्तिगत निंदा से उतना दुःख वह नहीं मानता जितना समाज-घातक या समाज हानिकर्ता के रूप में अपनी निंदा सुनकर अधिक पीड़ित होता है। इसलिए मालूम पड़ता है कि मनुष्य अपने आप से (निज से) समाज को बहुत

ही ऊँचा समझता है। मनुष्य की यह बहुत प्राचीन अनादि विशेषता है। वह समाज के स्वरूप को विकृत करने से डरता है। हां, वह समाज की महत्ता से गौरव का अनुभव करता है।

इसके अलावा मनुष्य का और भी एक स्वभाव है, वह यह कि समाज, समूह या संघ में मिलकर उसे बहुत ही आनंद होता है। समूह की संख्या बढ़ने पर न जाने क्यों उसके आनन्द की अवधि बढ़ती जाती है। जहां सामान्य मनुष्य के प्रवेश पर प्रतिबन्ध होता है वहां आगन्तुक के सम्मुख, प्रवेशक को लाचारी व्यक्त करनी पड़ती है—किन्तु जहां ऐसा नहीं होता, सर्व साधारण के लिए संगम होता है, वह आनंद से कहता है—"आओ, सब का संमेलन है।" संमेलन से वह खुश होता है। इतना ही नहीं, बल्कि उसे पवित्र भी समझता है। प्रायः व्यक्ति, व्यक्ति का भले ही अपमान कर दे परंतु समूह का अपमान शायद ही कोई कर सकेगा। क्योंकि व्यक्ति से समाज को उसने पूजनीय समझा है।

इन तथ्यों को यदि मद्दे नजर रखते हुए हम विचार करें, तो ज्ञात होगा कि मनुष्य को समाज के संमेलन व दर्शन की कितनी स्वाभाविक रुचि है? कितनी आकांक्षा है? उसे कितना वह चाहता है?

ऐसे संमेलनों का प्रतिदिन होना असंभव है। उतना मनुष्य को न तो अवसर ही है और न सौभाग्य ही। किन्तु वास्तविकता प्रकट होकर रहती है, आवश्यकता स्वयं मार्ग निर्माण करती है। इन सुमंगल-भावनाओं ने ही पवित्र पर्वों को जन्म दिया है। खास दिन और खास निमित्तों द्वारा मनुष्य इस अभिलाषा की पूर्ति करता है। पर्युषण-पर्व क्या है? समस्त-समाज की तीव्रतम अभिलाषा का एक सहज उत्तर, सामूहिक इच्छा का एक सामंजस्य, पूरे समाज के संमेलन व दर्शन का सुअवसर। इसके पीछे यदि दृढ़-संकल्प और पवित्रता का ख़याल न होता, तो ये पर्व इतने अखंडित और जीवित न रह पाते।

अपने यहां के शास्त्रकारों एवं पूर्वजों ने इन बातों को महसूस किया होगा। और न जाने कितने ही शुभ उद्देश्य व कल्याण के हेतु ऐसे पर्वों की परंपरा प्रस्थापित कर दी। इन दिनों में प्रत्येक व्यक्ति को उज्ज्वल स्वरूप प्रगट करने की प्रेरणा मिलती है और अवसर भी। समाज के सभी सदस्य उसका सम्मान भी करते हैं। तप, जप, व्रत, ज्ञान, नियम, उपासना, सेवा, शुश्रूषा, शासन-प्रेम, चिंतन, मनन, आराधना, भाव-भक्ति, सत्संग, दान, पुण्य, त्याग, योग,

सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर, पोसह, साधना, एकांत-सेवन, सदुपदेश-श्रवण आदि से व्यक्ति संतोष का अनुभव करता है। आठ दिनों में चालू रूढ़ जीवन की गति में एक नयी लहर आ जाती है। व्यक्ति अपना व्यक्तिरूप भूलकर समाज-जीवन का अनुभव करता है। खासकर माताओं और बहिनों को विशेष प्रकार से यह पर्व सात्विक आनंद प्रदान कर जाता है।

स्थायी परिवर्तन तो कोई विरले ही करते हैं। गृहस्थ-जीवन यापन करने वाले व्यक्ति कैसे यकायक स्थायी परिवर्तन कर सकते हैं? जब यह अशक्य सा है; तब समय-समय पर शुभ संस्कारों को और सद्विचारों को संगृहीत करना परम हितकारी होता है। यह नहीं कहना चाहिए कि स्थायी परिवर्तन न हो सके तो मर्यादित समय की धर्मक्रिया व्यर्थ है। यदि मर्यादित धर्मभाव का भी उद्भव न होता रहे तो जीवन गला-सड़ा और दुर्गन्धित बन जाता है। अस्थायी रूप से किये हुए सत्कर्म चालू जीवन प्रणाली में भी बहुत ही आंतरिक परिवर्तन लाते हैं; तथा ज्ञात-अज्ञात रूप से जीवन को अपने रंग में रंग डालते हैं। "आधी में आधी घड़ी"—का यह सबल हेतु है।

अब आप सोच सकते हैं कि समाज के प्रत्येक प्राणी के लिए धार्मिक, जातीय, तथा सार्वजनिक संघ-संमेलन कितने आवश्यक हैं। विनोबा जी के शब्दों में कहूँ तो "सम्मेलन अपने आप में सार्थक होता है।" ये शब्द उन्होंने गांधी जी के निधन के पश्चात् मिले हुए एक सर्वोदय-नेता संमेलन में कहे थे, जो खास उद्देश्य या प्रस्ताव के हेतु नहीं मिला था। उन्होंने कहा था—"संमेलन कोई भविष्य के कार्य या योजना के लिए ही नहीं होना चाहिए; संमेलन अपने आप में ही सार्थक होता है।" किसी भी जाति, संघ व शासन, समाज या राष्ट्र के जीवित एवं संगठित रहने के लिए समय-समय पर विशेष दिनों में उनका संमेलन अत्यन्त आवश्यक है। इस से आप समझ सकते हैं कि पर्युषण पर्व का उत्सव और इन दिनों में होने वाला समाज-मिलन कितना पवित्र, प्रेरक, प्राणप्रद एवं आवश्यक है।

वर्तमान स्थितियों को नजर में रखते हुए हमें पर्युषण पर्व का आधुनिक लक्ष्य भी निश्चित कर लेना चाहिए। इन उत्सव के दिनों के सहारे जैन समाज व संस्कृति को हम अधिक मजबूत कर सकते हैं। जैन धर्म के विषय में लोग अधिक जागृत हों, सामान्य जनता पर इन पर्व के दिनों का गहरा प्रभाव पड़े, हम लोग व्यापक एवं विस्तृत हो सकें, हमारे लिए जन-सामान्य में अच्छी धारणाएँ

बनें, यह नितांत आवश्यक है। अब संप्रदाय या संप्रदायवाद के प्रचार का अवसर नहीं है। अतः हम भले ही अधिक जैन न बनाएँ, किन्तु औरों के हृदय में हमारे लिए गहरा सद्भाव उत्पन्न हो, यह दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है। इस कथन के समर्थन में कुछ और कहना चाहता हूँ।

खासकर पर्युषण में ही हमारे उपदेशक-वर्ग एवं मुनिराजों को पूरे समाज अर्थात् जैन संघ के दर्शन का मौका मिलता है। इस मौके पर इन उपदेशकों एवं मुनिराजों के हृदय में जैनधर्म की महत्ता प्रदर्शित करने का विशेष उत्साह उत्पन्न होता है। अपने संप्रदाय और धर्म के लिए सम्मान होना सहज है। महत्ता के लिए कुछ मर्यादित कहा जाय, अनुचित भी नहीं; किन्तु साथ-साथ याद रखना होगा कि केवल महत्ता के भाषण से ही कोई धर्म व संप्रदाय की महत्ता नहीं होती है। महत्ता बताने से या 'हम महान् हैं' ऐसे शब्दों के कहने से कभी महत्ता नहीं मिल सकती है। उसमें भी केवल खंडनात्मक शब्दों से महत्ता कतई नहीं बढ़ती है, बल्कि विष-वमन होता है जो आगे चलकर राग-द्वेष के रूप में परिणत हो जाता है। जब उपदेष्टा जैन-धर्म की महत्ता के विषय में बोलने लगते हैं, तब प्रायः इसमें खंडन का पुट दे डालते हैं। खास करके वैदिक परंपरा के प्राचीन रिवाजों और वेद जन्य कर्मकांड एवं यज्ञ-यागादि को ले बैठते हैं और यह बतलाते हैं कि महावीर-स्वामी की वह महत्ता थी कि उन्होंने यज्ञ यागादि कर्मकांड पर चोट की। बस इतने में जैन धर्म और भगवान् महावीर की महत्ता को समाप्त कर आज के उपदेशक संतोष का अनुभव करते हैं। थोड़े पढ़े-लिखे मुनिवर भी जोरदार मार्मिक शब्दों में वैदिक-धर्म के खंडनार्थ-शब्द कह डालते हैं जो वैदिक परंपरा के करोड़ों लोगों में कटुता फैलाने के अलावा कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि खंडनात्मक-उपदेश कभी सर्जनात्मक तत्व नहीं बनते।

वस्तुतः आज वैदिक परंपरा में यज्ञ-यागादि प्रचलित नहीं हैं और वह युग चला गया है, जब यज्ञ में करोड़ों पशुओं की बलि होती थी। इससे हमें संतोष नहीं करना है कि हिंसा कम हुई है। आज यज्ञ की हिंसा के स्थान पर कतलखानों में साक्षात् हिंसा कई गुना बढ़ी है। हिन्दू-धर्म या वैदिक परंपरा में बहुत कुछ रूपांतर हो गया है। कर्मकांड की जगह सैकड़ों वर्ष से भक्ति-योग एवं कर्मयोग ने अपना ली है। तुलसी-रामायण ने हिंसा-मार्ग को सर्वथा निषिद्ध कर दयामय भावों का प्रचार किया है। स्वयं भागवत-मार्ग यज्ञ-याग

का कड़ा विरोधी संप्रदाय है; शुद्ध वैष्णव संप्रदाय में कर्मकांड से भक्ति की कहीं अधिक महत्ता मानी गई है। ये सब बातें अध्ययन करने की हैं। उनका वर्तमान रूप न देखते हुए हम वैदिक परंपरा के विरुद्ध केवल अपनी पुरानी तूती बजाते रहेंगे, तो हम बहुत असामयिक, पिछड़े हुए एवं हास्यास्पद प्रतीत होंगे। हम यदि जैन-धर्म को व्यापक रूप देना चाहते हैं, तो पुरानी वैदिक बातों को छोड़कर उनकी पिछली संत-परंपरा में क्या विशेषता थी, इसका तत्वतः निरीक्षण करना होगा और उन विशेषताओं को जिनवाणी में से खोज निकालना होगा।

आप संस्कृति की सेवा करना चाहते हैं तो तात्विक, लोकोपकारक, आध्यात्मिक, आत्म-शान्ति कारक, समाधान कारक व कुरीति निवारक बातों को लोगों के सामने पेश कीजिए। मनुष्य हृदय जिस अज्ञान और अशांति से पीड़ित है उसका सच्चा इलाज कीजिए। वर्तमान में मनुष्य-मनुष्य के निकट आना चाहता है। उसमें दूरी या भेद डालने वाला मनुष्य जाति के लिए शत्रु का काम करता है। खंडनात्मक शब्दों के उच्चारण का कटुता पैदा करने से अधिक कुछ महत्त्व नहीं है। किसी बड़े संप्रदाय, उनके प्रसिद्ध पुरुषों एवं देवताओं पर लांछन लगाने से आप अपना कुछ विकास नहीं कर सकते हैं। इससे निंदक स्वयं नीचा बनता है। ईसाइयों ने अंग्रेजी राज्य काल में हिन्दू-धर्म व उनके देवताओं पर जो आरोप लगाए थे, राम-कृष्ण को अधम बतलाकर ईसाई धर्म के विकास का ध्येय रखा था, आज उस विद्वेष और अधम नीति ने उनकी ही जड़ खोद दी है। आपने मध्यप्रांत की ईसाई विषयक समिति की रिपोर्ट देखी होगी। इस रिपोर्ट से शिक्षा लेकर हमें भी निन्दात्मक बातें सर्वथा बंद कर केवल वीतराग वाणी का अमृत पान जनता को कराना चाहिए। हम लोग ३० करोड़ वैदिक लोगों के बीच रहते हैं। जैन मुनिवृन्द करीबन १० करोड़ जनता में विचरण करते हैं। अतः पुनः मेरी प्रार्थना है कि 'भगवान् महावीर वैदिक धर्म के बड़े शत्रु थे' उस रूप में हम उन्हें चित्रित न कर 'वे संसार के बड़े हितकारी और कल्याणकारी थे' इस तरह जैन धर्म और भगवान् महावीर की असली महत्ता का इन पवित्र दिनों में प्रचार करें। इसी रीति से हम अहिंसामयी जैन संस्कृति को अधिक मजबूत कर सकते हैं।

हमारे आगम सत्य से परिपूर्ण होने पर भी हमारी वर्तमान त्रुटियां बहुत हैं। दूसरे धर्म की त्रुटियां बतलाना बंद कर, हमारे वर्तमान समाज और

धर्म पालन प्रणाली में कौन सी त्रुटियां हैं ? इसका विचार करें। अच्छी बातों के संशोधन से निर्बलता के अभिमुख मोर्चा खड़ा कर हम समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं। पर्युषण पर्व वस्तुतः दूसरों की निन्दा के दिन नहीं हैं—किन्तु आत्मशुद्धि के दिन हैं। "निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसरामि" के दिन हैं।

इन आठ दिनों में हम संमिलित होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सेवा, प्रेम, त्याग, उपदेशामृत का पान करें। सामाजिक जीवन को ज्यादा सतेज बनाएँ। सामान्य जनवृन्द के हृदय पर हमारी अधिक गहरी छाप पड़े, ऐसा ख़याल रखें। दूसरों के मन में हमारे लिए अच्छी भावनाएँ उत्पन्न हों। जैन धर्म को हम जैसे पवित्र मानते हैं, वैसे ही देश के करोंड़ो लोगों में जैन समाज व धर्म के लिए गहरा सद्भाव उत्पन्न हो। हमारे लिए औरों के मन में बुरे भाव न रहें; ऐसी प्रतीति हम कराएँ। हमारी सकल मन कामनाएँ, इस पर्वराज के बल से पूर्ण हो सकती हैं। यह पर्व हमारी संस्कृति के लिए संजीवनी है। यह पर्व पुनः उत्साह व जीवन प्रदान करता है। बहुत ऊँची भावनाओं के साथ हम अपने पर्वदेव का स्वागत करें। यही कामना व भावना है।

पर्युषण पर्व की जय।



पर्युषण

पर्व पर्युषण मनुज के लिए शुभ संदेश लाया।
दूर कर अज्ञान तम यह ज्ञान का शुचि वेष लाया॥

(१)

अरे भोले मनुज तुझ को मोह ने चहुँ ओर घेरा;
लोभ मद अरु काम ने है कर लिया तुझ में बसेरा।
छा रहा अज्ञान का सर्वत्र यह गहरा अँधेरा;
ज्ञान-सूर्योदय बिना होगा न जीवन में सवेरा॥
आत्म दोषों की निशातम-नाश को राकेश आया।
पर्व पर्युषण मनुज के लिए शुभ सन्देश लाया॥

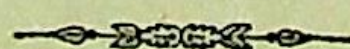
(२)

है सभी यह लोक मिथ्या, मत करो विश्वास इस पर;
साथ कोई भी न देगा तात-माता या सुहृद्वर।
सत्य केवल धर्म है औ' शेष सब कुछ है विनश्वर;
आत्म-परिचय पा लिया, जिसने वही हो गया ईश्वर॥
रूप मेरा ईश का यह आत्मा ने भेद पाया।
पर्व पर्युषण मनुज के लिए शुभ सन्देश लाया॥

(३)

मलिन दर्पण में यथा प्रतिबिम्ब है धुँधला लखाता;
क्रोध हिंसा लोभ से त्यों आत्मा में कलुष छाता।
दया सत्य विनीतता से माँजते जो आत्म-दर्पण;
सहज ही वे मुक्त होते त्याग कर संसार बन्धन॥
'पर्युषण' ने आत्मा का ज्ञान हमको है सिखाया।
पर्व पर्युषण मनुज के लिए शुभ सन्देश लाया॥

—श्री गणेश मुनि जैन, जयपुर—



पर्युषण पर्व पर

एक ऐतिहासिक दृष्टिपात

—पं० मुनि श्री रामकृष्ण जी म०—

मनुष्य की आँखें प्रतिक्षण उल्लास की प्रतीक्षा के प्रभात से जागृत रहती हैं। वह हमेशा उत्सव, महोत्सव और पर्वों की प्रतीक्षा की साधना में बैठा रहता है। उल्लास ही मानव-जीवन का अर्थ है। उल्लास की प्रतीक्षा के आधार पर ही मनुष्य अपने जीवन के सूखे-नीरस क्षणों को भी गुजार रहा होता है।

ऋतु का जब कभी परिवर्तन हुआ, तो मनुष्य के मन को आमोद की एक चेतना ने छुआ, जिससे वह अपने मन को उल्लास से भरने के लिए ऋतु परिवर्तन के जीवन-संगम पर अपने साथियों के साथ मिल कर नाचता-गाता हुआ मिला, तो कभी रंग गुलाल उड़ाता हुआ मिला, कभी भवनों-मन्दिरों में दीप जलाता हुआ मिला, कभी मिष्टान्न-पक्वान्न के साथ मदिरा चषक-पान करता हुआ मिला।

भारतवर्ष के मैदानों में फैले हुए वैताढच पर्वत के दक्षिण तथा उत्तर में गङ्गा एवं सिन्धु नदियों की परिसर भूमि की विशाल दरारों में जब खण्ड-प्रलय से अवशिष्ट मानव-सृष्टि निवास कर रही थी, तब जीवन-निर्वाह के लिए उसके पास उन नदियों में मिलने वाले मत्स्यों के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था। प्रलयंकर हवाओं से सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। उस समय जमीन आग उगल रही थी, तो आकाश ऊपर से भयंकर चिनगारियां छोड़ रहा था। समस्त वातावरण अग्निसात् बन गया था। वह अवशिष्ट मानव-सृष्टि मांस-भक्षण से ऊब चुकी थी और उल्लास की प्रतीक्षा में अपनी आँखें फाड़कर उत्सुकता के साथ बैठी हुई थी। उस समय प्रकृति ने पुष्करावर्त और संवर्तक जैसे महामेघों को उस पीड़ित मानव-सृष्टि के लिए उल्लास लेकर भेजा। वे भारतवर्ष के आकाश मण्डल पर छाने लगे, उनकी घोर गर्जना से आकाश पूरित हो गया और उनकी जलधाराओं से हजारों वर्ष से सन्तप्त भारत भूमि का सन्ताप धुलने लगा। उसकी चिरकालीन प्यास बुझने लगी। भारत-भूमि जलार्द्र हो गई। जगह-जगह जल की अपार राशि नजर आने

लगी। दुर्भिक्ष पीड़ित भूखी वसुन्धरा जिस सौन्दर्य को निगल गई थी, अब वह उसे उगलने लगी—

निर्वृत्त पर्जन्य जलाभिषेका
प्रफुल्लकाशा वसुधा रराज।

हरित वन राजियों से भूमि परिमण्डित हो गई, पुष्पों की सुगन्ध से सुरभित हो गई। पुष्प-पराग से धूलि धूसर दिशाएँ रञ्जित हो गईं। पक्षीगण की कल-कल-ध्वनि से उनके मुख मुखरित हो गए। आकाश के स्वर्ग ही भारतीय-वसुन्धरा पर उतर आए, चारों तरफ उल्लास-ही-उल्लास बिखर गया। दुष्काल पीड़ित मानव-सृष्टि जब गङ्गा-सिन्धु की दरारों से बाहर निकली, तो उसे ऋतु में आया हुआ एक महान् परिवर्तन मिला। उसकी चिरकालीन प्यासी आँखें उल्लास से भर गईं। तब उसने एक महान् पर्व का आयोजन किया, उसमें सम्मिलित घोषणा की गई कि—'आज से हममें से कोई भी मांस-जैसी वीभत्स वस्तु का भोजन नहीं कर सकेगा।' आर्य जनता ने मांस-भोजी व्यक्ति से हर एक संबन्ध को काट दिया। उसकी छाया का स्पर्श भी घृणित समझा जाने लगा। ऋतु के इस महान् परिवर्तन पर महोत्सव के साथ आर्य जनता में महान् विकास भी आया। उसके दिल और दिमाग़ बदले। विकास के एक नए युग अथवा जीवन के नए संगम में तत्कालीन भारतीय जनता ने प्रवेश किया।

आज जिस सांवत्सर पर्व या पर्युषण पर्व की आराधना जैन-संस्कृति कर रही है, उसका वास्तविक रूप तो यही था। संवत्सर में होने वाले पर्व को सांवत्सर पर्व कहते हैं। जिससे ऋतुओं का क्रम शुरू होता है अथवा ऋतु-परिवर्तन जब से होता है, उसे संवत्सर कहते हैं। खण्डप्रलय के पश्चात् उस समय महान् जल-संपात से ही भारतवर्ष में प्रकृति और युग में ऋतु आदि का विकास हुआ। इसीलिए संवत्सर को 'वर्ष' भी कहते हैं। उस समय महामेघों के द्वारा आकाश-मण्डल से आच्छादित होने से संवत्सर को 'अब्द' भी कहते हैं। मेघधाराओं के शैल से भारत की सन्तप्त भूमि के शान्त-प्रशान्त होने के कारण संवत्सर को 'शरत्' के नाम से भी पुकारा जाता है। आगम के 'पर्युषण' के अर्थ का संबन्ध भी वर्षाऋतु से है। 'पर्युषण' का अर्थ है—'वर्षा कालीन स्थिर निवास।' अतः वर्षाऋतु में ही पर्युषण पर्व की आराधना, युग के आदि में भारतीय वसुन्धरा पर आंकाश से छूटने वाली प्रथम मेघधाराओं से होने वाले उल्लास का प्रतीक है। उस समय जनता के समक्ष आर्य जीवन का उद्देश्य सिर्फ़ इन्द्रियजन्य उल्लास था। आगे जैसे-जैसे प्रकृति और युग

विकास की ओर बढ़े, तो जनता के जीवन में तरह-तरह का विकास आया। जीवन की व्यवस्था एवं कल्याण के लिए जनता में दण्डनीति आई, राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। जनता को इतने विकास से सन्तोष न हुआ। जीवन को और विकसित करने के लिए कुलधर्म, गणधर्म, राष्ट्र धर्म आदि की व्यवस्था की गई। विकास-पथ पर बढ़ते हुए जनता के क़दम अब भी नहीं रुक सके। चरम सीमा के कल्याण को देखने के लिए जनता उत्सुक हो उठी। भारत की पिछड़ी हुई जनता को लौकिक विकास की अनुभूतियों के साथ अलौकिक अनुभूतियों का भी अनुभव होने लगा। अलौकिक अनुभवों के सहारे कल्याण की चरम सीमा पर पहुंचने के लिए ऊँचे से ऊँचे जीवन के सिद्धान्त श्रुत और चारित्र धर्म के रूप में आए। जनता का कुछ हिस्सा लौकिक रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और इधर-उधर की भ्रान्त धारणाओं और लौकिक जिम्मेदारियों को छोड़कर शेष जनता से अलग कट गया और अहिंसा आदि जीवन के महान् सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करता हुआ अलौकिक सुखों की साधना में लग गया। भारतीय समाज इस हिस्से को साधु-समाज के नाम से पुकारने लगा। तप और त्याग के बल पर शेष जनता की अपेक्षा साधु-समाज को बहुत ही महत्त्व की दृष्टि से देखा जाने लगा। देवी-देवताओं तक का महत्त्व इनके सामने गिर गया। सम्राट् तक का महान् पद इनसे नीचा हो गया। इस साधु समाज ने भारतीय समाज में जो भी जीवन के सिद्धान्त क़ायम किए, उन्हें विश्व-सत्ताधीश सम्राट् की आज्ञाओं से भी बढ़ कर सम्मान मिला। इसका कारण यह रहा कि साधु-समाज ने जनता को जीवन की एक पवित्र, निर्मल और स्पष्ट दृष्टि दी।

जीवन के सभी महान् सिद्धान्तों में अहिंसा को भी मौलिकता मिली, सत्य आदि सिद्धान्त अहिंसा के प्रकार माने जाने लगे; क्योंकि सत्य आदि जीवन-सिद्धान्तों में भी अहिंसा का महान् प्रकाश चमक रहा है। अहिंसावाद में न अहिंसावादी को कोई क्लेश, पीड़ा या बाधा उत्पन्न होती है और न दूसरे को ही, जिस पर अहिंसा का प्रयोग किया जाता है। अहिंसापद से दोनों को ही अलौकिक सुखों का दिव्य वरदान मिला। जीवन के सारे प्रयत्न सुख के एक ही केन्द्र-बिन्दु को मान कर चले आए हैं, इसलिए तत्त्वदर्शी महर्षियों ने, जीवन अथवा प्राणी को ही अलौकिक सुख की परिभाषा दे डाली—

'सव्वे पाणा परमाहम्मिया।'

'सभी प्राणी परम सुखमय हैं।'

भारतीय समाज में स्वसुख के साथ परसुख का उन्मेष भी जीवन में आया। व्यक्ति के विवेक का यह अन्तिम विकास था। अहिंसक दृष्टिकोण अधिक-से-अधिक विस्तृत होने लगा। वर्षाऋतु अथवा पर्युषण में जीवोत्पत्ति के विपुल संख्या में होने के कारण, साधु समाज को विहार-यात्रा में अहिंसा-पालन में बाधा उपस्थित होने लगी। इसलिए उसने समस्त वर्षाऋतु को किसी एक ही उपयुक्त स्थान पर व्यतीत करने का जीवन कल्प बना लिया। अहिंसा की इस विशेष साधना ने साधु-समाज को काषायिक उपशान्ति दी, जिससे उसमें अपूर्व आध्यात्मिक जागरण आया। इस आध्यात्मिक जागरण ने जीवन के साथ संबंधित खाने-पीने की धारणा को काट दिया, जिससे 'पर्युषण' में विशेष रूप से तपः परम्परा चालू हो गई। जहाँ लौकिक समाज में ऋतु परिवर्तन पर पर्वों की आराधना विविध लौकिक आमोद-प्रमोद से की जाने लगी, तो अलौकिक समाज ने पर्युषण (वर्षाऋतु) में पर्व की आराधना के लिए तपश्चरण जैसे अलौकिक उपायों को अपना लिया। आखिर जब इस तपः साधना के पीछे निर्वेद का महान् प्रकाश क्षीण होने लगा, तो जैन-संस्कृति के नायक आचार्यों की तपश्चर्या की इस पवित्र साधना को अमिट रखने के लिए पर्युषण के अन्तिम दिवस पर जैन-संस्कृति के अनुयायियों के लिए उपवास का विधान लागू कर दिया, जिसमें साधु-समाज के लिए तो मूल विधान का पालन अत्यावश्यक हो गया। श्रमण-संस्कृति के उन्नायक तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक की दीर्घकालीन तपः साधना के पीछे ऐसा कोई भी विधान नहीं था। उसके पीछे था केवल निर्वेद का महान् प्रकाश। अन्तकृत् जैसे आगमों में वर्णित महापुरुषों के अद्वितीय तपश्चरण के पीछे भी ऐसा कोई कल्प परिलक्षित नहीं होता। पर्युषण पर्व में इन महामानवों की पवित्र तपश्चर्या के वर्णन का वास्तविक तात्पर्य श्रमण संस्कृति के अनुयायियों में निर्वेद भाव को उज्जीवित रखने का एक महान् प्रयत्न रहा है। लेकिन जैन-संस्कृति इस वास्तविक अर्थ को न समझती हुई नीरस तपः साधना में लगी हुई मालूम देती है।

आज यद्यपि श्रमण-संस्कृति में तपः साधना का अनुसरण बड़ी उत्सुकता एवं साहस से किया जा रहा है, लेकिन उसके पीछे निर्वेद या संवेग की कोई किरण चमकती हुई नजर नहीं आ रही है। विरोधी के सामने आने पर, यदि तपस्वी ने रक्तेक्षण उत्फण फणी या गुर्राते हुए क्रुद्ध व्याघ्र की शकल धारण कर ली तो उस तपः साधना का क्या अर्थ हुआ ? उसने जीवन का उद्देश्य

क्या समझा ? वहाँ तो केवल मूर्खों की कष्ट-साधना है। वहाँ अहिंसा और सत्य आदि जीवन के महान् सिद्धान्तों का सर्वथा अभाव है। तप के पीछे जहाँ अहिंसा की साधना है, वहाँ स्वयं में ही वैर-विरोध जैसे कलुषित भावों का अस्तित्व नहीं रहता, आस-पास का भी कलुषित वातावरण मधु और प्रेम की वर्षा करने लगता है। अहिंसा के पास सिंह और मृग जैसे विरोधी जन्तु अपने को भूल कर बैठे पाए गए हैं--

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

पर्युषण पर्व न केवल तपः साधना का प्रतीक है और न काषायिक उपशान्ति का ही; यह तो जीवन के सर्वोच्च सिद्धान्त 'अहिंसा' की परम साधना का प्रतीक है। अहिंसा भगवती की उपासना से काषायिक-उपशान्ति के द्वारा व्यक्ति परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है, फिर उसकी तपः-साधना 'भिक्षामट गां चानय' की तरह कल्प निरपेक्ष बन जाती है।

सिद्धान्तों के विषय में कथा साहित्य ने भी हमारी दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। संवत्सरी के रोज एक बार एक विचित्र घटना घट चुकी है। कहते हैं--एक बार संवत्सरी के दिन किसी आचार्य का कोई शिष्य क्षुधावश उपवास करने में अशक्त हो गया। उसने आचार्य से आहार ले आने की आज्ञा ले ली। जब वह भिक्षा-भोजन लेकर आचार्य के सामने उपस्थित हुआ तो क्रोध से आविष्ट आचार्य ने भिक्षा-भोजन पर घृणा से थूक दिया। शिष्य ने प्रशान्त होकर आचार्य देव के इस प्रसाद को स्वीकार कर लिया। कहा जाता है, परम शान्ति की आराधना से शिष्य के जीवन के क्षितिज में अन्तर्हित लोकालोक को प्रकाशित करने वाली प्रकाश की अपार दिव्यराशि का उदय हो आया। पर्व का महत्त्व किसने समझा; आचार्य ने या अन्तेवासी ने ?

अतः पर्युषण पर्व श्रमण संस्कृति के लिए तपः साधना का आदेश लेकर नहीं आया है, वह अहिंसा भगवती की आराधना का सुन्दर सन्देश लेकर आया है। इसलिए श्रमण संस्कृति पूर्णनिष्ठा के साथ अहिंसा की निर्दोष साधना के द्वारा पर्युषण पर्व में अपूर्व उल्लास प्राप्त करे, पर्युषण पर्व का यही उसके लिए महान् सन्देश है।

————

तुम धरा के तिमिर के नयन खोल दो !

नव उषाकाल के स्वर्ण आलोक-से
तुम धरा के तिमिर के नयन खोल दो !

रक्त-प्यासी न बुझती कभी प्यास है
तिलमिलाता अरे आँख आकाश है
चिटचिटाते हुए द्वेष की ज्वाल में
प्राण का वन, रहा जल, हुआ नाश है

तुम सुमन-से खिले औ' किरन-से धुले
प्राण की बँसरी को सृजन-बोल दो !

हिंस्र ज्वाला जलाती दिशाएँ जभी
स्नेह की तुम घिरा दो घटाएँ तभी
आँधियाँ जब उठें, बिजलियाँ जब हँसे
शान्त कर दो निमिष में बलाएँ सभी

क्षुब्ध इस विश्व में मौन के देवता
धार करुणा बहा शान्ति-कण घोल दो !

मानवी के लिए आज पाहुन बनो
ग्रीष्म पर तुम सदय हो कि सावन बनो
आज पतझार की खड़खड़ाहट जमी
गन्ध-निर्माणमय फुल्ल फागुन बनो
हे हिमालय धवल, शुभ्र गंगा विमल
बान्धवी की किरन का गगन खोल दो !

—श्री देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'—



श्रमण जीवन में

अधिकरण का उपशमन

—पं० मुनि कन्हैयालाल जी म० 'कमल'—

पर्युषण पर्व वास्तव में एक पर्युपशमना कल्प है, इसकी व्याख्या है "परितः—सर्वतः क्रोधादि भावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना" अर्थात् जिस कल्प में क्रोध आदि कषायों का सर्वथा उपशमन किया जाय वह पर्युपशमना कल्प है।

श्रमण के नौ कल्पों में यह अन्तिम कल्प है, अतएव इस कल्प का श्रमण जीवन के साथ गहरा संबंध है।

उत्कट कषाय वाला श्रमण, जिस दिन अधिकरण (कलह) हुआ हो, उसी दिन अथवा बीच के दिनों में अपने अपराधों की यदि क्षमायाचना न कर सका हो तो पर्युषण कल्प में उसे अवश्य क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। क्षमा-याचना करने पर ही श्रमण की संयम आराधना होती है। जैसा कि निशीथ चूर्णि अ० १० में कहा है—

जइ कसाय-उक्कंडताए ण खामियं तो पज्जोसवणासु अवस्सं विउस-मियव्वं संजएहिं नाणीहिं, जयं कयं तं सव्वं पज्जोसवणाए खमियव्वं च, एवं कारंतेहिं संजमाराहणा कया भवइ।

यद्यपि श्रमण की दैनन्दिनी साधना कर्म क्षय के लिए ही होती है, निर्विघ्न साधना के लिए ही वह समस्त संयोगों से मुक्त होकर एकान्तवास, एक भक्त आहार एवं क्लेश वर्धक स्थानों से अति दूर रहता है, दिन-रात जागृत रहता है और मिथ्यात्व आदि कर्म-बन्धन के हेतुओं से आत्मा को बद्ध न होने देने के लिए सदा सन्नद्ध रहता है। फिर भी श्रमण जीवन में अधिकरण (कलह) की संभावनाएँ निःशेष नहीं हुई हैं; अतएव आगमों में यत्र-तत्र अधिकरण संबंधी निषेध और प्रायश्चित्त के अनेक पाठ उपलब्ध होते हैं।

प्रस्तुत लेख में केवल छेदसूत्रों में आए हुए अधिकरण संबंधी कतिपय पाठ और उनके भाव ही दिये जा रहे हैं।

अधिकरण शब्द का अर्थ

"अधिक्रियते—नरकगति-योग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेन तदधिकरणम्" इस निरुक्ति के अनुसार जिस कार्य के करने से आत्मा नरक में जाए, वह कार्य

अधिकरण कहलाता है। अधिकरण के कलह, प्राभृत, विग्रह आदि अनेक पर्याय हैं।

अधिकरण के भेद

१ स्वपक्ष, २ परपक्ष, ३ गच्छगत, ४ गच्छनिर्गत। जैसे कि—

१. अपने गण के मुनियों से अधिकरण करे।

२. दूसरे गण के मुनियों से अधिकरण करे।

३. गण में रहा हुआ अपने या दूसरे गण के मुनियों से अधिकरण करे।

४. गण से निकल कर अपने भूतपूर्व गण के मुनियों से या दूसरे गण के मुनियों से अधिकरण करे।

अधिकरण का निषेध

आगमों में अनेक जगह श्रमण के लिए अधिकरण यानी कलह करने का निषेध है क्योंकि अधिकरण करने वाला श्रमण 'पाप श्रमण' होता है।

नया अधिकरण उत्पन्न करना या करवाना अथवा अधिकरण के शान्त होने पर पुनः उत्तेजना देकर अधिकरण करवाना भी श्रमण के लिए निषिद्ध है। अधिकरण करना या करवाना आत्मा के लिए असमाधि का स्थान भी है।

अधिकरण के कारण

प्रव्रज्या धारण करने पर भी जो साधक अशान्त और असहिष्णु प्रकृति का होता है वह निम्नलिखित प्रसंगों में गृहस्थ से अधिकरण (कलह) कर बैठता है।

अचियत्त कुल पवेसे, अइभूमि अणेसणिज्ज-पडिसेहे।
अवहाराऽमंगलुत्तर, सभाव अचियत्त मिच्छते॥

बृ० भाष्य ५५६७

१. साधु द्वेषी गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिए प्रवेश करने पर।

२. जिस स्थान में श्रमण का प्रवेश निषिद्ध होता है वह स्थान अतिभूमि कहलाता है ऐसे स्थान में प्रवेश करने पर।

३. कारण वश अनेषणीय याचित वस्तु के न देने पर।

४. शिष्य का अपहरण करने पर।

५. यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय साधु को देखकर 'अमंगल हो गया' गृहस्थ के ऐसा कहने पर।

६. आवश्यक प्रश्न का उत्तर न देने पर।

७. अपना अनिष्ट होता देखकर।

८. किसी द्वेषी के असभ्य व्यवहार करने पर और
९. पहले के द्वेषी को देखकर अधिकरण (कलह) होता है।

गण के मुखिया प्रवर्तक आचार्य और उपाध्यायों में यदि अनुशासन की योग्यता नहीं है या वे गण के श्रमणों के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार करते हैं; तब भी श्रमणों में परस्पर अधिकरण (कलह) हो जाता है।

१. गण में रहने वाले श्रमणों को पक्षपात रहित होकर आज्ञा का निषेध नहीं करने से।
२. वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध को वन्दन आदि न करने से।
३, कालक्रम से वाचना देने योग्य शिष्य को वाचना न देने से।
४. गण में ग्लान, वृद्ध, नवदीक्षित आदि की यथायोग्य सेवा न होने से।
५. सबको स्वेच्छापूर्वक करने देने से।

अधिकरण (कलह) होने के बाद

साधु अथवा आचार्य या उपाध्याय को जिनके साथ लड़ाई हुई है उनसे क्षमायाचना किए बिना निम्न लिखित कार्य कल्पते नहीं हैं—

१. आहार पानी के लिए जाना।
२. स्वाध्याय या शौच के लिए जाना।
३. ग्रामानुग्राम विहार करना।
४. दूसरे गण में जाना।
५. वर्षावास करना।

अतएव अपने आचार्य उपाध्याय बहुश्रुत शास्त्रज्ञ जहां हों वहां जाकर आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा करके अपराध से मुक्त हो जाए और पुनः अधिकरण–कलह न करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाए।

आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे। आचार्य यदि शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त दे तो स्वीकार करे और शास्त्रानुसार न दे तो स्वीकार न करे।

शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त देने पर भी यदि कोई साधु स्वीकार न करे तो उसे संघ से पृथक् कर देना चाहिए।

अधिकरण (कलह) का उपशमन

साधु अथवा आचार्य एवं उपाध्याय का किसी साधु या गृहस्थ के साथ अधिकरण (कलह) हो जाए तो वह अपने अपराध की क्षमायाचना करके एवं "मिच्छा मि दुक्कडं" देकर शान्त हो जाए। यदि क्षमायाचना करने पर भी

जिसके साथ लड़ाई हुई है वह साधु या गृहस्थ आदर दे या न दे, खड़ा हो या न हो, वंदना करे या न करे, एक मंडल में बैठकर भोजनादि का व्यवहार संभोग करे या न करे, एक उपाश्रय में साथ रहे या न रहे, शान्त हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। जो शान्त होता है उसी की रत्नत्रय की आराधना आराधना है, जो शान्त नहीं होता है उसकी आराधना आराधना नहीं है। इसलिए अपने आप को ही शान्त होना चाहिए, क्योंकि भगवान ने साधुता का सार कषायों का उपशम ही कहा है और दशवैकालिक निर्युक्ति में भी कहा है—

सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति ।
मन्नामि उच्छु पुप्फं व, निप्फलं तस्स सामन्नं ।। गाथा ३०१।

जिस साधु के क्रोध आदि कषाय उग्र होते हैं, मैं उसकी साधुता को इक्षु के फूलों की तरह निष्फल मानता हूं।

किन्तु विक्षिप्त, यक्षाविष्ट, विष या मादक द्रव्यों से मूर्छित, वातादि व्याधियों से उन्मत्त श्रमण, यदि किसी साधु से अधिकरण करे, क्षमायाचना न करे अथवा अभ्युत्थानादि न करे तो वह विराधक नहीं है क्योंकि वह बेभान है।

इसी प्रकार शास्त्रीय मर्यादाओं से अनजान नवदीक्षित शिष्य भी अधिकरण करे तो विराधक नहीं होता है क्योंकि वह अज्ञ है।

गीतार्थ (शास्त्रज्ञ) भी यदि किसी दुष्कर्मा साधु को संघ से बाहर करने के लिए उसके साथ अधिकरण करे या अभ्युत्थानादि व्यवहार न करे तो वह विराधक नहीं है।

खित्तादडकोविओ वा, अनल-विगिचट्ठया व जाणं पि ।
अहिगरणं तु करेंता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि ।।
भाष्य गाथा–२७३१

साधु अथवा आचार्य एवं उपाध्याय क्षमायाचना किए बिना या शान्त हुए बिना दूसरे गण में चला जाए तो सामान्य साधु को आचार्य और आचार्य एवं उपाध्याय को स्थविर या गीतार्थ कोमल वचनों से बार-बार समझाएँ और पहले के गण में स्थिर करने की कोशिश करें। यदि वह आना चाहे तो यथायोग्य प्रायश्चित्त देकर अथवा गण के मुनि जैसा चाहें वैसा करके पुनः गण में स्थिर करें।

उपशम का उपहास

आगमों में जहां "उवसमसारं खु सामन्नं" के सिद्धान्त की घोषणा की

गई है और आराधना का आधार ही उपशम माना गया है वहां इस युग में उपशम का उपहास भी होता देखा गया है।

श्रमण या श्रमणी का कभी किसी श्रावक या श्राविका से अधिकरण (कलह) हो जाता है और बाद में परस्पर खमित-खमावणा भी हो जाते हैं, किन्तु मानसिक राग द्वेष यदि निर्मूल नहीं होता है तो श्रावक श्राविकाएं कहा करते हैं कि महाराज हमारे से नाराज हैं, हमारे घर आहार-पानी लेने नहीं आते, संतों को इतना रागद्वेष क्यों ? ऐसे खमित-खमावणे में क्या धरा है, घर बार और परिवार छोड़ दिया फिर भी आपस में प्रेम सहानुभूति नहीं, ये क्यों लड़ते हैं, इनके क्या बांटना है आदि इस प्रकार की बाह्य क्षमायाचना उपशम का उपहास मात्र है।

अतएव आत्म कल्याण के इच्छुक सभी व्यक्तियों को इस पर्युषण पर्व में संयम आराधना के लिए सच्ची क्षमायाचना करके पुराने अधिकरण हृदय से समाप्त कर देने चाहिए।

एकांकी—

पर्व की आराधना

—श्री धनदेव कुमार 'सुमन'—

[युद्ध स्थल। महाराजा उदयन और महाराजा चण्डप्रद्योत की सेनाओं में भयंकर युद्ध हो रहा है। मारो-मारो, काटो-काटो की ध्वनि से दसों दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। यदा कदा घोड़ों के टापों की ध्वनि भी सुनाई पड़ जाती है। महाराजा उदयन अपने शाही खेमे में युद्ध का परिणाम जानने के हेतु व्यग्रता से इतस्त: परिभ्रमण कर रहे हैं। सहसा द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल—महाराज! प्रणाम। सेनापति पधार रहे हैं।

उदयन—उन्हें आदरपूर्वक ले आओ।

[द्वारपाल का अभिवादन करके जाना और सेनापति का प्रवेश]

सेनापति—महाराजाधिराज! आप की जय हो।

उदयन—कहो, सेनापति! युद्ध का क्या समाचार है?

सेना०—श्रीमन्! आप के सैनिकों ने शत्रुओं के दांत खट्टे कर दिए हैं। इनके बल-पराक्रम के समक्ष अन्त में उन्हें परास्त होना ही पड़ा। शत्रुओं की सेना में खलबली मच गई है महाराज।

उद०—और महाराजा चण्डप्रद्योत!

सेना०—बन्दी बना लिए गए हैं महाराज!

उद०—आज हम अत्यन्त प्रसन्न हैं सेनापति! लो यह उपहार (तलवार देता है)। आज समस्त नगर में आनन्द मनाया जाए। घर-घर में दीप जलाए जाएँ। राजमार्गों को दुलहिन की भांति सजाया जाए और राजकोष का मुँह खोल दिया जाए। कोई भी दीन-हीन आज हमारे द्वार से खाली न जाने पाए, यही हमारी आज्ञा है।

सेना०—जो आज्ञा महाराज !

[बन्दी रूप में सैनिकों के साथ चण्डप्रद्योत का प्रवेश]

उद०—सम्राट् चण्डप्रद्योत ! नहीं, बन्दी चण्डप्रद्योत ! कहो, कहाँ लुप्त हो गया है तुम्हारा वह शौर्य जिसके बल पर तुमने मेरी देवदत्ता दासी का अपहरण किया था ? क्या जंग लग गया है उसे ? बोलो, तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाए ?

चण्ड०—शेर को पिंजरे में बन्द कर उसे ललकार रहे हो, उदयन ! यदि तुम में हिम्मत है, साहस है, तो खोल दो मेरे ये बन्धन और हो जाने दो, दो-दो हाथ। फिर तुम्हें मालूम हो जाएगा कि किसकी भुजाओं में कितना बल है। अपने घर में तो कुत्ता भी शेर होता है उदयन !

उद०—[क्रोधित होकर] जानते हो इसका परिणाम क्या होगा ?

चण्ड०—मृत्यु से अधिक कुछ नहीं।

उद०—मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारी मौत तुम्हें बुला रही है। तुमने मेरी दासी का अपहरण किया। मेरे बार-बार आग्रह करने पर भी उसे तुमने लौटाया नहीं और तिस पर मुझे ताने देते हो। नीच ! अधम !

चण्ड०—[पृथ्वी पर पैर पटक कर] उदयन ! तुम अपनी सीमा को लाँघ रहे हो।

उद०—[क्रोधित हो] तुम्हारी इतनी शक्ति। इतना दुस्साहस। सेनापति ! गर्म-गर्म सलाखें कर इसके मस्तक पर लिखा दो 'दासीपति'। कारागार में डाल दो इसे। जब कुछ दिनों के पश्चात् इसकी बुद्धि ठीक हो जाएगी तब इसका निर्णय किया जाएगा। दूर कर दो मेरी आँखों के सामने से इसे।

[सैनिक बन्दी चण्डप्रद्योत को कारागार में ले जाते हैं और उसके मस्तक पर 'दासीपति' लिखते हैं। इस घटना को घटित हुए कई दिवस व्यतीत हो गए। वर्षाकाल के आगमन के कारण महाराजा उदयन को वहीं रुकना पड़ गया। इन्हीं दिनों पर्यूषण पर्वाधिराज का महान संवत्सरी पर्व का दिवस भी आ पहुँचा। परन्तु राजा को इस दिवस के आगमन का ज्ञान तक न था।

गायक शाही खेमे से 'पर्यूषण गीत' गाता हुआ निकलता है। शनैः शनैः गीत की ध्वनि मंद पड़ती जाती है। इस गीत को सुनकर उदयन का मन प्रसन्न हो उठता है।]

उद०—प्रहरी !

प्रह०—[अभिवादन करता है] क्या आज्ञा है महाराज ?

उद०—इस गायक को बुलाओ। इसने तो मुझे सोते से जगा दिया। मुझे तो जंगल में पड़े रहने के कारण इस पर्व का ध्यान ही नहीं रहा था। यदि ये लोग यहाँ न आते तो मेरा यह महान पर्व ऐसे ही निकल जाता।

[प्रहरी का प्रस्थान और गायक सहित प्रवेश]

गायक—नमस्कार, महाराज !

उद०—कौन हो तुम ?

गायक—'जो मिल गया सो खाना, दाता का नाम जपना।'
इसके सिवा बताएँ, क्या तुमको काम अपना॥
कहते हैं हम सभी से, कोई नहीं किसी का।
दो दिन की जिन्दगी है, तुम नाम लो प्रभु का॥

उद०—तुम्हारी वाणी रसीली है और गीत का एक-एक शब्द सुन्दर है। दोनों ने मिल कर मेरे हृदय पर जादू का सा प्रभाव कर दिया है। मेरी आत्मा की वीणा के स्वर झनझना उठे हैं। यदि तुम न आते तो मेरा यह पर्व ऐसे ही निकल जाता। इस उद्बोधन के लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो। [अपने गले का हार उतार कर देता है। आकाश की ओर देख कर स्वगत] आकाश का पश्चिमी छोर कैसा लाल-लाल हो गया है। सूर्य अस्ताचलगामी हो रहा है। प्रतिक्रमण कर अपनी आत्मा को स्वच्छ करूँ और संवत्सरी महान पर्व को सफल बनाऊँ। [भूमि को परिमार्जित कर आसन बिछाता है और कहता है]

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥"

—मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और संसार के समस्त प्राणी मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरा किसी से वैर विरोध नहीं है।

[सहसा अट्टहास की आवाज़ सुनाई पड़ती है]

उद०—[आश्चर्यान्वित हो] यह किस की आवाज है ?

आत्मा—यह तुम्हारी अपनी अन्तरात्मा की आवाज है। उदयन ! तुम ढोंगी हो, भीरु हो, कायर हो, डरपोक हो !

उद०—नहीं, नहीं। मैं कायर नहीं। मै भीरु नहीं।

आ०—क्या कहा ? तू कायर नहीं। अहहः अहहः। यदि तू कायर नहीं, ढोंगी नहीं तो क्षमा माँग उस चण्डउद्योत से जिसको तूने बन्दी बनाया है। जिसका तूने राज्य छीना है। 'दासीपति' मस्तक पर लिख जिसके जीवन को तूने मिट्टी में मिला दिया है।

उद०—मैं ? क्षमा मांगू ? चण्डप्रद्योत से, अपराधी से ! ऐसा कभी नहीं हो सकता।

आत्मा—अहहः अहहः। तू भूल रहा है अपने आप को उदयन ! इस समय तू अहं के सोपान पर आरूढ़ है। क्षमा सामर्थ्यवान् ही कर सकता है। उसके अपराध को भूल जा। उससे क्षमायाचना कर। तभी तेरा यह पुनीत पर्व सफल होगा।

उद०—ओह ! अहं और क्रोध के कारण मैं अपने आप को भूल गया था। मैंने चण्डप्रद्योत के साथ जो व्यवहार किया है, वह अमानवीय है। मैंने उसके मस्तक पर 'दासीपति' लिख उसको संसार के सम्मुख मुँह दिखाने लायक भी नहीं छोड़ा। मैंने उसके जीवन को बरबाद कर डाला। मैं पापी हूँ, नीच हूँ। न जाने चण्डप्रद्योत मुझे क्षमा भी प्रदान करेगा कि नहीं।

['भैया चण्डप्रद्योत ! भैया चण्डप्रद्योत !' कहते हुए कारागार में जाता है। सिपाही द्वार खोलता है। राजा उदयन चण्डप्रद्योत के चरणों में गिर पड़ता है और पश्चात्ताप के आँसू चण्डप्रद्योत के पैरों पर टप-टप कर गिरने लग जाते हैं।]

उद०—भैया क्षमा कर दो मुझे। मैं आजन्म तुम्हारा ऋणी रहूँगा।

चण्ड०—[पैरों को खींच लेता है] क्षमा करूँ, तुझे! जिसने मेरे जीवन को नष्ट कर दिया। 'दासीपति' मेरे मस्तक पर लिख मुझे संसार के समक्ष मुँह दिखाने तक को न छोड़ा। मैं तुम्हें क्षमा दान नहीं दूंगा। तुम पश्चात्ताप की भट्टी में झुलसो और मैं तुम्हारे इस झुलसने पर हँसकर—कहकहे लगाऊँगा। अहहः अहहः!

उद०—यदि सुबह का भूला हुआ शाम को घर वापिस आ जाए तो वह भूला हुआ नहीं होता, बन्धुवर! मैंने तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया है, उसके लिए मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। जब तक तुम मुझे क्षमा प्रदान नहीं करोगे, तब तक मेरी आत्मा को शान्ति प्राप्त न होगी और मेरा यह पर्व भी अधूरा ही रहेगा।

चण्ड०—इस बन्दी रूप में! क्षमा प्राप्त करने से पहले क्षमादान होना चाहिए, उदयन!

उद०—[सैनिक से] इनके बन्धन खोल दो। [चण्डप्रद्योत से] भैया! तुम्हारा राज्य तुम्हें वापिस देता हूँ। अब तुम मेरे समान राजा हो। अब तो क्षमा कर दो!

चण्ड०—मैंने तुम्हें क्षमा किया।

उद०—भैया!

चण्ड०—भैया!

[दोनों गले मिलते हैं। पटाक्षेप]

पर्व-सन्देश

एक वर्ष के बाद पर्व फिर आया है,
जीवन का सन्देश मनोहर लाया है।

एक वर्ष के जीवन की पड़ताल करो,
कहां-कहां पर गिरे, ज़रा यह ख़याल करो।

आंखों से यदि बुरा किसी का देखा था,
बुरा किसी का मन से तुमने सोचा था।

मुँह से कड़ुवा बोल किसी को बोला था,
हाथों से भी अगर न पूरा तोला था।

विधवा और अनाथों का न ध्यान किया,
भूखे को न तूने भोजन दान दिया।

दीन दुःखी को नहीं बुलाया प्रेम से,
ध्यान न प्रभु का किया कभी यदि नेम से।

विषयों में यदि अपना आप गँवाया है,
नर तन हीरा कौड़ी मोल लुटाया है।

और और जो तूने पाप कमाए हैं,
कर ले सुमिरन जो-जो दीन सताए हैं।

'बुरा किया, यह बुरा किया'—सौ बार कहो,
मन अपने को बार-बार धिक्कार कहो।

आगे को न कभी मैं ऐसा कर पाऊँ,
सपने में भी बुरा न कुछ भी कर जाऊँ।

अपना मन जो ऐसे शुद्ध बनाएगा,
जीवन नैया अपनी पार लगाएगा।

—श्री ज्ञानमुनि (पंजाबी)

पर्युषण पर्व और आज की नारी

—सुश्री शरवती देवी जैन, आरा

वर्त्तमान नारी का जीवन उत्तरोत्तर विलासिता की ओर बढ़ता जा रहा है। त्यागमयी नारी भोगमयी होती जा रही है। सेवा परायणता और निस्वार्थ भावना नारी के अंदर आज दिनों दिन संकीर्ण स्थान बना रही है। खेद है इस जाग्रति की घुड़दौड़ में भी नारी अपनी संस्कृति और कर्त्तव्य से च्युत होना चाहती है। विलासिता के दलदल में फँसकर वह अपने नैतिक जीवन से दूर हटकर धर्माडम्बर में ही सुख मानती है और पर्वों की पावन पृष्ठभूमि पर भौतिक उपादानों को सजाती है। यही बात पर्युषण महापर्व के संबन्ध में भी कही जा सकती है।

पर्युषण पर्व तो सादगी, संयम और भावों के शुद्धीकरण का उपदेशक तथा क्रोध, मान, ईर्ष्या, द्वेषादि विकारों पर विजय पाने का सफल अस्त्र है। यह आत्मशोधन का प्रमुख साधन है, अन्तःशुद्धि का उपाय है और है अनन्त सुख का प्रदाता। शान्ति का अग्रदूत होने के साथ ही यह क्षमा का अगाध रत्नाकर भी है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह इसके मूलभूत सिद्धान्तों का परीक्षण करे और सहज सुख के साधनों का अन्वेषण कर अपनाए। इस पर्व की गहराई में जो व्यक्ति जितना ही प्रविष्ट होगा उसका जीवन उतना ही विकसित, उन्नत, सुखी और सन्तोषी होता जाएगा। वस्तुतः यह गुण-रत्नाकर है। क्षमादि आत्मा के निज गुणों का आगार है। इसमें कोई जितना निमज्जन करेगा उसे उतने ही अमूल्य गुण-रत्न उपलब्ध होंगे।

खेद है कि नारी ने इसका रूप एकदम विपरीत बना दिया है। सुन्दर-सुन्दर आभूषण और वस्त्रों से अपने को सजाना ही उसने अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया है। सुन्दर, सुपाच्य, पौष्टिक पकवान ही इस पर्व के स्वागत को मानो नीरांजना थाल है। यही नहीं उन्हें हेयादेय का ज्ञान भी नहीं रहता। लड़ना-झगड़ना, बात-बात में तुनक जाना तो साधारण सी बात है। वे परस्पर कटुभाषण करने से भी नहीं चूकतीं। शास्त्र, पूजन, सभा,

सर्वत्र वे अपने आभूषण, वस्त्र, संतान एवं सास-ससुर, ननद आदि की समालोचना किया करती हैं। अपनी प्रशंसा और अन्य की निन्दा जैसे विषय जिनालय में भी ले जाने से नहीं चूकतीं।

आज संसार बहुत आगे बढ़ चुका है। नारी का क्षेत्र विस्तृत और विशाल होने के साथ ही साथ बहुत कुछ निष्कंटक हो चुका है। संसार की स्त्रियाँ अनेक कार्य कर रही हैं। फिर जैन नारी ही क्यों अपना कदम पीछे हटाए। हाँ अपने स्वभाव और कर्त्तव्य को दृष्टि में रखकर आगे बढ़े। इसके लिए यह पर्व ही एकमात्र साधन है। यह पाशविक जीवन की चिकित्सा की रामबाण औषधि है। जैन नारी ही नहीं, बल्कि मनुष्यमात्र के लिए सुपथ्य है, हितकर है। मनुष्य जितना ही प्रकृति की ओर बढ़ता है उसका जीवन उतना ही सुखी होता जाता है। यदि वह विकारों की ओर जाएगा तो निरन्तर दुःख दैन्य से युक्त होता जाएगा। क्योंकि निज स्वभाव से च्युत होकर कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रह सकती। क्षमा आदि आत्मा के स्वभाव हैं। अतः कोई भी व्यक्ति इन्हें धारण कर एक रूप रह सकता है किन्तु क्रोध आदि परभाव हैं। यही कारण है कि क्रोध करने के बाद व्यक्ति को अवश्य शान्त होना पड़ता है। कोई चाहे कि दो चार दिन लगातार क्रोध में भुनता रहूँ तो वह वैसा नहीं कर पाता। कुछ समय बाद ही घबड़ा जाता है और क्षमा का उपाय खोजने लगता है। अनन्तोगत्वा शान्त होने पर ही उसे चैन मिलती है।

अतः अपने कर्त्तव्य और निज गुणों को ग्रहण करने के लिए हमें दश धर्मों को ग्रहण करना होगा। इस पर्युषण पर्व की अन्तःप्रेरणा को मानना होगा। पर्युषण पर्व के वास्तविक स्वरूप को समझ कर विकारों से बचने पर ही हमारा जीवन सुखी हो सकता है। हमारा पर्युषण पर्व मनाना तभी सार्थक है जब कि हम इस सन्देश को समझें और जीवन में अपनाएँ।

साधना का पर्व

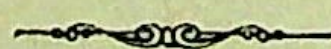
साधना का पर्व समरस-ज्योत्स्ना-सा
नित पिलाता प्यार का अमृत मधुर जो,
दिग्दिगन्तों में नया उल्लास फैला
आ गया स्वर्णिम सलोना शुभ्रतम जो।

तप, त्याग, संयम से भरा पावन सदा
ले नया संदेश युग-युग को जगा,
कर रहे अमरत्व का तुम दान नित
मिथ्यात्व को अहर्निश धरा से भगा॥

जो जगत को और निज को भूलकर
भटक जाते पन्थ से यदि अज्ञात हो,
या कि ग्रन्थि मूल में ही द्वैत बनकर
'सच-झूठ' उलझन बनी रह जाती हो।

सरलता व्यवहार-निश्चय मार्ग से
खोल देते द्वार को तुम निज करों से,
'एकान्त' यों रहने न पाता झूठ भी
तुम बता देते अपेक्षामय जगत से॥

—श्री देवेन्द्र कुमार शास्त्री, साहित्यरत्न—



पर्यूषण पर्व पर

दो महत्व पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान

—श्री अगरचन्द नाहटा—

जैसे अनेकांतवाद जैन शासन की दार्शनिक मौलिकता एवं विशेषता है, उसी प्रकार धार्मिक अनुष्ठानात्मक प्रवृत्तियों में भी कतिपय महत्वपूर्ण अनुष्ठान अपनी मौलिकता एवं विशेषता के द्वारा आध्यात्मिक साधना में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। अहिंसा का आचरण जैन समाज में जिस तत्परता एवं सूक्ष्मता से किया जाता है किसी भी धर्म के लिए वह गौरव की वस्तु है। इसी प्रकार दो अन्य जैन धार्मिक अनुष्ठान जो इतर धर्मों में उस रूप में नहीं पाए जाते और मुक्ति साधना के लिए परमावश्यक साधन है, उन पर संक्षिप्त प्रकाश डालना इस लेख का प्रधान उद्देश्य है।

उपर्युक्त दो अनुष्ठानों में पहला प्रतिक्रमण और दूसरा खमित-खमावणा—क्षमित-क्षमापणा है। जैन साधुओं के लिए ये दोनों अनिवार्य दैनिक कर्तव्य हैं। उन्हें सुबह-शाम दोनों समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है एवं क्षमित क्षमापणा भी प्रतिक्रमण के अन्तर्गत एवं रात्रि को सोते समय पृथक् रूप से करना उनके लिए आवश्यक है। पर श्रवक—गृहस्थ वर्ग के लिए भी इनकी उपयोगिता कम नहीं है, उनमें भी व्रतधारी साधु समाज के समान ही प्रायः उभयकाल प्रतिक्रमण करते हैं और इतर श्रावक भी यथाशक्य नित्य न हो सके तो पर्व-तिथियों में एव पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं। यद्यपि प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है और इसके साथ ३ पहले और २ पीछे, इस प्रकार ५ अन्य आवश्यक कार्य इसमें सम्मिलित हैं फिर भी प्रतिक्रमण का स्थान प्रधान होने के कारण इन छः आवश्यकों के सम्मिलित रूप को भी प्रतिक्रमण के नाम से संबोधित किया जाता है। इसमें सम्मिलित ६ आवश्यक ये हैं—

१-सामायिक, २-चतुर्विंशति स्तव, ३-गुरु वंदन, ४-प्रतिक्रमण, ५-कार्योत्सर्ग और ६-प्रत्याख्यान।

इनमें से सामायिक—समभाव की वृद्धि करने वाला, चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थङ्करों के गुणों की स्तुति द्वारा उनकी भक्ति करना, गुरुवंदन—पंच महाव्रतधारी धर्म गुरुओं को नमस्कारादि करना, प्रतिक्रमण—किए हुए पापों से पीछे हटना, कार्योत्सर्ग—देहात्मबुद्धि का त्याग और अन्तर्दृष्टि की ओर झुकाव, प्रत्याख्यान—अमुक समय तक आहारादि का त्याग। ये छ आवश्यक

अपने नाम से ही आवश्यकीय कर्तव्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा साधक अपने गुणों का विकास बहुत सुगमता पूर्वक कर सकता है। इनमें से प्रतिक्रमण के संबन्ध में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

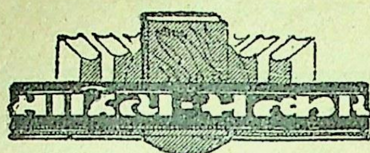
छद्मस्थ (अपूर्ण) जीव प्रति समय प्रमाद आदि द्वारा शुभाशुभ कर्मों का बंध करता रहता है। उनमें से अशुभ कार्यों की आलोचना कर उनके प्रति पश्चात्ताप करना साधक के लिए परमावश्यक है। अध्यात्म साधनों में आत्म-निरीक्षण परमोपयोगी है। प्रत्येक मनुष्य को, 'मैंने सुबह से शाम व शाम से सुबह तक क्या-क्या कार्य किये'—इसका कच्चा चिट्ठा अवश्य लगा लेना चाहिए, जिससे किये हुए अकृत्यों के संबन्ध में जागरूकता होती है और भविष्य में उन दोषों के प्रति अरुचि बढ़कर उनमें कमी होने लगती है। जब तक मनुष्य को अपने दोषों का ध्यान नहीं आता तब तक वह बेभान अवस्था में लाभालाभ को तोले बिना प्रवृत्ति करता ही रहता है। जिनसे कर्मों का भार बढ़ता चला जाता है और आत्मा के गुण दबते चले जाते हैं। प्रतिक्रमण क्रिया द्वारा उसे अपने किये हुए कार्यों का सिंहावलोकन करने का सुयोग मिलता है और वह पश्चात्ताप द्वारा उन लगे हुए दोषों से आत्मा को हटाकर हलका एवं पवित्र बनता है।

दूसरे महत्व पूर्ण खमित-खमावण (क्षमित-क्षमापणा) नामक अनुष्ठान का तात्पर्य है कि दूसरों के प्रति अपनी ओर से किसी कारणवश जो भी वैर-विरोध या कटुता का व्यवहार हुआ हो तो विरोधी से क्षमा चाहना और उसे स्वयं क्षमा कर देना। इसके द्वारा वैर-विरोध की परम्परा नष्ट होकर प्रेमभाव की अभिवृद्धि होती है। कोई मनुष्य अपने साथ दुर्व्यवहार करता है, दुर्वचन बोलता है तो उसके प्रति हमारा द्वेष यहाँ तक बना ही रहता है जब तक कि हम उससे बदला न ले लें। बदला लेना भी अपने हाथ की बात नहीं है, अतः द्वेष की परम्परा बहुत लम्बे समय तक बदला लेने की आशा के साथ चलती रहती है और उसके द्वारा तीव्र कर्मों का बंध होता रहता है। विरोधी से क्षमा याचना करके हम अपने को शुद्ध बनाते हैं और इस तरह से हमारे अनेक नए कर्मों का बन्ध रुक जाता है। वास्तव में क्षमा माँगना और क्षमा करना वीरों का काम है, इसीलिए "क्षमा वीरस्य भूषणम्" यह लोकोक्ति प्रसिद्ध हुई है। हृदय के भीतर जहाँ तक अभिमान रहता है, वहाँ तक दूसरे से क्षमा नहीं मांगी जा सकती। अतः क्षमा याचना में विनय भाव जागृत होकर लघुता—नम्रता आती है, जो आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिए अत्यावश्यक है।

तत्त्वतः खमित-खमावणा अहिंसा धर्म का ही एक अंग है, अहिंसा का जन्म सब जीवों को अपने समान समझने पर ही होना संभव है 'दूसरों के जिस प्रकार के व्यवहार से हमें कष्ट होता है उस प्रकार का व्यवहार हमें दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए, यही अहिंसा की मूल भित्ति है—"आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।" क्षमायाचना द्वारा हम उस धर्म को जागृत करते हैं, क्यों कि हमारे द्वारा दूसरे व्यक्ति को कष्ट पहुँचा है, इसलिए उसके सम्मुख अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप प्रकट करना आवश्यक होता है। अपनी भूल को स्वीकार करना कोई मामूली बात नहीं है। इसके लिए आत्मा सबल बनानी पड़ती है, और मान को हटाकर विनय धारण करनी पड़ती है। अपनी नम्रता से विरोधी पाषाण हृदय मनुष्य भी आखिर पिघल जाता है और द्वेष को छोड़ कर प्रेम धारण करता है, अतः क्षमा चाहना और क्षमा करना दोनों ही बड़ी वीरता के काम हैं।

यदि प्रतिक्रमण निजात्मा का उपकारक है, तो खमित-खमावणा स्वपर—दोनों का उपकारक है। इन दोनों गुणों से मनुष्य अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर दैवी गुणों का धारक व्यक्ति बन जाता है, पर हमारा जैन समाज इन दोनों अनुष्ठानों को बहुलता से अपनाता हुआ भी आज वैर-विरोध और दोषों से विमुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका कारण इन दोनों धर्मों का विशुद्धता पूर्वक पालन न करना ही है। क्षमायाचना हार्दिक होनी चाहिए, पर उसके स्थान में वह रूढ़िमात्र और लोक दिखाऊ की जाती है। इसीलिए हमारे वैर-विरोध ज्यों के त्यों बने रहते हैं और प्रतिक्रमण प्रायः उपयोग शून्य होता है। हम मुँह से पाठ बोलते हैं, पर उसका अर्थ चिंतन नहीं करते और अपने दोषों में कमी नहीं होती। अतः वास्तविक फल प्राप्ति के हेतु इन अनुष्ठानों में जो फलावरोध के कारण हैं, उन्हें सुधारना चाहिए।

इन दोनों अनुष्ठानों का बृहद् रूप ही सांवत्सरिक पर्व है जो भादवा सुदि ४–५ को सारे श्वेताम्बर समाज में मनाया जाता है। इस अवसर पर श्वेताम्बर समाअ में पढ़े-सुने जाने वाले कल्पसूत्र में क्षमापणा के संबन्ध में बहुत ही जोरदार शब्दों में कहा गया है कि "खमियव्वं खमावियव्वं, उवसमियव्वं उवसमावियव्वं, से किमाहु भंते ! उवसमसारं खु सामण्णं"। अन्त में यही प्रार्थना है कि हम वास्तव में क्षमावीर और दोष संशोधक बनें।



भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, बनारस-५ के चार नए प्रकाशन

१. महाबन्ध—भाग ४ और ५।

संपादक और अनुवादक, पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रत्येक का मूल्य ११) रुपया, पृ० सं० प्रत्येक की ४२७ तथा ४१५।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित प्रस्तुत दोनों पुस्तकें छपाई सफाई आदि की दृष्टि से सुन्दर हैं और ज्ञानपीठ के प्रकाशनों का जो उच्चस्तर बना है वह इनमें भी कायम है यह परम हर्ष का विषय है। पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त ग्रन्थों के मर्मज्ञ हैं और ऐसे जटिल ग्रन्थों का संपादन और अनुवादन कार्य सुचारु रूप से करते आये हैं। इस परिश्रम के लिए उन्हें बधाई है। विशेषतः इसलिए कि उनके समक्ष मूल प्रति, जिसकी कि उपलब्ध महाबंध की सब प्रतियाँ प्रतिलिपि हैं, वह अब तक उनको प्राप्त नहीं हुई है। मूल प्रति जो मूडबिद्री में है उसी की अन्य प्रतियाँ नकलें हैं। आश्चर्य है कि महाबन्ध जैसा महाग्रन्थ ताम्रपत्र में भी मुद्रित हो चुका है किन्तु उसका मिलान मूल मूडबिद्री की प्रति के साथ नहीं किया गया। पं० फूलचन्द्र जी ने भाग ४ के प्रारंभ में कुछ पाठान्तरों की चर्चा की है। उससे प्रतीत होता है कि ताम्रपत्र जैसे बहुव्यय साध्य कार्य को संपन्न करने वाले ने भी उतनी सावधानी—ऐसे कार्यों में जो अपेक्षित है—रखी नहीं है। खेद है कि महाबन्ध का संपूर्ण ताम्रपत्र बन चुका, भारतीय ज्ञानपीठ ने भी महाबन्ध के पांच भाग प्रकाशन कर दिये, किन्तु अभी तक किसी ने यह प्रयत्न नहीं किया कि मुद्रण और अंकन करने से पहले मूल मूडबिद्री वाली प्रति से मिलान किया जाय। इस बात की ओर बड़े खेद के साथ ग्रन्थमाला के प्रधान संपादकों ने भी संकेत किया है और उपाय भी सुझाया है। किन्तु न मालूम क्यों अब तक यह सब नहीं हुआ। अब समय आगया है जब कि इस ओर पूरा प्रयत्न करना चाहिए और आशा है कि पूरा प्रयत्न होगा भी।

प्रस्तुत दोनों भागों में अनुभाग बन्ध का सविस्तर विवेचन हुआ है। पं० फूलचन्द्र जी ने प्रारंभ में विषय प्रवेश के रूप में अति संक्षेप में अनुभाग बन्ध के विषय में जो लिखा है वह जिज्ञासु को ग्रन्थ में प्रवेश करने के लिए

द्वार रूप बना है यह कहते हुए हर्ष होता है ।

ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या आदि देखते हुए मूल्य अधिक नहीं है ।

—दलसुख मालवणिया

२. हिन्दी-जैन-साहित्य-परिशीलन भाग १—२

लेखक—श्री नेमिचन्द्र शास्त्री, मूल्य प्रत्येक का २।।) रु०, पृ० सं० क्रमशः प्रत्येक की २५८ और २५९ ।

प्रथम भाग में विद्वान लेखक ने अपभ्रंश काल से लेकर विक्रम की १९ वीं शती तक के पुरातन हिन्दी जैन साहित्य और उसके लेखकों का भलीभाँति परिचय देने का प्रयत्न किया है । इसी तरह दूसरे भाग में २० वीं शती के आधुनिक हिन्दी साहित्य और उसके लेखकों का । दोनों भागों को देखने से पता चलता है कि हिन्दी जैन साहित्य कितना विशाल और प्रेरक है । वस्तुतः हिन्दी जैन साहित्य का सर्जन विक्रम की ७–८ वीं शती से ही प्रारंभ हो जाता है। इसका वह रूप, अपभ्रंश भाषा में मिलता है । "अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति पाँचवीं शती में हुई थी, छठी शती में यह देशीभाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी । अतः छठी शती से ग्यारहवीं शती तक इस भाषा में पुष्कल परिमाण में साहित्य का सर्जन होता रहा । आगे चलकर इसी भाषा ने हिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी का रूप और अन्य भाषाभाषी प्रान्तों में मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का रूप धारण किया ।" अपभ्रंश भाषा में जो भी साहित्य मिलता है, वह अधिकतर जैन साहित्य ही है । इससे पता लगता है कि अपभ्रंश के महत्व को सबसे पहले जैनों ने ही पहचाना । और उसमें ८ वीं शती से पउमचरिउ—कविवर स्वयंभूदेव विरचित जैन रामायण एवं जसहर-चरिउ और तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकारु आदि विशिष्ट साहित्यिक जैन ग्रंथ उपलब्ध हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने ११ वीं शती में अपभ्रंश को महत्व की देशी भाषा मानकर इसके व्याकरण की रचना की ।

यह सब कुछ होते हुए भी खेद तब होता है, जब कि हिन्दी के आज के विशिष्ट लेखक भी हिन्दी के संबन्ध में लिखते हुए अपभ्रंश के पुरातन जैन साहित्य और इसके बाद के विशाल हिन्दी जैन साहित्य की उपेक्षा कर डालते हैं। श्री नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने परिशीलन के दो भाग लिखकर पुरातन और

आधुनिक हिन्दी जैन साहित्य पर इतना अच्छा प्रकाश डाला है कि भविष्य में किसी भी हिन्दी लेखक के लिए यह ग्रंथ बहुत ही सहायक सिद्ध होगा। इससे विशाल जैन साहित्य के परिचय के साथ ही हिन्दी के साहित्य की एक बड़ी कमी भी पूरी होगी। इस स्तुत्य प्रयत्न के लिए लेखक और प्रकाशक-दोनों अभिनन्दन के पात्र हैं।

—कृष्णचन्द्राचार्य

३. और खाई बढ़ती गई

लेखक—भारतभूषण अग्रवाल, मूल्य—२।।) रु०

आठ रेडियो नाटकों का यह संग्रह हिन्दी के जाने माने नाटककार भारत-भूषण जी की प्रतिभा का परिचय देने के लिए किसी भी पाठक के हाथ में दिया जा सकता है। ऐतिहासिक, सामाजिक, काल्पनिक, व्यंगपूर्ण एवं शुद्ध विनोदपूर्ण सभी प्रकार के नाटक इस संग्रह में हैं और कोई भी ऐसा नहीं है जिसे पढ़ने में ऊब आती हो। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि लेखक सामाजिक एवं व्यंगपूर्ण नाटक लिखने में अधिक सफल हुआ है। पुस्तक का एक प्रमुख दोष जो सम्पादक की भूल से इसमें रह गया है, वह है रेडियो नाटक के संबंध में एक संक्षिप्त भूमिका अथवा परिचयात्मक लेख का अभाव। यदि स्वयं लेखक ही इस संबंध में प्रारम्भ में एक लेख दे देता तो पाठकों को ये नाटक समझने में अधिक सहायता मिलती। अभी हिन्दी के साधारण पाठक इतने परिष्कृत विचारों के नहीं हो पाए है कि वे रेडियो नाटक का महत्व समझ सकें। यह संग्रह इस कार्य को बहुत कुछ अंशों में पूरा कर सकता था। फिर भी लेखक एवं प्रकाशक को इसलिए धन्यवाद देना आवश्यक हो जाता है कि उन्हों ने हिन्दी साहित्य की एक कमी की ओर ध्यान देकर तथा इस ओर पाठकों की रुचि बढ़ाने के लिए यह संग्रह साहित्य प्रेमियों के लिए सुलभ किया।

४. क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ

लेखक—रावी, मूल्य—२।।) रु०

हिन्दी में वैयक्तिक निबन्ध(Personal Essays) के लेखक बहुत कम हैं। और श्री रावी उनमें नवीनतम हैं। रावी की प्रतिभा से हिन्दी संसार बहुत

पहले ही परिचित हो चुका है। जिन्हों ने इनकी 'नए नगर की कहानी' तथा 'मुझे आप से कुछ कहना है'—ये दो कृतियाँ पढ़ी हैं, वे रावी को कभी नहीं भूल सकते। प्रस्तुत कृति रावी के वैयक्तिक निबंधों का संग्रह है। इसमें इनके कुल २३ निबंध है। जीवन की दिन प्रतिदिन की समस्याओं को लेखक ने उपस्थित कर उनका संतोष जनक समाधान भी उपस्थित किया है। हिन्दी में इस विषय पर नहीं के बराबर साहित्य है अतः रावी की यह कृति हिन्दी वालों को अवश्य मोहेगी। पर जिन्हें अंग्रेजी साहित्य से प्रेम है और जो यदा कदा अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ते रहते हैं उन्हें यह पुस्तक नहीं रुचेगी। इस पुस्तक में उन्हें मौलिकता का अभाव मिलेगा। वस्तुतः यह पुस्तक उनके लिए है भी नहीं। इस पुस्तक का उस समाज में आदर होना चहिए जो या तो अंग्रेजी जानता हुआ भी कभी उस भाषा का साहित्य नहीं पढ़ता अथवा जो अंग्रेजी बिलकुल नहीं जानता। रावी ने प्रतिदिन की समस्याओं का जो समाधान निकाला है, वह मान्य होते हुए भी यह कहा जा सकता है वह मन की उड़ान और आकाश पाताल की सैर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। क्यों कि अभी उस जमाने के आने में सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्षों की देर है जब पुस्तक में बतलाए गए उपायों को वह अपनाएगा। फिर भी पुस्तक एक बार पठनीय है।

अगुआ और बनफ्शे का फूल : मूल लेखक—खलील जिब्रान, अनु०—— माईदयाल जैन, प्रकाशक—राजहंस प्रकाशन, सदर बाजार, देहली, मूल्य—३)

विश्व साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान लेखक खलील जिब्रान की इस कृति को हिन्दी पाठक भी उसी प्रेम से अपनाएँगे जिस प्रेम से विश्व की अन्य भाषाओं के पाठकों ने अपनाया है—इसमें संदेह नहीं। प्रस्तुत कृति में पवित्रता, मानवता, धर्म और सौन्दर्य विषयक छोटी बड़ी ४४ रचनाएँ हैं जो प्रायः सभी अपने विषय की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इन रचनाओं में खलील जिब्रान ने अपने सारे जीवन का निचोड़ सरल व सीधी भाषा में पाठकों को सुलभ बनाया हैं। ये कहानी भी हैं, स्केच भी। निबन्ध भी और जीवन दर्शन भी। इन रचनाओं को कोई एक संज्ञा नहीं दी जा सकती। सभी रचनाएँ पठनीय एवं मननीय हैं। प्रकाशक इतने सुन्दर प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं और आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार सुंदर कृतियाँ देकर हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाएँगे।

साहित्य संदेश (आधुनिक उपन्यास अंक)

प्राप्ति स्थान—साहित्य रत्न भंडार, साहित्य-कुंज, आगरा; वार्षिक मूल्य ५), इस अंक का—१)

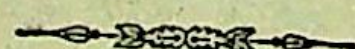
सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक मासिक 'साहित्य संदेश' ने अपने १८ वें वर्ष का प्रारंभ उपरोक्त विशेषाङ्क से किया है। साहित्य संदेश के विशेषाङ्क विद्यार्थियों के साथ ही साथ साहित्य प्रेमियों के लिए भी कितने महत्वपूर्ण होते हैं, यह पाठक अच्छी तरह जानते हैं।

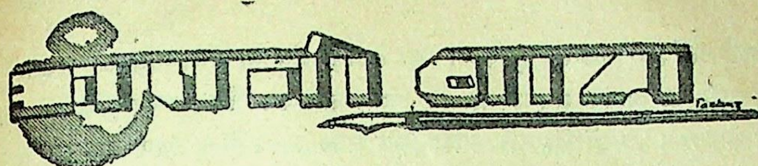
प्रस्तुत विशेषाङ्क में आधुनिक हिन्दी साहित्य से संबंधित प्रायः सभी विषयों के संबंध में लेख संगृहीत किए गए हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखकों द्वारा लिखे गए स्वयं के अनुभव इस अंक की अपनी विशेष सामग्री है। डा० रांगेय राघव तथा श्री प्रभाकर माचवे के लेखों से चिन्तन मनन के लिए कुछ नई समस्याएँ एवं प्रश्न मिलते हैं जिन पर विचार करना साहित्य प्रेमियों का आवश्यक कर्त्तव्य है। विशेषाङ्क 'साहित्य संदेश' की अपनी परम्परा के अनुकूल है।

आरोग्य (मासिक) संपाक—विट्ठलदास मोदी, प्रकाशक—आरोग्य मंदिर, गोरखपुर, वार्षिक मूल्य—४)

आरोग्य प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचारक पत्र है। पिछले कई वर्षों से बराबर प्रकाशन इसकी सफलता है। 'आरोग्य' का प्रधान लक्ष्य रहता है कि पाठक अपने वास्तविक स्वास्थ्य व प्रकृति को समझें तथा डाक्टरों व वैद्यों के चक्कर में पड़ कर व्यर्थ धन व स्वास्थ्य को न खोएँ। सरल आचार-विचार व सादा खान-पान, आहार-विहार ही आरोग्य की नींव है। दिन प्रतिदिन की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का स्वाभाविक समाधान देना 'आरोग्य' की नीति है। हिन्दी में स्वास्थ्य संबंधी पत्रों की कमी है। और इस कमी की थोड़े बहुत अंशों में पूर्त्ति गरने के लिए 'आरोग्य' के संपादक व प्रकाशक बधाई के पत्र दें।

—महेन्द्र राजा





पर्युषण या पर्युपशमन

समूचे जैन समाज में आज भी पर्युषण पर्व का सबसे अधिक महत्व है। पर्युषण शब्द वास्तव में पर्युपशमन या पर्युपशमना से बना है। पर्युपशमना से प्राकृत में पज्जुवसमणा, पज्जोसवणा, पज्जोसणा, पज्जूसणा पज्जूसण ये क्रमशः परिवर्तन हुए हैं। संस्कृत वालों ने इसका फिर संस्कृत रूप बनाया, तब पज्जूसण से पर्यूषण बना डाला, इसका ही आधुनिक रूप पर्युषण है।

पर्युषण शब्द के और भी कई तरह से अर्थ किये जाते हैं; परि—समन्तात् —पूरे तौर पर उष्यते—निवासः क्रियते आत्मगुणेषु इति परिवसनम्। जिन दिनों आत्मगुणों में भलीभाँति वास किया जाता हो, उसे पर्युषण कहते हैं। ऐसा अर्थ करने वाले यह नहीं जानते कि पर्युषण शब्द नहीं बनता, बल्कि 'परिवसन' ही हो सकेगा।

परि—समन्तात् उष्यते—दह्यते कर्म इति परि+उषणम्—पर्युषणम्। जप तप आदि से जिन दिनों कर्म जलाए जाते हों, उसे पर्युषण कहते हैं। इस तरह से भी पर्युषण शब्द न बनकर पर्योषण ही बनेगा। कोई यह भी कहते हैं कि परि—समन्तात् उष्यते—तप्यते इति पर्युषणम्। इन दिनों तपस्या खूब करनी चाहिए, इससे आत्मा शुद्ध बनता है। आत्म शुद्धि के लिए तपस्या है भी बहुत बड़ी चीज।

हमारा इन सब अर्थों के साथ कोई विरोध नहीं है। और न इन अर्थों में हम कोई असंगति ही देखते हैं। पर सबसे बड़ी बात यह है कि क्या कषायों क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारों को उपशमन किये बिना आत्मगुणों में निवास हो सकता है, क्या कर्मों को जलाया जा सकता है, अथवा बड़ी से बड़ी तपस्या भी कषायों के रहते क्या तपस्या कहला सकती है? यही कुछ प्रश्न हैं?

जैन शास्त्रों की एक छोटी सी कसौटी है। जो व्यक्ति एक साल के अन्दर अन्दर बड़े से बड़े विरोध या किसी तरह की मानसिक गांठ को अपने

मन से नहीं हटा सकता, दूसरे की बड़ी से बड़ी भूल को क्षमा नहीं कर सकता— वह साधु या श्रावक बनना तो दूर रहा, साधारण जैन—सम्यग्दृष्टि भी नहीं बन सकता। क्यों कि जो कषाय एक साल से अधिक समय तक रहता है, वह अनन्तानुबन्धी का कषाय कहलाता है। अनन्तानुबन्धी का कषाय रहने पर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, मिथ्यादृष्टि ही कहलाएगा। एक साधारण जैन बनने के लिए पहले सम्यग्दृष्टि होना जरूरी है और सम्यग्दृष्टि बनने के लिए एक साल के अन्दर बड़े से बड़े विरोध का उपशमन करना ही चाहिए। यह है इस पर्युपशमन या पर्युषण का असली रहस्य। सच पूछा जाए, तो पर्युपशमन के बिना न तो आत्मगुणों का लाभ ही हो सकता है, कर्म भी नहीं जलाए जा सकते और न कोई तपस्या, तपस्या ही कहला सकती है; उसे काय-क्लेश भले ही कह सकते हैं।

अतः पर्युपशमन—सब तरह से शान्तिभाव या क्षमाभाव को अपनाना ही पर्युषण शब्द का मूल अर्थ हो सकता है। जप-तप आदि दूसरे सभी धार्मिक विधि-विधान इसकी शोभा के लिए हैं। एक वर्ष के बाद आने वाले कम से कम पर्युषण पर्व के अवसर पर बड़े से बड़े वैर-विरोध व अपराधों को सच्चे हृदय से भुला कर अपनी आत्मा को शुद्ध कर ही लेना चाहिए। यह सारी जिम्मेवारी उस व्यक्ति की अपनी है, जो सचमुच ही परमात्म-मार्ग का अनुगामी बनना चाहता है। समाज और राष्ट्र के हित में भी इस पर्व का बड़ा उपयोग हो सकता है। आज तो विश्व के कल्याण के लिए भी इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। पर्युषण पर्व सचमुच एक विश्व का पर्व बन सकता है।

क्षमा याचना

पर्युषण पर्व का क्या महत्व है। यह किस लिए मनाया जाता है, मानव जाति या विश्व कल्याण के लिए इसका क्या उपयोग है—इन बातों पर श्रमण के इसी पर्युषण-अंक में हमारे विद्वान लेखक व मनीषी कविगण इतना अधिक प्रकाश डाल चुके हैं कि हमें अब कुछ नहीं कहना है। हमें तो इस शुभावसर पर एक ही बात कहनी है। वह यह कि अपने कृपालु लेखकों, अनुग्राहक ग्राहकों व प्रेमी पाठकों से अपनी भूलों व त्रुटियों के लिए हार्दिक क्षमायाचना व पश्चात्ताप करके उनसे नया ताजा संबन्ध बनाना है। हम जानते हैं कि 'श्रमण' पर इसके लेखकों और प्रिय कवियों की कितनी अपार कृपा है। इस

बात का पता हमें साल में दो बार तो चल ही जाता है, जब कि हम उनके पास महावीर जयन्ती अंक और पर्युषण अंक के लिए पत्र द्वारा पहुँचते हैं। उनके दिलों में अपने छोटे से 'श्रमण' के प्रति कितना प्रेम है, इसका पता उनके सुन्दर लेखों और मनोहर कविताओं से चलता है। हमारी छोटी सी प्रार्थना का वे कितना आदर करते हैं, उसे देखकर हमारा हृदय कमल खिल जाता है। 'श्रमण' के संचालकों और कार्यकर्ताओं के दिलों में नए उत्साह का संचार हो जाता है। इस बार तो हमें एक नया ही अनुभव हुआ है। जिस पूज्य श्रमण वर्ग से हमें कुछ शिकायत थी कि वह इसमें दिलचस्पी नहीं ले रहा है, जिनकी उदासीनता को देख कर 'घर का जोगी जोगड़ा, बाहर का जोगी सिद्ध' वाली कहावत स्मरण हो आती थी, इस पर्युषण–अंक को देख कर पाठक समझ सकेंगे कि इसमें कितने ही लेख और कविताएँ उसी श्रमण वर्ग की हैं। 'श्रमण' के प्रति उनके दिलों में नया उत्साह संचार हुआ है। इस बात को देखकर हमें यह भी आशा बँध रही है कि हमारे समाज का पूज्य श्रमण वर्ग अब 'श्रमण' के प्रचार की ओर भी अवश्य ध्यान देगा। यह स्थिति संभवतः बहुत जल्द आने वाली है, जब कि श्रमण का घर-घर में प्रचार देखने को मिलेगा। हो सकता है, हम आशा से अधिक आशावादी हों। पर हमारा आन्तरिक आवाज पर बहुत अधिक विश्वास है। हम देख रहे हैं कि लगभग दो साल से स्नेहमूर्ति श्री रघुवर दयाल जी महाराज और उनके योग्य शिष्य श्री अभयमुनि जी महाराज की प्रेरणा से पंजाब में कुछ ग्राहक संख्या बढ़ी हैं, इतना ही नहीं, एक बार १००) रु० देकर श्रमण के कुछ स्थायी ग्राहक भी बने हैं।

इन सब बातों के लिए हम अपने सभी अनुग्राहकों का आभार मानते हुए उन्हें हार्दिक धन्यवाद अर्पित करते हैं। हम जानते हैं इस बार भी हमारे मान्य कई लेखकों और कवियों को इस अंक में अपने लेख व कविता न देख कर अवश्य निराशा होगी। स्थिति यह है कि भरसक प्रयत्न करने पर भी कई लेख व कविताएँ नहीं दी जा सकीं। बल्कि कुछ महत्व के लेख तो कंपोजिंग के बाद स्टैन्डिग में भी रखने पड़े हैं; अवश्य ही उनसे हम अपने पाठकों को वंचित नहीं रखेंगे। इसीलिए हमने एक फार्म बढ़ाया भी है। समय कम था प्रेस की विवशता थी, जिससे अधिक फार्म भी नहीं बढ़ाए जा सके। अतः हम उनसे हार्दिक क्षमा चाहते हैं। हम जानते हैं कि कई बार हमारी बातों से हमारे लेखक गण असंतुष्ट व निराश हो जाते हैं, फिर भी उनकी कृपा बनी रहे, हमारे लिए यह सबसे अधिक संतोष की बात होगी।

श्रमण के प्रेमी ग्राहकों व पाठकों से भी हम क्षमाप्रार्थी हैं। कई बार समय पर या किन्हीं कारणों से बिलकुल ही 'श्रमण के न मिलने से उन्हें कितनी बेचैनी व परेशानी होती है, यह उनके पत्रों से ही पता चलता है। उनके रोष व उलहनों का भी हमें सामना करना पड़ता है।

इन बातों के लिए इस परम पवित्र पर्युषण पर्व के अवसर पर एक बार फिर हम अपने कृपालु लेखकों, कवियों, ग्राहकों व पाठकों से हार्दिक क्षमा याचना करते हैं। आशा है वे हमारी त्रुटियों और भूलों को क्षमा करते हुए कृपाभाव बनाए रखेंगे।

—कृष्णचन्द्राचार्य

अष्टाह्निक पर्युषण पर्व

इस वर्ष विक्रम संवत् २०१३ भाद्रपद कृष्णा १२, शनिवार ता० १ सितम्बर १९५६ से प्रारंभ हो रहे हैं। संवत्सरी महापर्व भाद्रपद शुक्ला ५, शनिवार ता० ८ सितंबर १९५६ को मनाया जाएगा।

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम को अवश्य याद रखिए

समिति की ओर से बनारस में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम कई तरह की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को अपने हाथ में लेकर चल रहा है। जिससे इसका सालाना खर्च बढ़ता जा रहा है। जैन साहित्य के इतिहास के निर्माण का बहुत बड़ा काम अपने जिम्मे लेकर संस्था ने ४०-५० हजार का नया बोझ अपने ऊपर और ले लिया है। इसके अलावा पुस्तकालय, छात्रवृत्तियाँ, श्रमण, व्याख्यानमाला आदि प्रवृत्तियाँ भी चल रही हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि अबकी पर्युषणपर्व के शुभावसर पर हमारे पूज्य मुनिगण और प्रेमी सद्गृहस्थ बनारस की प्रवृत्तियों को सहायता पहुँचाने का पूरा पूरा ध्यान रखेंगे।

निवेदक—**हरजसराय जैन**

मंत्री, श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति

गुरु बाजार, अमृतसर

समिति की बैठकें—

आज रविवार २६ अगस्त को जैनभवन में समिति के प्रमुखश्री त्रिभुवननाथ जी के सभापतित्व में श्री सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर की मैनेजिंग कमेटी की सभा हुई। १६५५ के कामों और प्रगति की रिपोर्ट इस वर्ष के आय-व्यय का हिसाब और चिट्ठा तथा १६५६ के लिए ३४,६७६) रु० का बजट स्वीकृत होकर जनरल मीटिंग को प्रेषित किया गया। बाई-ला नं० ३ (२) में शब्द activities की व्याख्या में सुधार करना स्वीकार किया गया। इसका मन्तव्य यह है कि समिति की तीन प्रवृत्तियां—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय और श्रमण (मासिक-पत्र) जो बनारस में इस समय चल रही हैं, इतनी ही प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। इस शब्द में, समिति जो प्रवृत्तियाँ और प्रारम्भ करे, सम्मिलित समझी जाएँगी। पूज्य काशीराम मेमोरियल स्टूडेण्टशिप्स के लिए लाला हंसराज जी ने पूर्ववत् सहायता देने की उदारता प्रकट की। मद्रास वाले सेठ ताराचन्द जी गेलड़ा का तारीख २३ अगस्त का पत्र पढ़ा गया, जिसमें उन्होंने १०००) रु० प्रतिवर्ष के हिसाब से पाँच साल तक समिति की सहायता करने का अपना निर्णय जाहिर किया था और 'श्रमण' के १०० ग्राहक और ३०) रु० वार्षिक मितिदान के १०० सदस्य बना देने का इरादा जाहिर किया था और रसीद बुकें माँगी थी, जो उनकी सेवा में भेज दी गई हैं। सभा ने उनके इस उदार दान, प्रेम और संकल्प के लिए आभार प्रकट कर मंत्री को आदेश दिया कि श्री गेलड़ा जी को उचित उत्तर लिखें।

सभा ने इच्छा प्रकट की कि 'जैन साहित्य का इतिहास' आदि साहित्य निर्माण का कार्य सहायतार्थ तथा अन्य दृष्टियों से भी हिन्द सरकार और यूनेस्को (Unesco) के ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस निर्माण की अब तक की प्रगति पर सभा ने सन्तोष और व्यवस्था उपसमिति के प्रति आभार प्रकट किया और विचार किया कि इतिहास के काम की समाप्ति पर जैन दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों के कोष या जैन दार्शनिक विचार के विकास के इतिहास का काम आरम्भ किया जाए।

सभा ने यह नोंध ली कि बनारस में जो जमीन सरकार की मार्फत लेने का प्रयास चल रहा था, उसका एवार्ड(award) प्रकाशित हो गया है और एग्रीमेंट (agreement) लिखा जाने पर कब्जा मिल जाएगा। फिर जल्दी ही उस पर आवश्यक पुस्तकालय के भवनादि बनाने का प्रयत्न करना होगा।

'श्रमण' में प्रकाशित लेखों के सम्बन्ध में अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स के प्रमुखश्री के पत्र पर गौर होकर यह निर्णय हुआ कि श्रमण में जो लेख छपते हैं, वे समिति की राय से नहीं होते हैं। वे तो लेखकों के व्यक्तिगत अभिप्राय या सम्मतियाँ होती हैं। विचारों के आदान-प्रदान के सिलसिले में श्रमण परिवार (controlled press) के पक्ष में नहीं है। इसकी यह नीति अवश्य है कि जैन धर्म के विशाल दृष्टिकोण को आहत न किया जाए। लेखों में गम्भीरता, जिम्मेदारी और निर्माण की झलक रहनी चाहिए। कोई

अशिष्टता और कलंकवाद भी नहीं होना चाहिए। कृतज्ञता, वफादारी और शोभा शब्दों को लेकर जो लांछन उक्त पत्र में श्रमण पर फेंकने का प्रयत्न किया गया है, वह निराधार है।

श्रमण के साधन से विश्व के साथ सम्बन्ध विकसित करने के पक्ष में प्रस्ताव पास किया गया। डेपुटेशन के दौरे के सम्बन्ध में विचार हुआ और निश्चय हुआ कि संवत्सरी के समनन्तर राजस्थान में दौरे की व्यवस्था की जाए। सर्व प्रथम पिछली मीटिंग का विवरण स्वीकार करने के बाद भीनासर में समिति के पक्ष में जो प्रस्ताव अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स ने पास किया था, उसके प्रति आभार लिखा गया। ला० बंसीलाल जी का त्याग पत्र स्वीकार नहीं किया गया, उनके स्वास्थ्य के लिए हार्दिक कामना प्रकट की गई।

समिति के सदस्य लाला खजांचीलाल लिंगा लुधियाना, गुजरांवाला वाले आगरा निवासी श्री शादीलाल जी की माताश्री, ला० टेकचन्द (फर्म श्री गैंदामल हेमराज) नई दिल्ली के सुपुत्र, श्री कर्मचन्द शाह जम्मू और बनारस के श्री तारामोहन डे वकील के देहावसान पर हार्दिक दुःख और उनके परिवारों के साथ समवेदना जाहिर की गई।

चूँकि समिति के पास नक़द रुपये की कमी है, इसलिए निश्चय हुआ कि उचित बैंक के पास ३% सरकारी कागज रखकर १४-१५ हजार रुपया (overdraft) के रूप में ऋण लिया जाए। सभापति के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव लिखने के बाद सभा समाप्त हुई।

इसके अनन्तर समिति के प्रमुखजी की अध्यक्षता में समिति की वार्षिक जनरल मीटिंग का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। गत वर्ष की कार्यवाही स्वीकृत होने पर रिपोर्ट और हिसाब बाबत सन् १९५५ और सन् १९५६ के बजट पर विचार होकर स्वीकृत हुए। बैंक से ऋण लेने के बारे में भी स्वीकृति दी गई। १९५६ के हिसाब की पड़ताल के लिए पुनः मेसर्स डी० एस० तलवाड़ एंण्ड को० को नियुक्त किया गया। यह भी निश्चय हुआ कि यदि (co-option) करने में कठिनाई हो तो चुनाव द्वारा ही ३१ सदस्यों की मैनेजिंग कमेटी चुन ली जाया करे और मैनेजिंग कमेटी को कहा गया कि पदाधिकारियों के चुनाव के समय उचित समझे तो दो उप-प्रमुख भी चुन ले। बाई-ला ३ (२) का सुधार भी पास हुआ। मैनेजिंग कमेटी के निम्न मेम्बर चुने गए।

आजीवन सदस्यों में से—सर्व श्री त्रिभुवननाथ जी, मुनिलाल जी, हंसराज गुरुबाजार वाले, प्रो० मस्तराम जैनी, राजकुमार जैन (हुकुमचन्द जसवंतमल वाले), हंसराज जैन बी० ए० अमृतसर, टेकचन्द फगवाड़े वाले दिल्ली, जगन्नाथ जैनी

(शेषांश टाइटल २ पर)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए श्री रामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस-५ में मुद्रित।



श्रमण

वर्ष ७

सम्पादक
पं० कृष्णाचन्द्राचार्य
महेन्द्र राजा एम. ए.

अंक १२

पार्श्वनाथ विद्याश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस

इस अंक में

जरूरी सूचनाएँ

१. नीचे लिखी संख्या वाले ग्राहक महानुभाव श्रमण के रैपर से अपनी ग्राहक संख्या मिलाकर ४) रु० मनीआर्डर से भेजने की कृपा करें, क्योंकि आपका चन्दा 'श्रमण' के इसी अक्टूबर अंक के साथ पूरा हो गया है। ग्राहक संख्या— २६९, २७२, ३३२, ३७२, ३९८, ४५०, ४५४, ४५६, ४६०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७९, ५२३, ५२५, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६१२, ६५३, ६६५।

२. कई बार सूचना देने पर भी 'मौनं स्वीकृति लक्षणम्' समझ कर जब वी० पी० पी० भेजी जाती है तो उसके लौट आने पर प्रति और डाकखर्च आदि मिलाकर श्रमण का सहज ही १) रु० का नुकसान हो जाता है। अतः सिर्फ दो आना खर्च कर के मनीआर्डर से ४) रु० भेजने पर ग्राहक ॥) के अधिक खर्च से और कार्यालय परेशानी से बच जाते हैं। ग्राहक न रहना हो तो भी ग्राहक के नाते सूचना अवश्य देने की कृपा करें।

निवेदक,
व्यवस्थापक 'श्रमण'
जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी,
बनारस–५

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति ।=)

प्रकाशक—पं० कृष्णचन्द्राचार्य
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५

श्रमण

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का मुखपत्र

वर्ष ७ अक्टूबर १९५६ अंक १२

वीर-वाणी

—जैन आगमों के सारभूत पद्य-वाङमय का स्वाध्याय—

(अगस्त अंक से आगे)

—५१—	—५१—
अच्छेरगमब्भुदए	विस्मय है यह, अधिगत अद्भुत
भोए चयसि पत्थिवा !	इन भोगों को क्यों तुम तजते ?
असंते कामे पत्थेसि	असत्काम की इच्छा करके
संकप्पेण विहम्मसि ॥	कल्पित सुख में क्यों हत बनते ?
—५२—	—५२—
एयमट्ठं निसामित्ता	सुन करके इस इन्द्र-प्रश्न को
हेउ-कारण-चोइओ ।	तर्क युक्ति से प्रेरित होकर ।
तओ नमी रायरिसी	बोले नमि राजर्षि इन्द्र से
देविंदं इणमब्बवी ॥	भावपूर्ण मृदु वचन मनोहर ॥
—५३—	—५३—
सल्लं कामा विसं कामा	शल्यभूत हैं कामभोग ये
कामा आसीविसोवमा ।	विष आशीविषसम भी हैं ये ।
कामे पत्थेमाणा	भोगाकांक्षा में ही रहकर
अकामा जंति दोग्गइं ॥	दुर्गति पाते जीव सभी ये ॥
—५४—	—५४—
अहे वयंति कोहेणं	अधोगमन का कारण है यह
माणेणं अहमा गई ।	क्रोध-मानमय जीवन-यापन ।
माया गई-पडिग्घाओ	सद्गति-विघटन माया करती
लोभाओ दुहओ भयं ॥	उभय-भयप्रद लोभी जीवन ॥
—५५—	—५५—
अवउज्झिऊण माहण-रूवं	ब्राह्मणरूप हटाकर सुरपति
विउव्विऊण इंदत्तं ।	इन्द्ररूप को धारण करके ।
वंदइ अभित्थुणंतो	मधुर गिरा से लगे बोलने
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥	ऋषिवर नमि को वन्दन करके ॥

—५६—

अहो ते निज्जिओ कोहो
अहो माणो पराजिओ ।
अहो निरक्किया माया
अहो लोभो वसीकओ ॥

क्रोध किया है तुमने निर्जित
और किया है मान पराजित ।
माया निराकृत की हैं तुमने
अहो लोभ भी किया वशीकृत ॥

—५७—

अहो ते अज्जवं साहु
अहो ते साहु मद्दवं ।
अहो ते उत्तमा खंती
अहो ते मुत्ति उत्तमा ॥

तव ऋजुता को धन्य धन्य है
तव मृदुता को धन्य धन्य है ।
तव क्षमता को निरासक्ति को
धन्य धन्य है ! धन्य धन्य है!!

—५८—

इहं सि उत्तमो भंते
पच्छा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं
सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥

भगवन् ! आप यहाँ हो उत्तम
मुनि आगे भी उत्तम होंगे ।
कर्मरहित हो सबसे उत्तम
सिद्धिधाम के स्वामी होंगे ।

—५९—

एवं अभित्थुणंतो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेंतो
पुणो पुणो वंदई सक्को ॥

यों अमरेश्वर श्रद्धापूर्वक
नमि मुनिवर का संस्तव करता ।
प्रदक्षिणाएँ लगा लगा कर
बार बार वह वंदन करता ॥

—६०—

तो वंदिऊण पाए
चक्कंकुस-लक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ
ललिय-चवल-कुंडल-तिरीडी ॥

नमि मुनिवर के चक्रांकुश-युत
पद पद्मों में अभिवन्दन कर ।
ललित चपल कुंडलधर मुकुटी
इन्द्र गया नभपथ से उड़कर ॥

—६१—

नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं च वेदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

प्रेरित होकर सुरपति से भी
आत्मभाव से नत बन नमिवर ।
श्रमणभाव में सुस्थित होकर
बने विदेही गृह को तजकर ॥

—६२—

एवं करेंति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसि—

प्रविचक्षण पण्डित सुज्ञानी
करते यों निज जीवन उन्नत ।
जैसे नमि राजर्षि भोग तज
जीवन अपना किया समुन्नत ॥

—त्ति बेमि

उत्तराध्ययन का ९ वां अध्ययन समाप्त

—अनु०—पं० मुनि श्री मिश्रीमल जी म० 'मधुकर'—

भारतीय संस्कृति के

पर्व और धर्मचर्या

—श्री जयभगवान जैन, एडवोकेट, पानीपत—

पाठक देखेंगे कि इस लेख में अध्ययनशील और गंभीर विचारक लेखक महोदय ने भारत की पुरानी संस्कृतियों पर कितना अच्छा प्रकाश डाला है। लेख दिलचस्प होने के साथ ही छिपे हुए इतिहास के पृष्ठों पर भी एक नया प्रकाश डालता है।

—संपादक

भारत का आदि धर्म

आज तक की पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक गवेषणाओं से तो यही सिद्ध है कि भारत का आदिधर्म अहिंसा, संयम और तप था। योगीजन ही इस धर्ममार्ग के संचालक और प्रवर्तक थे। वे कभी एक स्थान पर टिक कर न रहते थे। वे सदा इतस्ततः विचरते हुए अपने विशुद्ध संयमी जीवन और धर्म देशना द्वारा लोगों की भीतरी जड़ता और मैल को हरते रहते थे। उनमें ज्ञान दृष्टि और उच्च भावनाएँ भरते रहते थे। वे साक्षात् धर्ममूर्ति, धर्म-अवतार और धर्मदूत थे। भारत के लिए तो एक अमूल्य निधि और गौरव की वस्तु थे। त्रेतायुग से लेकर आजतक जितनी भी विदेशी जातियाँ भारत में आईं, उनमें से कोई भी इनके शान्तिदायक और बलवर्धक प्रभाव से अछूती न रहीं और भारत से बाहर जिस देश में भी ये विचरते हुए पहुंच गए, वे देश भी आध्यात्मिक क्रान्ति के अनुभवों से खाली न रहे। महान् सिकन्दर जो आँधी के समान द्रुतगति से मिश्र (Egypt) और मध्य एशिया के राष्ट्रों को अस्त-व्यस्त करता हुआ विजय कामना लेकर भारत में आया, वह इन्हीं योगियों से विजित हो नतमस्तक हुआ था। यहां से विदा होते समय जिस उत्कण्ठा ने उसे घेरा था वह यही थी कि वह किस तरह इन योगियों को अपने देश ले जाकर उसे भारत के समान ज्ञान सम्पन्न बना सके। इसी उत्कण्ठा के कारण उसे बहुत ही अनुनय विनय करना पड़ा। तब कहीं

वह अपने साथ कल्याण नाम के एक दिगम्बर मुनि को ले जाने में सफल हुआ था। ये योगीजन ही ऋग्वेद में नग्न व दिगम्बर रहने के कारण शिश्नदेव[१], जटाधारी रहने के कारण केशी[२], संयमी जीवन बिताने के कारण यति[३], व्रतधारी होने के कारण व्रात्य[४], तपोधन होने के कारण श्रमण[५], सर्व आदरणीय होने से अर्हन्[६], विशुद्ध परिणामी होने के कारण हंस[७], सदा मननशील होने के कारण मुनि और अनुद्दिष्ट भोजी भिक्षुक होने के कारण अतिथि नामों से वर्णन किये गए हैं। यह इन्हीं विचरते हुए ज्ञानी तपस्वी श्रमणों के पद चिन्हों का प्रताप है कि आज भारत के नदी पर्वत ही नहीं, यहां का चप्पा चप्पा तीर्थभूमि और पुण्यभूमि बना हुआ है। यहां के सभी जनगण चाहे वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के क्यों न हों इन योगियों के जीवन को अपना आदर्श मानते रहे हैं। समाधिस्थ योगी के अनुरूप सदा परमात्मा की भावना भाते रहे हैं। इनके समान ही सदा संयमी जीवन बिताने, प्रौढ़ अवस्था में घरबार छोड़ संन्यासी होने और मरते समय संथारा लेकर ममता रहित शरीर त्याग करने को उच्च गति का कारण मानते रहे हैं।

श्रमण संस्कृति के पर्व—

ये योगीजन नित्य प्रति प्रातः मध्याह्न और सायंकाल आत्मदर्शन के अर्थ ध्यान सामायिक करते थे तथा दोषों की निवृत्ति और जीवन शोध के लिए प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण करते थे। ये हर मासिक पक्ष की पञ्चमी, अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा एवं अमावस्या को पर्व दिन मानते थे। इन पर्व दिनों में ये किसी स्थान पर ठहर कर पोसह (उपवास) रखते थे, और वन्दनार्थ जमा

---

१ ऋग्वेद ७.२१.५; १०.९९.३।

२ ऋग्वेद १०.१२६।

३ ऋग्वेद १०.७२.७। ऐतरेय ब्राह्मण ३५ अ. खण्ड २।

४ अथर्ववेद का १५वां काण्ड। ताण्डय ब्राह्मण १७.१। ऋग्वेद ४.१९.८; ५.३०.५।

५ ऋग्वेद १.१००.१८ में श्रमण का प्राकृतरूप 'शिम्यु प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

६ ऋग्वेद २.३३.१०।

७ जाबालोपनिषत् ॥ ६॥ भिक्षुकोपनिषत्। गोपथ ब्राह्मण पूर्व १-५। छान्दोग्य उपनिषत् ४.७।

हुई जनता को धर्म देशना देते थे। इन पाक्षिक पर्वों के अतिरिक्त हर साल वर्षा ऋतु के चातुर्मास में अर्थात् आषाढ़ सुदि एकम से कार्तिक वदि अमावस्या तक ये हिंसा के भय से विचरना छोड़कर एक ही स्थान में रहते थे। तब इनके निकट में ही वन्दना, स्तवन, आलोचना, प्रतिक्रमण, उपोसथ, प्रोषध (उपवास) करते हुए लोगों का खूब सत्संग रहता था। इन धार्मिक समागमों की एक विशेषता यह भी थी कि इन अवसरों पर सभी जन अपने किये हुए अपराधों के लिए एक दूसरे से क्षमा माँगते थे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष एक जगह एकत्रित होकर प्रतिक्रमण के अलावा दार्शनिक चर्चाएँ तथा आचार विचार संबन्धी समस्याओं पर विचार किया करते थे।[१]

इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए विनयपिटक[२] में लिखा है कि एक समय बुद्ध भगवान् राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर रहते थे। उस समय दूसरे मत वाले परिव्राजक चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी को इकट्ठे होकर धर्मोपदेश दिया करते थे। इन अवसरों पर नगर और ग्रामों के स्त्री-पुरुष धर्म सुनने के लिए उनके पास जाया करते थे जिससे कि वे दूसरे मत वाले परिव्राजकों के प्रति प्रेम और श्रद्धा करने लग जाते थे और दूसरे मत वाले परिव्राजकों को अपना अनुयायी बनाते थे। यह देख बुद्ध भगवान् ने भी अपने भिक्षुओं को अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा को एकत्र होने, धर्मोपदेश देने, उपवास करने और प्रातिमुख्य (प्रतिक्रमण) पाठ करने की अनुमति दी थी।

इन व्रात्य योगियों की उपर्युक्त जीवन चर्या को ही दृष्टि में रख कर ब्राह्मण ऋषियों ने अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड १५, सूक्त १६ में व्रात्यों के निम्न सात अपानों का वर्णन किया है—१. पूर्णमासी, २. अष्टमी, ३. अमावस्या, ४. श्रद्धा, ५. दीक्षा, ६. यज्ञ, ७. दक्षिणा। इस सूक्त में ऋषिवर को व्रात्यों के उन साधनों का वर्णन करना अभीष्ट मालूम होता है जिनके द्वारा वे अपने भीतरी दोषों की निवृत्ति किया करते थे। इसीलिए ऋषिवर ने इन दोषनिवृत्ति-मूलक साधनों को अपनी भाषा में अपान शब्द से निर्देश किया है। आयुर्वैदिक ग्रन्थों में अपान का अर्थ है वह गन्दी वायु जो शरीर से बाहर आती है। इन सात अपानों में पहले तीन अपान

[१] व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र १२. १; १३. ६। उत्तराध्ययन सूत्र ५. ९७. २२। त्रिलोकसार ॥९७६॥ श्रुतावतार ॥८७॥ आदिपुराण ३८. २६–३४

[२] विनय पिटक उपोसथ स्कन्धक।

काल सूचक हैं और शेष अन्तिम चार अपान चर्या सूचक हैं। इस सूक्त का बुद्धिगम्य अर्थ यही है कि पूर्णमासी, अष्टमी और अमावस्या वाले दिन व्रात्य लोगों में पर्व के दिन माने जाते थे। वे इन दिनों में श्रद्धा (धर्म देशना), दीक्षा (इन्द्रिय संयम), यज्ञ (व्रत उपवास प्रतिक्रमण आदि जीवन शोध के नियम) और दक्षिणा (दान आदि कार्य) द्वारा धर्म की विशेष साधना कर आत्मशुद्धि किया करते थे। बृहदारण्यक उप १. ५. १४ में अमावस्या के दिन सब प्रकार का हिंसाकर्म वर्जित बतलाया गया है।

इसी प्रकार महाभारत अनुशासन पर्व अ. १०६, १०७ में पर्व के दिनों में साधुओं व गृहस्थजनों द्वारा किये जाने वाले व्रत उपवासों की महिमा भीष्म युधिष्ठिर संवाद में इस प्रकार वर्णन की गई है—भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि उपवासों की जो विधि मैंने तपस्वी अंगिरा से सुनी है वही मैं तुझे बताता हूं। जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर पञ्चमी, अष्टमी और पूर्णिमा को केवल एक बार भोजन करता है वह क्षमायुक्त, रूपवान और शास्त्रज्ञ हो जाता है। जो मनुष्य अष्टमी और कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उपवास करता है वह नीरोग और बलवान् हो जाता है। पुनः अ. १०६ श्लोक १५ से ३० तक अगहन, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र आदि द्वादश महीनों के क्रम से उपवासों का फल वर्णन किया है। उन उपवासों से लोकसुख और स्वर्गसुख मिलते हैं। पुनः अ. १०६ श्लोक ३० से अध्याय समाप्ति तक तथा अ. १०७ में विविध प्रकार के उपवासों का फल बतलाते हुए कहा है कि इन उपवासों को यदि मांस, मदिरा, मधु का त्याग कर ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्यवादिता और सर्वभूतहित की भावना से किया जाए तो मनुष्य को अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध, गोमेध, विश्वजित्, अतिरात्र, द्वादशाह्न, बहुसुवर्ण, सर्वमेध, देवसत्र, राजसूय, सोमयाग आदि विविध यज्ञों के सम्पादन द्वारा जो ऐहिक और स्वर्गीय सुख मिलते हैं उनसे भी सैकड़ों और हजारों गुना अधिक सुख इन उपवासों के करने से मिलता है। और भी कहा है कि, जैसे वेद से श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं है, माता से श्रेष्ठ कोई गुरु नहीं है, धर्म से श्रेष्ठ कोई लाभ नहीं है वैसे ही उपवासों से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। उपवास के प्रभाव से ही देवता स्वर्ग के अधिकारी हुए हैं और उपवास के प्रभाव से ही ऋषियों ने सिद्धि हासिल की है। महर्षि विश्वामित्र ने सहस्र ब्रह्मवर्षों तक एक बार[१]

[१] पाठक गण खासकर त्यागीजन इससे दशवैकालिक के 'एगभत्तं च भोयणं'—चौबीस घंटे में एक बार भोजन करने से शारीरिक और आध्यात्मिक महत्व का अनुमान लगा सकते हैं। —संपादक

भोजन किया था इसी के प्रभाव से वे ब्राह्मण हुए हैं। महर्षि च्यवन, जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम और भृगु इन क्षमाशील महात्माओं ने उपवास के ही प्रभाव से स्वर्गलोक प्राप्त किया है। जो मनुष्य दूसरों को उपवास व्रत की शिक्षा देता है उसे कभी कोई दुःख नहीं मिलता। हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अंगिरा की बतलाई हुई इस उपवास विधि को पढ़ता या सुनता है उसके सब पाप विनष्ट हो जाते हैं।

यह अंगिरा ऋषि एक ऐतिहासिक विद्वान् महात्मा हैं। यह संभवतः ईसा से १५०० वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध के समय भारतभूमि को सुशोभित कर रहे थे। ये क्षत्रियवंशी[१] थे और अपने समय के एक प्रभावक योगी थे। ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ११७ वां सूक्त जिसमें दान की महिमा का वर्णन किया गया है इन्हीं की कृति है। इस सूक्त के निर्माता ऋषि को भिक्षु अंगिरा के नाम से उल्लिखित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषत् ३.१७ में बतलाया गया है कि यह देवकीपुत्र कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे। इन्होंने कृष्ण को भौतिक यज्ञों की जगह उस आध्यात्मिक यज्ञ की शिक्षा दी थी जिसकी दीक्षा इन्द्रियसंयम है। जिसकी दक्षिणा दान तप, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवादिता है। इस यज्ञ के करने से मनुष्य का पुनर्जन्म छूट जाता है, मौत का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसके अलावा इस योगी ने कृष्ण को यह भी उपदेश दिया था कि मरते समय मनुष्य को तीन धारणाएँ धारण करनी चाहिए। 'अक्षतमसि,' 'अच्युतमसि' और 'प्राणसंशितमसि'। अर्थात् हे आत्मन् ! तू अविनाशी है। तू सनातन है। तू अमर चैतन्यवाला है। इस उपदेश को सुनकर कृष्ण का हृदय गद्गद हो उठा था।

पर्वों की मान्यता

ऊपर जिन पर्वों और धर्मचर्या का वर्णन किया गया है, भारत की सब ही हिन्दू जनता आज तक इसे करती चली आई है। इसीलिए हम देखते हैं कि पञ्चमी, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या आज भी पर्व के दिन माने जाते हैं। इन पर्व के दिनों में और विशेषकर वर्षाऋतु के चातुर्मास में सभी लोग बहुधा स्त्री समाज अन्न का त्याग, अग्नि से पके अथवा चक्की से पिसे भोजन का त्याग, षट्रसों का त्याग, तथा इन्द्रिय संयम के लिए अनेक प्रकार

---

[१] मनुस्मृति ३. १९५-१९९ में पितृगणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंगिरा का पुत्र हविर्भुज क्षत्रियों का पिता है।

के व्रत उपवास करते रहते हैं और दान दक्षिणा देते रहते हैं। इन व्रत, उपवास, दान, संयम के अलावा इन पर्व के दिनों में प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण करने, दोषों की क्षमा मांगने की प्रथा आज भी पूर्ववत् जैन लोगों में प्रचलित है। ये पर्व और इनमें की जाने वाली धार्मिक चर्या भारतीय संस्कृति के तो निःसंदेह महत्त्वशाली अंग हैं ही, परन्तु ये सुमेर, बेबीलोनिया, असुरिया आदि लघु एशिया की प्राचीन संस्कृति के भी अवश्यमेव महत्त्वशाली अंग रहे हैं। असुरिया (Esyria) के सम्राट् असुखनीपाल जो ६६९ से ६२६ ई० पूर्व तक राजगद्दी पर रहे हैं—उनके पुस्तकालय से एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है कि हर चन्द्रमास की सातवीं, चौदहवीं, इक्कीसवीं और अठाइसवीं तिथियों के दिन बेबीलोनिया के लोग स्नान, हजामत, खानपान, रोजगार, धन्धा आदि सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों को छोड़ देव आराधना में लगे रहते थे। इन दिनों को वे सब्बतु (Sabbath) दिवस कहते थे। सब्बतु का अर्थ बाबली भाषा में हृदय का विश्राम है। इस दिन वे असुर से प्रार्थना करते हुए अपने पिछले पापों की क्षमा और आगे के लिए आशीर्वाद मांगते थे।[१]

यहूदी व ईसाई धर्म की अनुश्रुति के अनुसार भी जो बाईबल की पुरानी नियम पुस्तक (Testament) के पहले उत्पत्ति (Genesis) अध्याय में सुरक्षित है, प्रजापति परमेश्वर ने अपलोक (संसार) की तम अवस्था (अज्ञान दशा) में से छः दिन तक (जीवन विकास की छः मंजिलों तक) विसृष्टि (विशेषज्ञान) प्राप्त कर सातवें दिन (सातवीं मंजिल में) सब कर्मों से विमुक्त हो विश्राम किया था। यहूदी और ईसाई लोग आज तक इस सातवें दिन (रविवार) को (Sabbath) दिन मानते हैं और इस दिन सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर धर्मसाधना में लगाते हैं। सब्बतु और उपोसथ शब्दों के शब्दसाम्य और भावसाम्य को देख कर अनुमान होता है कि किसी प्रागैतिहासिक युग में भारतीय और असुरिया, सुमेर, बेबीलोनिया आदि लघु एशिया के देशों की संस्कृतियों में घनिष्ठ संबन्ध रहा है। इस बारे में पुरातन विद्याविशारद हाल साहिब (H. R. Hall) का मत है कि द्रविडगण अति प्राचीनकाल से भारत के वासी थे। भारत में संभवतः सप्तसिन्धु देश (Indus Valley) में रहते हुए इन्होंने अपनी सभ्यता को उच्च शिखर पर पहुंचाया था। और यहीं से संभवतः ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व

---

[१] विश्ववाणी जनवरी १९५१—दजला कांठे की संस्कृति पृ० ७८।

खुश्की के रास्ते ईरान में से होते हुए और संभव है कि जल के रास्ते ये दजला फरात नदियों के काँठे ईराक देश में पहुँचे थे और वहाँ भारत सरीखी अध्यात्म संस्कृति का प्रसार किया था[१]।

हो सकता है कि सप्तसिन्धु देश के उत्तरीय भाग के द्रविडगण वैदिक आर्यों के यहां आने के समय उनके अत्याचारों से दुःखी हो देश छोड़ एशिया के सुमेर, असुरिया आदि देशों में आबाद हो गए हों। वैदिक आर्यों के यहां आने का समय भी लगभग ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व का ही बताया जाता है। इसके अलावा सुमेर के पूर्वी और पश्चिमी विदेह देशों और भारतीय संस्कृतियों के पारस्परिक संबन्ध का जैन ग्रन्थों में बहुत कुछ वर्णन दिया हुआ है। जैन अनुश्रुति के अनुसार तो इन विदेह देशों में मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले महापुरुषों और तप, त्याग, संयम मार्ग की सदा ही उपस्थिति बनी रहती है।

उपसंहार

इस तरह प्राचीन भारत में ये पर्व केवल ऐहिक कामनाओं को लेकर कायम न हुए थे, बल्कि ऐहिक कामनाओं से मन् को हटा, ज्ञान ध्यान में रुचि बढ़ाने के लिए कायम हुए थे। आत्मज्ञान, अहिंसा, संयम, तप, त्याग-मूलक भारतीय संस्कृति को बनाये रखने और जगह-जगह भ्रमण कर उसका प्रसार करने का एक मात्र श्रेय इन्हीं त्यागी तपस्वी श्रमण लोगों को है। यह इन्हीं की भूत-अनुकम्पा, लोक कल्याण-भावना, सहनशीलता, धर्मदेशना और सतत परिभ्रमण का फल है कि भारत इतने राष्ट्र विप्लवों, इतने विजातीय एवं सांस्कृतिक संघर्षों, इतने भाषा, भूषा, आचार, व्यवहार संबन्धी परिवर्तनों के बावजूद आज भी अध्यात्मवादी और धर्मपरायण बना हुआ है। भविष्य में भी लोक कल्याणार्थ भारतीय संस्कृति को जीवित रखने का उपाय इस से बढ़कर और नहीं हो सकता।



[१] H. R. Hall—The Ancient History of the Near East pp. 173—179.

क्षमा का उद्बोधन

क्षमा का ही आदान प्रदान
मनुजता का सच्चा वरदान ।।

—१—

मनुज के जीवन में क्या भूल
मनुज का ही जीवन है भूल !
तीक्ष्ण ऐसी जैसे हों शूल
किन्तु शूलों में खिलते फूल !!

न हो दोषी से कभी निराश
करो मत उसको कभी हताश ।
क्षमा कर उसका करो विकास
वह कल काटेगा जग के पाश ।।

क्षमा का जो नर रखता ध्यान
उसी का होता जगमें मान ।।

—२—

"जरा सी त्रुटि पर चिर विच्छेद
बताओ किसे न होगा खेद,
सकल उपकारों का उच्छेद
आज पा लिया जगत का भेद ।"

अगर अक्षम्य बना अवरोध
तो कैसे होगा मन का शोध ?
न होगा मानवता का बोध
मनुज हो जाएगा निर्बोध ।।

क्षमा का कर मत प्रत्याख्यान
बना मत भू का स्वर्ग श्मशान ।।

—३—

मान लो अपराधी मैं आज
बचा पाई न धर्म की लाज !
हो गये इतने पर नाराज ?
कभी मुझसे निकलेगा काज ।।

न अपराधी का पृथक जहान
कि जिसमें जाकर बने महान ।
उसे तो देना होगा मान
मान क्या ? मनुजयोग्य सम्मान ।।

क्षमा का आया पर्व महान
न इसमें शुभ अलीक अभिमान ।।

—४—

क्षमा का जो आदान प्रदान
जानता, वह सर्वज्ञ महान ।
मनुजता का उसको आह्वान
मनुज या वह सचमुच भगवान ।।

क्षमा को मत भूलो तुम कभी
बीतती सबके ऊपर सभी ।
कि जो बनते महान् हैं अभी
वही अपराधी भी थे कभी ।।

उसे मेरा है विनत प्रणाम
क्षमा का जो करता सम्मान ।।

—श्री कोमलचन्द्र जैन, बीना—

आचार्य श्री सोहनलाल जी और

जैन ज्योतिष तिथि पत्रिका

—श्री विज्ञ—

आचार्य श्री सोहनलाल जी के सामने यह प्रश्न आया था कि जैनागमों में जो ज्योतिष के सिद्धान्त कहे गए हैं, उनके अनुसार व्यवहार योग्य तिथिपत्रिका का बनना शक्य है या नहीं। इसीलिए उन्होंने अपनी रचित जैन ज्योतिष तिथि पत्रिका पर "सूत्रानुसार संशोधन करके" ये शब्द प्रकाशित कराए थे। ये ही "सूत्रानुसार संशोधन करके" शब्द बाद में उनकी पत्रिका के विरुद्ध सन् १९२८ में 'सत्याग्रह[१]' आन्दोलन का कारण बने।

हमने गतवर्ष 'संवत्सरी और आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज' शीर्षक अपने लेख में बतलाया था कि इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए यदि किसी प्रमाण-पत्र की जरूरत थी भी तो वह उनके पास था। विक्रम संवत् १९३२ में आचार्यवर श्री अमरसिंह जी महाराज की अध्यक्षता में जो साधु सम्मेलन हुआ था उसमें यही विषय उसका एक प्रस्ताव बना था। उस प्रस्ताव (बोल) की प्रति जो उनके पास सुरक्षित थी, वह उस अवसर पर स्वयं स्वर्गीया प्रवर्तिनी श्री पार्वती जी महाराज के हाथों की लिखी हुई थी। इसीलिए उन्हें यह अचम्भा लगता था कि वही प्रवर्तिनी जी भी आचार्य जी से जैन सूत्रानुसार तिथि पत्रिका बनाने के संबन्ध में प्रश्न उठाती थीं। इस बोल को वे अपना अधिकार या प्रमाणपत्र ही न मानते थे बल्कि एक पुण्य कर्तव्य अनुभव करते थे।

इस विषय में यह याद रखना जरूरी है कि उनकी सारी कोशिश यही थी कि जैन सूत्रों में कहे गए ज्योतिष के सिद्धान्तों की ज्योतिर्विद लोग परीक्षा करें कि वे व्यवहार योग्य तिथि पत्रिका के रूप में ढाले जा सकते हैं या नहीं। बहुत परिश्रम और खोज करने के उपरान्त उन्हें कुछ विश्वास-सा हो गया था कि जैन ज्योतिष में दो-दो चांद, सूर्य, नक्षत्रादि माने जाने पर भी तिथिपत्रिका के बनाने में वे विशेष सिद्धान्त बाधक नहीं हैं। उन्हें तिथि पत्रिका बनाने के लिए जैन शास्त्रों के बाहर किसी सिद्धान्त के साथ कोई प्रयोजन नहीं था।

[१] मुनि मिश्रीलाल द्वारा

यही मुख्य बात उनके समय के विपक्षी जन भूल जाते रहे और उनके कार्य की परख करने-कराने में उनके सारे आधार को ही ऐसे लोग गौण कर देते रहे।

उनके संशोधन के फलस्वरूप जैन ज्योतिष के विषय में उनकी विशेष मान्यताएँ ये थीं—

१. जैन ज्योतिष सायनी है।

२. वीर निर्वाण संवत्, कल्पसूत्र के लेखानुसार प्रचलित गणित से वे १३ वर्ष अधिक मानते थे।

३. युग के १८३० दिन के स्थान पर १८३१ दिन मानते थे, उस एक अधिक दिन का कारण वे सूर्य के विकम्पस्थान क्षेत्र के पार करने में लगता हुआ मानते थे।

४. आरे की गणना वे युग संवत्सर के हिसाब से मानते थे।

५. युग के प्रारम्भ काल में जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में उल्लिखित ९ कथनों का विद्यमान होना जरूरी मानते थे।

६. लौकिक (प्रचलित) आषाढ़ जैन श्रावण है और इसी प्रकार लौकिक श्रावण जैन भादों है। वे इसी क्रम से मासों की गिनती करते थे।

७. अभिजित् को मिलाकर २७ की बजाय २८ नक्षत्र मानते थे।

८. चन्द्र प्रज्ञप्ति में वर्णित कुल, उपकुल और कुलोपकुल नक्षत्रों को सूर्य के मानते थे। सारांश यह कि सूर्य मास के अन्तिम दिन जो नक्षत्र हो, उसको कुल कहते हैं। जो नक्षत्र उससे पहले हो उसे उपकुल और उपकुल नक्षत्र से भी जो पहले आए उसे कुलोपकुल कहते हैं।

९. चातुर्मास वे चार मास अर्थात् १२० दिन का मानते थे।

१०. लौंद या मलमास वे ढाई-ढाई वर्ष के बाद पौष और आषाढ़ में ही मानते थे।

११. संवत्सरी वे इस प्रकार दिनमान में आती हुई मानते थे—

युग की पहली संवत्सरी—३२$\frac{४८}{६१}$ घड़ी
दूसरी संवत्सरी—३३$\frac{३५}{६१}$ घड़ी
तीसरी संवत्सरी—३४$\frac{२२}{६१}$ घड़ी
चौथी संवत्सरी—३३$\frac{११}{६१}$ घड़ी
पाँचवीं संवत्सरी—३३$\frac{३९}{६१}$ घड़ी

१२. तिथि बढ़ती कोई नहीं है क्योंकि सूर्य का दिन चांद के दिन से बड़ा होता है अर्थात् चांद के अधिक दिन सूर्य के थोड़े दिनों के बराबर होते हैं।

चांद का यही अधिक दिन तिथि का कम होना यानी घटना कहा जाता है। तिथि का घटना-घटाना कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को ही होना चाहिए। और आषाढ़, भादों, कार्तिक, पौष, फाल्गुण और वैशाख के कृष्ण पक्षों में ही यह घट सकती है।

इन सभी विषयों पर उनकी मान्यता के अनुसार प्रकाश डालना आवश्यक है ताकि उनके कार्य की हम तुलना कर सकें।

फिलहाल हम पाठकों के लाभ के लिए उन सूत्रों, पुस्तकों और अन्य सामग्री की सूची उपस्थित करते हैं, जो हमने इस संबन्ध में प्रकाशित साहित्य से संकलन की है। यह सर्व सामग्री उनके गंभीर अध्ययन का विषय रही है।

१. जम्बूद्वीप पण्णत्ति
२. सूर्य पण्णत्ति
३. चंद पण्णत्ति
४. समवायांग
५. कलपसूत्र
६. ठाणांग
७. उत्तराध्ययन
८. कल्पसूत्र—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई,
९. कल्पसूत्र—भानजी मैय्या द्वारा श्रावक भीमशी मानक के लिए प्रकाशित।
१०. सूर्य प्रज्ञप्ति—आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित
११. सूर्य प्रज्ञप्ति—जो प्रति आचार्य श्री अमरसिंह जी के पास होती थी।
१२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड।
१३. जम्बूदीप प्रज्ञप्ति—संस्कृत टीका, आचार्य मलयगिरि।
१४. जम्बूदीप पन्नत्ति—वि० सं० १९०४ की हस्तलिखित प्रति जो स्वयं आचार्य श्री सोहनलाल जी के पास थी।
१५. ठाणांग—हस्तलिखित
१६. ठाणांग—हस्तलिखित प्रतिलिपि जिसको नैनसुख शिष्य हरकिशन दास शिष्य पूज सामा जी ने वि० सं० १८१२ (ई० सन् १७५५) में तैयार किया था और आचार्य श्री सोहनलाल जी को वि० सं० १९४१ में फर्रुखगढ़ निवासी श्री बच्छराज ने समर्पित किया था।

१७. कल्पसूत्र—Rev. Stevenson, D.D., V.P.R.A.S.

१८. कल्पसूत्र—Dr. Hermann Jacobi.

१९. ठाणांग—आगमोदय समिति

२०. चन्द्र प्रज्ञप्ति—आगमोदय समिति

२१. Lectures on सूर्यप्रज्ञप्ति by Principal Thibaut from Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. 49, Part I, No. 3, Year 1880.

नोट—हस्तलिखित सूत्रों के अतिरिक्त जिन सूत्रों के नाम ऊपर लिखे हैं वे आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित प्रतियों का संकेत है।

२२. काल सत्तरी

२३. सूर्य सिद्धान्त, वि० सं० १९६० का मुद्रित

२४. ब्रह्म विलास

२५. महाराजा विक्रम की स्वानह उमरी (जीवनी) उर्दू संस्करण आठवां, सन् १९०८ रचयिता हकीम रामकृष्ण लाहौरी

२६. "पक्खी पाडवा की आमना"—आचार्य श्री अमरसिंह जी (एक ही पन्ना)

२७. त्रिलोकसार

२८. छब्बीस बोल का थोकड़ा—सेठिया प्रकाशन, बीकानेर।

२९. कौटिल्य का अर्थशास्त्र

३०. कौटिल्य का अर्थशास्त्र—अनुवादक, विद्याभास्कर वेदरत्न प्रो० उदयवीर शास्त्री, प्र०—मेहरचंद लच्छमण दास, लाहौर

३१. प्रकरण संग्रह

३२. मेघदूत—कालिदास

३३. वज्जर दंत बारामासा

३४. सुश्रुत

३५. निशीथ-चूर्णि

३६. लोक-प्रकाश

३७. बृहत्पर्युषण निर्णय—मुनि सागरविजय जी

३८. जैन सम्प्रदाय शिक्षा—यति श्री श्रीपाल जी

३९. सरस्वती (मासिक) फर्वरी १९१३—विसाजी रघुनाथ लेले और सायन-निरयण ज्योतिष ।

४०. उपरोक्त पर डा० कीलहार्न की टीका

४१. माधुरी (मासिक)—वर्ष २, खंड २, सं० ६, आषाढ़, पृ० ७७० पं० काशीनाथ कृष्णलीला

४२. पं० गिरधारीलाल की पत्री

४३. पं० देवीदयालु की पत्री

४४. तिलक जी की पत्री

४५. श्री वल्लभमुनि द्वारा प्रकाशित १० वर्षीया पत्रिका

४६. पूज्य श्रीलाल जी की दश वर्षीया पाक्षिक पत्रिका

४७. पूज्य श्री जवाहरलाल जी की दश वर्षीया पाक्षिक पत्रिका, सं० १९८१ से १९९०

४८. मशहूर आलम जन्त्री—२५ वर्षीया, पं० गिरधारीलाल

४९. जैन सूर्योदय पंचांग, वि० सं० १९७४-७५, राज पण्डित मोहनलाल, कुशलगढ़ ।

५०. खेत चोला—मुनि ज्ञान भूषण सूरि

५१. Sanskrit English Dictionary by Principal V.S. Apte.

५२. Webster's English Dictionary.

५३. पद्मचन्द्र कोष—महामहोपाध्याय पं० गणेशदत्त शास्त्री

———

श्रमण-संघ की

शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न

—पं० मुनि श्री सुरेशचन्द्र जी म०—

किसी भी संघ एवं समाज को यदि अपनी स्थिति अक्षुण्ण, स्थिर तथा विकसित रखनी है, तो उसके लिए भावी समाज के हित में एक विशिष्ट शिक्षा-दीक्षा पद्धति का अनुसरण अनिवार्य है। हम अपने नव श्रमण-संघ को प्रगतिशील, समृद्ध तथा स्वस्थ देखना चाहते हैं। संघ का यह अभ्युदय एवं श्रेय शिक्षा-दीक्षा की सही दिशा पर ही निर्भर है। आज हमारे संघ के जो युवक श्रमण और श्रमणियाँ नव शिक्षण की दिशा में क़दम बढ़ा रहे हैं, वे ही कल संघ के निर्माता होंगे—यह सौ फ़ीसदी निश्चित है। विश्व तथा आसपास की युगव्यापी कठिनाइयों का सामना करने के लिए भावी श्रमण-संघ में चरित्र-बल के साथ-साथ ज्ञान-बल और बौद्धिक चेतना भी अपेक्षित हैं—इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। अपने इन आधारभूत गुणों की बदौलत ही वह क्षण-क्षण बदलती हुई दुनिया की दुर्लंघ्य खाइयों को पार कर सकता है। समाज की गति-प्रगति की सारी आशा-आकांक्षाएँ श्रमण संघ की उचित प्रकार की शिक्षा पर ही निर्भर करती हैं। इस दृष्टि-कोण से तरुण श्रमण और श्रमणियों का नव शिक्षण आज श्रमण-संघ के सूत्रधारों के सामने एक बड़ी समस्या है।

सच तो यह है कि यदि हमें समाज व संघ का नव-निर्माण करना है, तो शिक्षण के क्षेत्र में हमें एक नए मानस को जन्म देना ही होगा, समस्या के हर पहलू के लिए अपना हृदय विशाल करना होगा। इसी युग-चैतन्य से अनुप्राणित होकर कुछ चेतनाशील श्रमणों ने अपना शैक्षणिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए विश्वविद्यालयों तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं। जहाँ तक मेरी स्मृति काम देती है, वे परीक्षोत्तीर्ण श्रमण समाज के क्षेत्र में इतने योग्य प्रमाणित हुए हैं कि चालीस-पचास वर्ष तक अध्ययन की लकीर पीटने वाले पुराण-तत्त्व भी उनकी गति-प्रगति से आश्चर्य-चकित रह गए हैं और उनसे पिछड़ गए हैं।

परन्तु, आज एक आवाज सुनने में आ रही है। वह ऐसे लोगों की आवाज है, जिनके हाथों में श्रमण संघ के भाग्य का सूत्र है कि—"श्रमणों को विश्वविद्यालयों की परीक्षाएँ नहीं देनी चाहिएँ।" कारण पूछने पर चट से उत्तर मिलता है कि परीक्षाएँ उत्तीर्ण करके अथवा डिग्रियाँ लेकर श्रमणों को कौन-सी क्लर्की या नौकरी करनी है? हम नहीं समझते कि उनके सोचने-समझने का स्तर इतना क्यों गिर गया है? क्या क्लर्की की तुच्छ भाषा से ऊपर उठकर हम

कुछ और सोच ही नहीं सकते ? नहीं मालूम, समाज के पुरातन तत्त्वों को प्रत्येक शुभ कार्य से पहले दुश्चिन्ताएँ क्यों घेर लेती हैं ? न जाने, किसी भी वस्तु के उज्ज्वल पक्ष की ओर उनकी दृष्टि क्यों नहीं जाती ? परीक्षा देने का उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी अपने अध्ययन का एक लक्ष्य-बिन्दु बनाकर उसकी ओर निरन्तर गति करता रहे और प्रतिवर्ष अपनी योग्यता की नाप-जोख करता रहे। दूसरे शब्दों में, परीक्षाएँ तो शिक्षण के क्षेत्र में मील के पत्थर हैं, जिनसे ज्ञान-पथ का यात्री अपनी मंजिल को नापता है कि अब तक मैं अपनी ज्ञान की मंजिल पर कितना आगे बढ़ पाया हूँ। अन्यथा, पन्द्रह-बीस वर्ष तक पंडितों को साथ रख कर भी कई एक अध्ययन की प्रारम्भिक स्थिति में ही घिसटते रहते हैं। समाज समझता है कि गुरु जी पढ़-लिखकर विद्वान् बन रहे हैं; पर वहाँ प्रगति के नाम पर वही ढाक के तीन पात।

एक बात और। नव शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर परीक्षाओं का स्वागत करना चाहिए या नहीं, यह निर्णय तो उस युवक श्रमण वर्ग को करना है, जिसके कन्धों पर भावी युग का दायित्व आने वाला है। आज समाज में संघर्ष ही इस बात का है कि यहाँ हमारा पूज्य स्थविर-वर्ग जीवन की अन्तिम घड़ियों तक भी सारे फैसले खुद ही करता रहता है। भावी सन्तति को स्वतंत्रता पूर्वक सोचने-समझने और अपना मार्ग स्वयं तलाश करने का वह उसे अवसर ही नहीं देता। आज हमें पुराने संस्कारों और नए संस्कारों के बीच सामंजस्य लाना है। नवयुग की मनीषा की महत्ता को हमें आज नहीं तो कल स्वीकार करना ही होगा। आखिर, नए आलोक से आँखें बंद करके हम कब तक चल सकेंगे ? और चलेंगे भी तो ठोकर ही खाएँगे ; इधर-उधर टकरा कर हानि ही उठाएँगे। उनसे अधिक उदासीन और बेपरवाह कौन होगा, जो युग की चेतावनी को भी न देख-सुन सकें।

यह बात हमें भलीभाँति समझ लेनी है कि जिनके पास कोई भी शैक्षणिक बल नहीं है, तथा जिनकी प्रतिष्ठा तथा लेखनी का आधार वेतनभोगी पण्डित-वर्ग है ऐसे महानुभावों के हाथ में श्रमण संघ की शिक्षा-दीक्षा सौंप देने से भी हमारा संघ उन्नति नहीं कर सकेगा। हां, जब तक समाज में शिक्षा-संबन्धी अनुभवों की कमी है ; तब तक दूसरे विद्वानों के सहयोग, अनुभव एवं मार्ग-निर्देशन से लाभ उठाना कोई बुराई नहीं है।

आशा ही नहीं, विश्वास है कि हमारे श्रमण संघ के उन्नायक नव-दीक्षितों की शिक्षा-दीक्षा की चिन्ता व व्यवस्था युगानुरूप करेंगे।

भोजन और उसका समय

—श्री अमृतलाल शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य, साहित्याचार्य—

बिना भोजन किये कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। सभी प्राणी निरन्तर भोजन के लिए ही प्रयास करते रहते हैं। मनुष्य इसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार से परिश्रम करता है; किन्तु स्वस्थ और चिरायु रहने के लिए कैसा भोजन करना चाहिए तथा कब करना चाहिए, इस पर कोई ध्यान नहीं देता। भोजन के बारे में यदि मनुष्य ध्यान दे तो वह कभी बीमार नहीं पड़ सकता और न असमय में मृत्यु का शिकार ही बन सकता है। यदि उचित मात्रा से भोजन किया जाए तो स्वास्थ्य अच्छा रहता है अन्यथा स्वास्थ्य गिरने लगता है और मृत्यु का संकट भी उपस्थित हो जाता है। सभी रोग भोजन की गड़बड़ी से उत्पन्न होते हैं। सभी शास्त्रकारों ने इस विषय में गहराई से विचार किया है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत इस विषय में बहुत उदासीन है। यही कारण है कि भारतीयों का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता चला जा रहा है। मांस, मछली और अण्डे आदि जो पदार्थ दूसरे देशवासी खाते हैं, अब भारतीय भी खाने लगे हैं। केवल जैन समाज ही इन चीजों को अभक्ष्य समझता है। भारत धर्मप्राण देश है और यहाँ गरमी अधिक पड़ती है, इसलिए आध्यात्मिक और शारीरिक दृष्टि से मांस आदि पदार्थ खाने योग्य नहीं माने जा सकते। भारत में अन्न प्रचुर मात्रा में होता है और शास्त्रकारों ने 'अन्नं वै प्राणाः' लिख कर इसकी उपादेयता को समझाया है। अन्न के साथ घी, दूध और शाक का प्रयोग मनुष्य को स्वस्थ, सुखी और चिरजीवी बनाता है। शास्त्रकारों ने लिखा है—'घृतं वै आयुः'—घी निश्चय से आयु है और 'सद्यः शुक्रकरं पयः' अर्थात् दूध शीघ्र ही वीर्य बढ़ाता है।

भोजन कब करना चाहिए

भोजन के समय के बारे में आयुर्वेद में अनेक मत मिलते हैं। चारायण ने रात्रि में, तिमि ने शाम को, धिषण ने दोपहर को और आचार्य चरक ने सबेरे भोजन करने का विधान किया है; पर जैनाचार्य सोमदेव ने लिखा है कि भोजन तब करना चाहिए जब भूख लगे—

चारायणो निशि तिमिः पुनरस्तकाले मध्ये दिनस्य धिषणश्चरकः प्रभाते ।
भुक्तिं जगाद नृपते ! मम चैष सर्गस्तस्याः स एव समयः क्षुधितो यदैव ।।

—यशस्तिलक, पृष्ठ ५०९

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में अनेक दृष्टिकोणों से दिन में भोजन करने का विधान किया है—

दिन में सूर्य का प्रकाश रहता है, इसलिए दिन के भोजन में जीव-जन्तुओं का उतना डर नहीं रहता जितना रात में रहता है। यदि भोजन के साथ जीव-जन्तु पेट में चले जाएँ तो मनुष्य की बुद्धि और शरीर दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। चींटी पेट में चली जाए तो मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है, जूँ चली जाए तो जलोदर हो जाता है, मक्खी चली जाए तो वमन हो जाती है, मकड़ी चली जाए तो कोढ़ हो जाता है और यदि बाल चला जाए तो स्वर बिगड़ जाता है—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिकः ।।
विलग्नश्च गले वालः स्वरभङ्गाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टा दोषाः सर्वेषां निशि भोजने ।।

—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, पृष्ठ ४८४

आचार्य हेमचन्द्र ने हिन्दू शास्त्रों के आधार से भी रात्रिभोजन को त्याज्य बतलाया है—

चूंकि सूर्य में ऋक्, साम और यजुर्वेद का तेज निहित है, अतः जितने भी शुभ कर्म हैं उसकी किरणों से पवित्र कर, करना चाहिए। आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवार्चन, दान और खासकर भोजन रात्रि में निषिद्ध है—

त्रयीतेजोमयो भानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत् ।।
नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः ।।

—यो० शा०, पृष्ठ ४८७

आयुर्वेद की दृष्टि से भी रात्रि भोजन त्याज्य है—

सूर्य की किरणों के न रहने से रात्रि के समय मनुष्य का हृदय कमल और

नाभिकमल संकुचित हो जाता है तथा सूक्ष्म जीव-जन्तु भोजन के साथ पेट में पहुँच जाते हैं, अतः रात्रि के समय भोजन नहीं करना चाहिए—

हृन्नाभि-पद्मसङ्कोचश्चण्डरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्म-जीवादनादपि ।।

—यो. शा., पृष्ठ ४८९

कामशास्त्र की दृष्टि से भी दिन में भोजन का विधान है—

'स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत्'

—यशस्तिलक पृष्ठ ५१०

जो कीड़े दिन में नहीं दिखलाई देते वे सूर्य के अस्त होते ही न जाने कहाँ कहाँ से आ जाते हैं। वर्षा ऋतु में तो उनकी और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। अतः रात्रि के भोजन से जीव हिंसा का होना स्वाभाविक है और उनके विषाक्त होने के कारण मनुष्य की मृत्यु तक होती देखी जाती है। अतः रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।

अपरिग्रह-वाद

—पं० मुनि फूलचंद जी म० 'श्रमण'

श्रमण भगवान महावीर का अपरिग्रहवाद बहुत उच्च कोटि का है। अनेकान्त-वाद हमें प्रेरणा देता है कि तुम जिस विषय को विचारने बैठो उस विषय को बहुत गहरी और पैनी दृष्टि से देखते रहो। जब तक उस विषय के आभ्यन्तर और बाह्य प्रत्येक पहलू के अविभाज्य अंश तक न पहुंच जाओ, जब तक उस अविभाज्य अंश की अनन्त शक्तियों को पार करके उस अविभाज्य अंश रूप शक्ति पर्यन्त न पहुंच जाओ तब तक तुम अपने प्रयत्न को चालू रखो। किसी कवि ने भी ठीक ही कहा है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुंचना उस जीवन तक जिसके आगे राह नहीं॥

जब तुम उस अविभाज्य अंश तक पहुंच जाओगे तब उसी अवस्था का नाम कैवल्य है, पूर्ण है, अनन्त है।

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।

इस आगम वाक्य से यही जाना जाता है कि जिसने अविभाज्य अंश को जाना है वह उस द्रव्य की सब पर्यायों को जानता है और जिसने सब पर्यायों को जान लिया, वह उस अविभाज्य अंश को भी जानता है। धर्म के भी अनन्त भेद हैं उनमें अपरिग्रह वाद भी एक धर्म है। उस एक धर्म के आश्रित अनन्त उपधर्म विद्यमान हैं। अपरिग्रह को समझने के लिए पहले परिग्रह को समझना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि अमृत को समझने के लिए पहले विष को, प्रकाश को समझने के लिए पहले अन्धकार को, सच्चे जवाहरात समझने के लिए पहले झूठे जवाहरात को समझना जैसे अनिवार्य हो जाता है, इसी प्रकार अपरिग्रह धर्म को समझने के लिए पहले परिग्रह पाप को समझना अनिवार्य हो जाता है।

परिग्रह का अर्थ

परि—समन्तात् मोहबुद्ध्या गृह्यते यः स परिग्रहः ।

मोह बुद्धि के द्वारा जिसे चारों ओर से ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। वह परिग्रह तीन प्रकार का होता है—इच्छारूप, संग्रहरूप और मूर्छारूप।

इच्छारूप परिग्रह—अनधिकृत सामग्री को पाने की इच्छा करना। संग्रहरूप परिग्रह—वर्तमान काल में मिलती हुई वस्तु को ग्रहण करना। मूर्छारूप परिग्रह—संगृहीत सामग्री पर ममत्व भाव और आसक्त होना। ये उपधि परिग्रह के भेद हुए। जैनागम में कर्म और शरीर को भी परिग्रह माना है, अर्थात् ग्रहण की हुई वस्तु को छोड़ना नहीं और छोड़ने का प्रयत्न भी नहीं करना। कर्म से तात्पर्य है क्रियमाण और सञ्चित, इन्हें सर्वथा क्षीण करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होना। अब आइए मूल विषय पर—न परिग्रहः इत्यपरिग्रहः, यहां नञ् समास हो रहा है। नञ् समास दो तरह का होता है—प्रसज्य निषेध और पर्युदास निषेध। एक सर्वरूप से निषेध करता है और दूसरा देशरूप से निषेध करता है।

देशरूप से निषेध का अर्थ है स्थूल परिग्रह का त्याग और सर्व निषेध का अर्थ है अप्रमत्त मुनिधर्म। स्थूल परिग्रह का त्यागी श्रावक होता है। उसका अपरिग्रह धर्म तीन हिस्सों में विभक्त है।

१—इच्छा को परिमित करना, यह स्थूल अपरिग्रह है।

२—इच्छा परिमित होते हुए भी अन्याय और अनीति से संग्रह न करना, यह भी अपरिग्रह है।

३—न्याय नीति से उपार्जित सम्पत्ति को प्रवचन प्रभावना के लिए चतुर्विध श्री संघ की उन्नति के लिए या राजा प्रदेशी की तरह अरमणीक से रमणीक बनने के लिए अपनी आमदनी का चौथा हिस्सा दान के लिए यथाशक्य निकालना, यह भी अपरिग्रह व्रत है,। क्योंकि जिसमें ममत्व बुद्धि अधिक होगी वह उक्त तीन प्रकार का अपरिग्रह व्रत नहीं धारण कर सकता। यदि लोभ मोहनीय के टेम्प्रेचर की डिग्री प्रत्याख्यानावरणीय तक पहुँचेगी तब वह जीव उक्त तीन प्रकार के अपरिग्रह को धारण कर सकता है, उसी को श्रावक कहते हैं। सर्वथा अपरिग्रह ग्रहणमूलक नहीं होता क्योंकि मोह बुद्धि से ग्रहण न करना ही अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ है।

[शेष पृष्ठ २३ पर]

आस्तिक-शिरोमणि

महावीर जयन्ती कमेटी दिल्ली की ओर से सन् १९५५ में महावीर जयन्ती का विशाल आयोजन किया गया था, उसका विवरण प्रकाशित हुआ है। उसके पृष्ठ २२–२३ पर सुप्रसिद्ध विद्वान काका कालेलकर ने भगवान महावीर को आस्तिक-शिरोमणि माना है और कहा है कि—

"जिस जमाने में कहीं कहीं मनुष्य का मांस खाने वाले लोग भी थे, मनुष्य को गुलाम बनाकर बेचा जाता था, सैन्यों के बीच युद्ध होते थे और पशुमांस का आहार तो करीब सार्वजनिक था; ऐसे जमाने में पानी और हवा में जो सूक्ष्म जन्तु होते हैं, उनके प्रति आत्मीयता बतलाना और विश्व में अहिंसा की स्थापना करने का अभिप्राय रखना तथा यह विश्वास रखना कि इतनी व्यापक अहिंसा भी मनुष्य हृदय कबूल करेगा और किसी दिन उसे सिद्ध भी करेगा—यह उच्च कोटि की आस्तिकता है। ईश्वर पर या शास्त्र पर विश्वास रखना गौण है। मनुष्य हृदय पर विश्वास रखना कि वह विश्वात्मैक्य की ओर अवश्यमेव बढ़ेगा, यह सबसे बड़ी आस्तिकता है। इसीलिए मैंने भगवान महावीर को आस्तिक-शिरोमणि कहा है।"

—श्री हरजसराय जैन

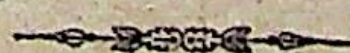
[पृष्ठ २२ का शेष]

स्थूल परिग्रह विरमण व्रत—ग्रहणमूलक और त्याग मूलक दोनों प्रकार का है।

जहां परिग्रह है वहां उत्पीडन, हिंसा, शोषण, झूठ और चोरी है। जहां अपरिग्रह है वहां सहानुभूति, अहिंसा, मैत्री, सत्य और ईमानदारी है।

अपरिग्रह—केवल निवृत्त्यात्मक ही नहीं है प्रत्युत प्रवृत्त्यात्मक भी है। त्याग तथा अग्रहण निवृत्ति प्रधान है और दान प्रवृत्ति प्रधान है।

साधकों को चाहिए कि वे अपना जीवन अपरिग्रहवाद के साँचे में ढालने का निरंतर अभ्यास करें और साथ ही ममत्व, परत्व और प्रपञ्चत्व इन तीनों को छोड़ कर अनेकान्तवाद का अनुसरण करें और क्षमावीर बनकर मोक्ष पथ के पथिक बनें।



अहिंसा

—श्री राजकुमार जैन भारिल्ल, दर्शनोपाध्याय—

अहिंसा वह अमोघ अस्त्र है, जिसे अमीर-गरीब, बड़े-छोटे, सबल-निर्बल, आस्तिक और नास्तिक सभी प्राणी अपना सकते हैं। तथा इससे भयंकर आपत्ति में शत्रु को पराजित कर विजयलक्ष्मी का पाणिग्रहण कर सकते हैं।

—अज्ञात

मनुष्य का अपना निजी स्वाभाविक गुण है मानवता। इसी गुण विशिष्ट के होने से आज प्राणी समाज में मनुष्य इतना उन्नत और उत्कृष्ट माना जाता है। जब जब मानव की मानवता में से अहिंसा नाम का तत्त्व पृथक् हो जाता है तब मानव का वह स्वभाविक गुण नहीं रहता अपितु दानवता में परिवर्तित हो जाता है। तथा मानव, मानव होते हुए भी दानव हो जाता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अहिंसा मानव जीवन में कितनी उत्कृष्ट और ग्राह्य वस्तु है।

मनुष्य अपने जीवन को प्रायः दो भागों में विभक्त कर देता है। प्रथम तो राजनैतिक क्षेत्र में और द्वितीय धार्मिक क्षेत्र में। राजनीति और धर्म दोनों मानव जीवन को वहन करने वाली गाड़ी के दो सशक्त पहिये हैं। इन दोनों पहियों के बिना सम्भवतः जीवन गाड़ी का अपने निश्चित लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव है। एक बात अवश्य है कि इस प्रगतिवादी और वैज्ञानिक युग में मानव जीवन का अधिकांश भाग राजनैतिक क्षेत्र में व्यतीत होता है।

धर्म एवं राजनीति दोनों ही मानव जीवन के दो हाथों के सदृश दो आवश्यक प्रधान उपांग हैं, फिर भी दोनों में इतनी विषमता और प्रतिद्वन्द्वता है जितनी कि सर्प और नेवला अथवा बिल्ली और चूहे में है। जिस प्रकार एक ही म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार एक ही स्थान पर धर्म और राजनीति का होना भी असम्भव है। किन्तु प्राणी मात्र का यह स्वाभाविक गुण है कि वह अपने में परस्पर विरोधी से भी विरोधी दो पदार्थों को आश्रय दे देता है। उसके लिए दोनों बराबर एक समान हैं। यही

कारण है कि आज परस्पर प्रतिद्वन्द्वी धर्म और राजनीति न केवल मानव मात्र के अपितु-प्राणी मात्र के दो आवश्यक प्रधान उपांग बने हुए हैं। क्योंकि इन्हीं दोनों के द्वारा ही तो मनुष्य अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक ध्येय पूर्ण कर सकता है।

इन दोनों के ध्येय पृथक् पृथक् हैं। जिस बात का राजनीति के द्वारा समर्थन किया जाता है, उसी बात का धर्म द्वारा खण्डन किया जाता है। जो बात धर्म में ग्राह्य समझी जाती है, वही बात राजनीति में त्याज्य समझी जाती है। किन्तु अहिंसा एक ऐसी वस्तु है जो धर्म और राजनीति दोनों में ही सादर उपादेय समझी जाती है। इसके बड़े से बड़े उदाहरण आज भी हमें चेतावनी देते हैं कि जो भी वस्तु तुम प्राप्त करना चाहते हो उसे प्राप्त करने से पूर्व तुम उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो लब्धव्य वस्तुओं का प्रधान कारण तथा एक मात्र साधन है। वह साधन व कारण है अहिंसा। उदाहरणार्थ हमारी स्वतंत्रता को ही लीजिए। भारत की सैकड़ों वर्ष की जिस पराधीनता को दूर करने के लिए राजनीति के हजारों दावपेंच लगाने के बावजूद भी सफलता हस्तगत नहीं हुई, वही स्वतंत्रता राष्ट्रपिता बापू ने अपने अमूल्य अमोघ अस्त्र अहिंसा द्वारा ही प्राप्त की। अब आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि जब एक सहज प्राप्य अमूल्य अस्त्र द्वारा इतनी महान वस्तु (जिसके प्राप्त करने की आकांक्षा भारतवासियों में वर्षों पहले से थी) प्राप्त हुई तो फिर ऐसी कौन सी वस्तु है जो अहिंसा द्वारा प्राप्य नहीं है। इससे यह बात स्वयं सिद्ध है कि राजनीति में भी अहिंसा का कितना महत्वपूर्ण स्थान है।

तदनन्तर आता है धर्म। धर्म में अहिंसा का न केवल महत्वपूर्ण स्थान है अपितु अहिंसा ही धर्म है। आज भारत में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसने अहिंसा के महत्व को न समझा हो तथा उसे अपने धर्म में सर्वोत्कृष्ट स्थान न दिया हो। प्रायः सभी धर्मों ने 'अहिंसा परमो धर्मः' इस सत्य को माना है। यदि किसी धर्म से अहिंसा तत्त्व को पृथक् कर दिया जाए तो धर्म नाम की कोई चीज ही न रह जाए। अहिंसा रहित धर्म नेत्रहीन प्राणी की तरह है। आज मानव जिस अप्राप्य स्थिर शांति एवं आनन्द की कामना कर सरस सुरीले स्वप्न देखता है, वह स्थिर शांति और आनन्द उसे अहिंसा द्वारा ही लभ्य है। अहिंसा संसार को शांति का संदेश देने वाली एक अद्वितीय अनुपम अकथनीय

एवं अदृश्य शक्ति है। इसी विषय का उल्लेख करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ।।

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम् ।
अहिंसैव हितं कुर्यात् व्यसनानि निरस्यति ।।

तपः-श्रुत-यम-ज्ञान-ध्यान-दानादिकर्मणाम् ।
सत्य-शीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ।।

अर्थात् अहिंसा ही जगत की रक्षा करने वाली माता है, अहिंसा आनन्द को बढ़ाने वाली है, अहिंसा ही उत्तम गति है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है। अहिंसा ही मोक्ष तथा स्वर्ग लक्ष्मी को देने वाली है। अहिंसा ही परम हितकारी तथा व्यसनों को दूर करने वाली है। तप, शास्त्र, ज्ञान, महाव्रत, आत्मज्ञान, ध्यान, दानादि शुभकर्म, सत्य, शील व्रत आदि की जननी अहिंसा ही है।

अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा के स्वरूप को जानने से पूर्व हिंसा के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। अहिंसा के विषय में यदि किसी साधारण व्यक्ति से पूछा जाए तो वह यही कहेगा कि 'किसी जीव को मारना ही हिंसा है'। व्यवहार में यह कथन किन्हीं अंशों में सत्य है किन्तु किसी जीव को मार देना मात्र ही हिंसा नहीं है। धर्म दृष्टि से तो यदि किसी के मन में किसी प्राणी के प्रति उसके प्राण-घात करने के भाव हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से वह प्राण-घात नहीं कर पाता, तब भी वह हिंसा का भागी है। इसके विपरीत हृदय में हिंसा की भावना न होते हुए भी पूर्णतः सतर्क दृष्टि रखने पर भी अनजान में यदि किसी जीव की हत्या हो जाती है तो वह एक तरह की विवशता है, क्षन्तक है। श्री उमास्वामी ने भी इस संबंध में कहा है—'प्रमत्त-योगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा' अर्थात जो प्राणवध प्रमाद के योग से हो उसे हिंसा कहते हैं। 'अनागार धर्मामृत' नामक ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख है—

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रस-स्थावरांगिनाम् ।
प्रमत्तं-योगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावजाः ।।

अर्थात् कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के अधीन होकर या अयत्नाचार के कारण मन, वचन काय से मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जीवों के, स्थूल जन्तुओं के व स्थावर जीवों के द्रव्य या भाव प्राण-घात को हिंसा कहते हैं। इस प्रकार हिंसा के वर्णन हो जाने पर अहिंसा का ज्ञान स्वयं ही हो जाता है। किन्तु फिर भी 'न हिंसेति अहिंसा' अर्थात् हिंसा के सर्वथा परित्याग को ही अहिंसा कहते हैं।

हमारे प्राचीन धर्माचार्यों ने संसार के समस्त पापों का मूल केवल एक मात्र हिंसा को ही माना है। अर्थात् संसार में हिंसा से बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं है। एक जगह लिखा है—'सर्वपापानां मूलं हिंसा'। इस महापाप से आत्मरक्षा हेतु मनुष्य को सदैव देखभाल कर बड़ी सतर्कता से काम करना चाहिए। उसे अपने सात्विक जीवन निर्वाह के लिए ऐसे साधन बना लेना चाहिए, जिससे कि अपने अनजान में भी किसी जीव को लेशमात्र भी क्लेश न हो। केवल इतना ही कर लेने मात्र से मनुष्य अपने जीवन में अहिंसा को पूर्ण रूपेण नहीं उतार सकता। इसके लिए उसे अपने स्वाभाविक गुण क्षमा को भी अपनाना पड़ेगा। क्योंकि क्षमा रहित अहिंसा प्राणहीन शरीर की भांति है। यथार्थ में अहिंसा का प्राण क्षमा ही है अन्य नहीं।

अहिंसा के विषय में कुछ महापुरुषों के वचनामृत

भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धान्त से ही विश्व कल्याण तथा शांति की स्थापना हो सकती है।

—काका कालेलकर

अहिंसा के सिद्धान्त ने भारत के सांसारिक संबन्धों पर भी प्रभाव डाला। उसने साम्राज्यों और विजयों के स्वप्न नहीं देखे पर वह जापान तथा चीन का गुरु बन गया।

—साधु वास्वानी

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'

अर्थात् जिसके हृदय में अहिंसा घर कर जाती है, उसके समीप प्राणियों की सहज वैरवृत्ति—शत्रुता नष्ट हो जाती है।

—महर्षि पतंजलि

अनेक राज्य, राष्ट्र तथा साम्राज्य नष्ट हो चुके अथवा वे भूतकाल के गर्भ में समा चुके। यदि हम यह आशा करते हैं, और अभिलाषा रखते हैं कि हमारा विनाश न हो और हम मानव सभ्यता के विकास में सहायक हों तो हमें अन्य महापुरुषों से सहमत होना होगा और उसमें अस्तित्व के मूल-आधार अहिंसा को अपनाना होगा।

—डा० कालिदास नाग

अहिंसा के विषय में विभिन्न धर्मों के मत

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परोदयः ।
अहिंसा परमं दानं अहिंसा परमं तपः ॥

—महाभारत

अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही बड़ा इन्द्रिय दमन है। अहिंसा ही परम दान व तप है।

अगस्त्य संहिता में शिव जी दुर्गा के प्रति कहते हैं—

अहं हि हिंसको, अतः हिंसा मे प्रियः इत्युक्त्वा आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुराञ्च वर्णाश्रमोचितं धर्ममविचार्यापयन्ति ते भूतपिशाचाश्च भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः।

अर्थात् मैं हिंसक हूँ, हिंसा मुझ को प्यारी है, ऐसा कह कर जो वर्णाश्रम के उचित धर्म को न विचार कर हम दोनों को मांस, रक्त, मदिरा अर्पण करते हैं वे भूत पिशाच ब्रह्म राक्षस होते हैं।

ईसाई मत में पशु बलि निषेध करते हुए हिब्रू ने कहा हैं—

Neither by the blood of goats or calves but by his own blood he entered at once into the holy place having obtained eternal redemption. For it is not possible that the blood of bulls and goats should take away sins.

अर्थात् बकरों व बछड़ों के खून से नहीं किन्तु अपने ही परिश्रम से वह पवित्र स्थान में गया है और नित्य मुक्ति को पा लिया है। क्योंकि यह सम्भव नहीं कि बैलों और बकरों का खून पापों को धो सकेगा।

पारसी मत में भी पशुघात की मनाई है। देखिए—

Jartusht namah P. 415

He will not be acceptable to God, who shall thus kill any animal. Angle Asfundermad says, "O holy man, such are the commands of God that the face of the earth be kept clean from blood filth and carrion."

अर्थात् इस तरह जो पशु को मारेगा, उसे परमात्मा स्वीकार नहीं करेगा। पैगम्बर एसफन्दर ने कहा है—"हे पवित्र मानव ! परमात्मा की यह आज्ञा है कि पृथ्वी का मुख रुधिर, मैल, मांस से बचाकर रखा जाए।"

इस्लाम में भी पशु बलि की मनाई है। देखिए अंग्रेजी अनुवाद—

"By no means can this flesh reach into God, neither their blood but piety on your part reaches there."

अर्थात् किसी भी तरह बलि किये हुए ऊंटों का मांस परमात्मा को नहीं पहुँचता है और न उनका खून। परन्तु जो धर्म तुम पालोगे वही वहां पहुँचता है।

'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक जैन ग्रन्थ में भी हिंसा का निषेध है—

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति-ताभ्यो हि प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेक-कलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥

अर्थात् धर्म देवताओं से बढ़ता है, उनको सब कुछ चढ़ा देना चाहिए। ऐसी खोटी बुद्धि धारण कर प्राणियों का घात न करना चाहिए। क्योंकि—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्"

प्राणी मात्र की अहिंसा ही परम ब्रह्म है।



क्यों और किस लिए ?

प्रातः का
सुहावना समय था।
घूम रही थीं
चहुँ ओर
नन्हीं-नन्हीं नीर भरी बदलियाँ।
अभ्रखण्ड भी
छिटके से पड़े थे
सुदूर नीलाकाश में।
पर्वतीय शीत वायु
रह-रह कर
दे रही थी थपकियाँ।
इस प्रकार
प्रकृति नटी ने
बिखेर दिया था
अपना सर्व सौन्दर्य।
बकों और मेघों में
लग रही थी
होड़
दौड़ की।
× × ×
मैं भी था
चल दिया
एक शैल शिखर की ओर।
और
पहुँच कर
बैठ गया
एक शिला खण्ड पर।
शहरी वातावरण से दूर,
बहुत दूर
पाकर पनहा।
उस शान्त वायु मण्डल में
रह-रह कर
उठ रहा था, विचार एक।
आज क्यों बना, अशान्त जीवन
मानव का ?
क्यों नहीं रह पाता मानव भ्रातृ-
भाव से ?
यह
अशान्ति की
भीषण ज्वाला
क्यों भभक रही है विश्व में ?
जाती है
दृष्टि, जिस ओर भी,
उस ओर ही
मिलती है देखने को
घृणा, नफरत, द्वेष,
असाम्य और
आपसी वैमनस्य की घन घोर घटा !
विश्व सारा
डूबा सा जाता है
किसी अज्ञात
गहन गर्त में !
यह सब दृश्य
देख कर
रह जाता है प्रश्न
एक शेष—
"यह सब
क्यों और किस लिए ?"

—मुनि उमेश—

ईमानदारी के वातावरण

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

इस लेख में मैं किसी भारी-भरकम पंडिताऊ विषय को नहीं ले रहा, बल्कि एक ऐसे सरल विषय की ओर ध्यान दिला रहा हूँ जो हमारे इस समय के जीवन के लिए जन्म-घूँटी की तरह आवश्यक है। यह है सच्चाई या ईमानदारी का वातावरण। हमारे आपस के व्यवहार में जो बात जैसी है वैसी ही घूँटी जाए, जो व्यक्ति जैसा है वैसा ही वह अपने को प्रकट करे, अपनी मिहनत से जिसका जितना हक है वह उतना ही पाने की इच्छा करे, जो बात जिसकी नहीं है वह उसे लेने की बात मन में न सोचे—इस तरह के सच्चे, सरल और उपयोगी एवं सबका चित्त प्रसन्न करने वाले नियम का नाम ही सच्चाई, व्यवहार का खरापन और ईमानदारी है। आप कह सकते हैं कि यह बात तो हम सब में प्रायः है ही, इसमें नयापन क्या है। पर नहीं, यह सच्चाई का नियम हमारे भीतर बहुत कच्चा पड़ गया है। इसकी जड़ें जातीय-चरित्र के रूप में बहुत कुछ मुर्झा गई हैं। उनके खोखलेपन को मिटाकर उन्हें फिर रस से सींचना होगा। इस बात में लंबे-चौड़े तर्क या दर्शन से कहीं सफाई नहीं पैदा होती। तर्क के लिए तो हम सभी सच्चे और भले हैं पर ईमानदारी की सुन्दर कसौटी हरेक के मन में छिपी है उस पर अपनी व्यवहार की कंचन देह को कस कर देखें। जो उसका बाँध खरा उतरे, तो हम समझें कि हम सचमुच व्यवहार के ताने-बाने को सच्चाई से पूर रहे हैं और कहीं हम उस व्यवहार में कच्चे या भोंड़े धागों का मेल तो नहीं मिला रहे।

जब कोई जाति अपनी स्वतन्त्रता खो देती है तो सबसे पहली संगीन मार उसकी ईमानदारी या सच्चाई पर ही पड़ती है। सच्चाई के व्यवहार का संबन्ध गरीबी और अमीरी से बिल्कुल नहीं है। यह तो स्त्री की उस स्वर्गीय पवित्रता के समान निधि है जिस पर वह निर्धन से निर्धन अवस्था में भी आँच नहीं आने देती, जिसे वह प्राणपन से सदा जुगो कर रखती है। चरित्र की पवित्रता एक बार चली जाए तो फिर उसी रूप में उसका लौटना

कठिन है। व्यवहार की सच्चाई और जीवन की ईमानदारी का भी वही हाल है।

इस विषय को अपने ही लाभ के लिए हम निकट से समझ सकें, इसके लिए हम कुछ तुलनात्मक उदाहरण लेते हैं। ये उदाहरण एकदम सच्चे और जीवन में से लिये गए हैं।

मेरा चचेरा भाई गंगाशरण जो काशी विश्वविद्यालय के इंजिनियरिंग कालेज का ग्रेजुएट है, सपत्नीक इस समय योरोप में उच्च शिक्षा के लिए गया हुआ है। उसने मेरे एक पत्र के उत्तर में लिखा है—"आपने यहां के लोगों के बारे में पूछा है। सबसे मुख्य बात तो मुझे यह दिखलाई पड़ी कि यहां लोग सच्चाई और ईमानदारी ही अपना धर्म समझते हैं। लड़ाई में सब कुछ खो जाने पर भी आज भी वही सच्चाई और ईमानदारी पाई जाती है। हम लोगों ने कहीं कभी ताला नहीं लगाया और कोई चीज़ आज तक नहीं खोई। एक दिन रानी के कान का फूल सड़क पर गिर गया। वे घर आ गईं तो बाद में मालूम हुआ। एक घंटे बाद लौटकर गईं तो सड़क पर पड़ा ही मिल गया। जो चीज़ जहां भूल जाओ, लौटने पर वहीं मिल जाएगी। लन्दन में एक दिन मैंने अपना बटुआ रेल में सीट पर छोड़ दिया, जब मैं उतरा एक अंग्रेज मेरे पीछे दौड़ कर आया और कहा कि आप का यह बटुआ है, आप रेल में भूल आए। परन्तु ईमानदारी में ये लोग भी हम भारतीयों को बुरा कहते हैं। उसकी मिशाल मुझे मिली। मैंने 'इण्डिया हाऊस' में टेलीफोन किया और बटुआ वहीं भूल गया, दस मिनट बाद लौटा तो कुछ नहीं मिला, बहुत खोज की गई। उसमें बाईस पौण्ड आठ शिलिंग थे। रानी की फीस देनी थी, इसलिए इतने पैसे बटुए में थे। मुझे इस पर इतना दुख नहीं हुआ। जितना तब हुआ, जब मैंने कई अंग्रेज मित्रों से कहा कि मेरा बटुआ खो गया। तो उन्होंने कहा कि सायंकाल तक तुम्हारे पास आ जाएगा। यदि तुम्हारा पता उस पर होगा। पर जब उन्हें यह मालूम हुआ कि इण्डिया हाऊस में खोया है तो तुरन्त बोले कि बटुआ कभी नहीं मिलेगा। मुझे उनसे सुनकर दुख ही नहीं, शरम भी आई। यह अनुभव बड़े-बड़े पोथों से बढ़कर है। यह बात दो जातियों के चरित्र की सच्चाई को रगड़ कर प्रगट कर देती है।

पिछले महायुद्ध में जर्मनी के नगर और गांवों में बड़ा भारी विनाश हुआ। वहाँ के लोगों ने क्या कुछ नहीं खो दिया किन्तु उन्होंने सब भौतिक वस्तुओं के

भीतर भी जो चीज नहीं खो जाने दी वह उनकी सच्चाई और ईमानदारी है। गंगाशरण की पत्नी जो लगभग एक वर्ष जर्मनी में रह चुकी है, अपने ३०-१-५६ के पत्र में लिखती है—"आप ने जर्मन वासियों के संबन्ध में पूछा, इनकी सभ्यता भारत से पूर्णतः भिन्न है। इनके कुछ विचारों को सुनकर इनके प्रति उच्च विचार नहीं बन पाते। परन्तु कुछ बातें इनकी ऐसी हैं कि यदि भारतवासी यह सब कुछ अपना सकें तो वे वास्तव में इनसे उच्च हो जाएँ। विशेष रूप से यह कितने ईमानदार हैं, यह केवल अनुमान से जाना जा सकता है। इसके विपरीत भारतवासी कितने नीचे स्तर पर हैं, यह लज्जा का विषय है। विदेश में भी वे इनके साथ रहकर अपनी इस प्रकृति को न छोड़ सके। यहां केवल शिक्षा प्राप्त करना इनका लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों को इनके संसर्ग में आने के पश्चात् सुधार लेना चाहिए। तभी भारत वास्तव में उच्च हो सकेगा। जर्मनवासी कितना कुछ खो चुके हैं फिर भी वे पराई वस्तु को अनजान में भी लेना नहीं चाहेंगे। केवल अपने परिश्रम से जो उपार्जित करते हैं वही उनका अपना है।"

मेरे एक डाक्टर मित्र हैं जो शिक्षा के लिए लन्दन गए थे और फिर वहीं रहकर चिकित्सा कार्य करने लग गए थे। उन्होंने एक बार यहां लौटने पर अपना अनुभव सुनाया। वे एक दिन किसी नियत समय पर मिलने के लिए जल्दी में घर से चल दिए। चौराहे पर आकर जहाँ बस लेनी थी उन्हें मालूम हुआ कि वे अपना बटुआ घर पर ही भूल आए हैं, लौटकर जाने-आने का समय न था, उन्होंने अपनी समस्या ड्यूटी बजाते हुए पुलिसमैन से कही, उसने चट बात समझ ली और उन्हें पांच शिलिंग देकर उनका पता नोट कर लिया और कहा कि आप इसे बाद में भेज सकते हैं। यह इस बात का उज्ज्वल दृष्टान्त है कि उस सभ्यता में एक भला मनुष्य दूसरे भले मनुष्य को कितने विश्वास के योग्य समझता है। वहाँ यही मान्यता दृढ़ है कि सब आदमी सच्चे और विश्वास के योग्य हैं। कोई किसी को धोखा नहीं देगा। इसी विश्वसनीयता के भीतर से उनके पारस्परिक व्यवहारों का ताना-बाना फैलता है। कोई भला मनुष्य किसी के साथ कपट क्यों करेगा। इस सरल प्रश्न का सरल ही उत्तर उनके मन में आता है। जीवन की इसी सर्वव्यापी सरलता से वहां का व्यवहारिक ज़ीवन हरेक स्तर पर महकता हुआ मिलेगा।

मेरे एक अति संभ्रान्त मित्र पटने के दीवान-बहादुर राधाकृष्ण जालान सपरिवार कुछ दिन लन्दन में जाकर रहे थे। साथ में यहाँ के निजी दो

नौकर भी ले गए थे। वहाँ एक मेड-सर्वेन्ट या गृह-परिचारिका भी उन्होंने रख ली। एक दिन किसी नौकर ने कपड़ों पर इस्त्री करने के बाद बिजली की इस्त्री फर्श पर छोड़ दी और स्विच बन्द नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि फर्श और ऊपर की दरी जल गई। जब पता लगा और दीवान-बहादुर ने सबसे पूछा तो नौकरों ने स्वीकार नहीं किया और उसी परिचारिका का दोष बताया। यह सुनकर अंग्रेज जाति की उस स्त्री की आँखों में आँसू आ गए। तब दीवान-बहादुर न कहा—तुम क्यों रोती हो, हमने तो तुम्हें कुछ नहीं कहा। उस स्त्री ने उत्तर दिया—आपने मुझे कुछ कहा हो इसलिए नहीं रो रही हूं। ये नौकर कहें या न कहें लेकिन मैं यह जानती हूं कि मैंने यह नहीं किया है, अतएव अवश्य ही इन्हीं नौकरों में से किसी ने किया है। मैं इसलिए रोती हूँ कि इन दोनों में इतना नैतिक साहस क्यों नहीं है कि ये अपने दोष को मान लें। यह सुनकर दीवान-बहादुर गद्‌गद हो गए। धन्य है वह जाति जहां चरित्र का बल इस प्रकार जनता की सुलभ वस्तु बन गया हो।

मेरे एक दूसरे मित्र श्री शचीन्द्र दत्त जो इस समय म्यो० कालेज अजमेर में अंग्रेजी के अध्यापक हैं, उच्च शिक्षा के लिए एडिनबरा गए थे। लौट कर वहां के पुस्तकालय का हाल बताते हुए उन्होंने कहा कि वहां हम लोग पुस्तकें स्वयं अपने आप निकालते और मेज पर रखे हुए रजिस्टर में अपने नाम पर उन्हें चढ़ा लेते थे। पुस्तकें देने के लिए अलग से कोई व्यवस्था नहीं थी। इसकी तुलना अपने समाज या देश की स्थिति से क्या करूँ। अभी परसों लाइब्रेरी गया था। वहां के लाइब्रेरियन श्री सुब्रह्मण्यम् की मेज पर आधी दर्जन पुस्तकें घायल पड़ी हुई देखीं जिनके पृष्ठ या अध्याय के अध्याय काट लिए गए थे। लाइब्रेरियन बेचारे असहाय थे और अत्यन्त दुखी थे। यह दुख एक व्यक्ति का नहीं है, यह तो हम सबों के दुखी होने की बात है। यह क्रम आने-जाने वाले छात्रों की पीढ़ियों तक चलता रहे तो लाइब्रेरी में क्या रह जाएगा। उस सरस्वती के मंदिर की एक एक ईंट ढह जायगी। ईंट-चूने का नाम लाइब्रेरी नहीं है, ग्रंथों का नाम ही पुस्तकालय है। पुस्तकें ही पुस्तकालय के प्राण हैं। प्राण नहीं तो पुस्तकालय शव मात्र है। पुस्तकालय सरस्वती का मंदिर है। वहां की अधिष्ठात्री देवी ज्ञान की देवी है, जिसकी पूजा के लिए हम सब यहां इकट्ठे हुए हैं। कोई दो बरस, कोई चार बरस, कोई छः बरस पूजा के फूल चढ़ाकर और माता सरस्वती का वरदान पाकर चला जाता है। फिर ज्ञान या विद्या के उसी वरदान से वह जन्म भर बढ़ता या फूलता-फलता है। जो

सरस्वती मानव का इतना उपकार करती है, क्या उसके पुस्तकालय के भी शरीर पर चाकू या ब्लेड का प्रहार करना यही हमारा काम है ? यह तो कृतघ्न या हत्यारे का कर्म है। हम तो सब विद्या के इच्छुक होकर यहां आए हैं। सब को जो सम्मान समाज में मिलता है उस सम्मान के हम पात्र हैं। प्रत्येक को अपने इस ऊँचे पद का मन में अनुभव करना चाहिए। यह उसके व्यक्तित्व की गरिमा है जो सदा सब जगह उसके साथ जाती है। अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के प्रति हम स्वयं ही सच्चाई का व्यवहार न कर सकें तो उस व्यक्तित्व का क्या होगा। इस प्रकार की दृष्टि से इस प्रश्न पर हम सबको सोचना है। आप सोचने लगें तो सैकड़ों बातें आपके ध्यान में आएँगी। उन बातों को भूल से हम छोटा समझ लेते हैं। किसी पुस्तक का एक पृष्ठ फाड़ लिया तो यह ऐसा ही जघन्य और निष्ठुर काम है जैसे किसी व्यक्ति की एक आँख निकाल ली हो या अंग-भंग कर दिया हो। मित्रो, बहुत ऊँचे धर्म या ज्ञान की बात कर लेना आसान है, पर जीवन की इन छोटी बातों के प्रति सावधानी रखना कठिन है। इनमें चूक करने से न केवल हमारा अपना व्यक्तित्व कटा-पिटा रहता है, बल्कि जिस धर्म शरीर से समाज स्वस्थ बनता है और जीवन का व्यवहार जिस स्वच्छता, सरलता और प्रसन्नता से चलता है वह भी हमें नहीं मिल पाता। ऊपर जो कुछ दृष्टान्त दिए हैं उन्हें सुनकर वैसा ही रोमांच या आनन्द होता है जैसा किसी उपनिषद के पढ़ने से। इसी सच्चाई को ईश्वर का रूप कहते हैं। वृन्दावन की गलियों में मुक्ति पुकारती है कि कोई उसे ले ले। हम यह देखना चाहते हैं कि वह कौन सा स्थान है जहां धर्म इन छोटी छोटी बातों के रूप में पुकार रहा हो कि भाई मुझे ग्रहण करो और मेरा भी ध्यान रखो। वह धर्म हमारे मन में ही सच्चाई और ईमानदारी के रूप में बैठा हुआ है।

—संघ-पत्रिका का० वि० वि०



इतिहास का एक पृष्ठ

ह्यूनत्साङ् और निर्ग्रन्थ

इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि ह्यूनत्साङ चीनी यात्री था। जिसने शीलादित्य के समय में भारत की यात्रा की थी। उसने भारत की कहां और किस प्रकार यात्रा की थी, इसका वर्णन प्रोफेसर एस० बील (S. Beal) महोदय ने अपनी पुस्तक Life of Hiuen-Tsiang में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इसी पुस्तक के पाँचवें अध्याय में वे लिखते हैं कि ह्यूनत्साङ के चीन लौटने के संबन्ध में भविष्य वाणी एक नग्न निर्ग्रन्थ संप्रदाय के शिष्य आर्य वज्र ने की थीं। ये आर्य वज्र शीलभद्र के समकालीन थे। उक्त पुस्तक में यह यह भी लिखा है कि इस प्रकार की भविष्यवाणियों के लिए बहुत प्राचीन काल से निर्ग्रन्थ लोग मशहूर थे। साधारण जनता उनकी भविष्य वाणियों पर विश्वास करती थी और इसके लिए जनता में उनका बड़ा आदर था।

जैन परंपरा में आर्य वज्र या वइर-स्वामी के नाम से एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो चुके हैं। नन्दीसूत्र तथा दूसरी पट्टावलियों में इनका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्ट पर्व में इनका जीवन भी लिखा है। अतः इतिहास के विद्यार्थियों का कर्तव्य है कि इस बात की खोज करें कि वे निर्ग्रन्थ आर्य वज्र वस्तुतः कौन थे। उक्त घटना से इतना तो निश्चित है कि ह्यूनत्साङ की भारत यात्रा के समय वे जीवित थे। उनका विहार क्षेत्र नालन्दा विश्वविद्यालय के आसपास था। बौद्धाचार्य शीलभद्र भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। इनके समय व कार्य आदि का निश्चय होने पर जैन आचार्यों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। ऐसी आशा है।

—(प्रो०) विमलदास कौंदिया, का. वि. वि.

———

हार्दिक क्षमायाचना

'श्रमण' के जुलाई अंक में 'श्रमण-जीवन का बदलता हुआ इतिहास' में श्रमण जीवन की कुछ झलक दिखाने का मुझे अवसर मिला। लेख के उत्तरार्ध में मैंने भीनासर श्रमण-सम्मेलन की एक हलकी सी झांकी भी दिखाई थी, जिसमें यह बताया गया था कि आज श्रमण-जीवन प्रवृत्तियों की ओर किस तरह बढ़ता जा रहा है। लेख के इस अंश को लेकर समाज में एक तूफान सा आ गया और श्रद्धेय पूज्य-गुरुदेव की सेवा में यत्र-तत्र से विरोध पत्र आने लगे। और भी कई अधिकारी मुनियों के पास विरोध पत्र पहुँचे और उनमें मेरे ऊपर कुछ कटु आक्षेप भी लगाये गए, कुछ लोगों ने तो मुझे अभद्र गालियाँ भी दीं, कुछ ने मुझे समाज-द्रोही भी बताया और कुछ ने मुझे और मेरे साथियों को नवीन-सुधारकों के नेता के रूप में लिखकर हमें शिथिलाचार का पोषक भी कहा।

जो कुछ भी कहा गया हो, मुझे इस चर्चा में अधिक नहीं उतरना है। मुझे तो अपनी बात बतानी है कि समाज के बहुत से व्यक्तियों ने मुझे और मेरे विचारों को समझने में भूल की है और मेरे लेख की सही दिशा को विपरीत दिशा में देखा गया है। मैं अपने श्रद्धेय पूज्य-मुनिवरों से, अपने साथी मुनियों से, विदुषी महासतियों से तथा श्रद्धालु श्रावकों से नम्र शब्दों में कहूंगा कि वे तटस्थ भाव से एक बार फिर उस लेख का वाचन करें। यदि एकांगी दृष्टि तथा व्यक्तिगत रूप से न सोचकर व्यापक दृष्टि से सोचेंगे तो मालूम होगा कि उसमें ऐसी कोई बात नहीं है, जिसके लिए शान्त वातावरण को इतना क्षुब्ध एवं कटु बनाया जाए।

न तो उस लेख में किसी भी साधु या साध्वी पर व्यक्तिगत आक्षेप ही किया गया है, न श्रमण-संघ को अन्य समाज के सामने नीचा दिखाने के अभिप्राय से ही कुछ लिखा गया है, न उसमें शिथिलाचार का पोषण ही किया गया है और न श्रमण-संगठन की दृढ़ भित्ति को ही क्षतिग्रस्त करने का प्रयास किया गया है।

मुझे यह सुनकर, पढ़कर तथा जानकर बड़ा आश्चय होता है कि मुझे और मेरे साथियों को किस आधार पर शिथिलाचार का पोषक बताया जा रहा है।

मेरे लेख का एक-एक शब्द इस बात का प्रमाण है कि मैंने तो शिथिलाचार पर कड़ा प्रहार किया है। कोई भी तटस्थ पाठक उस लेख को पढ़कर क्या यह कह सकता है कि वह लेख शिथिलाचार के पोषण के लिए लिखा है ?

खैर, अब मैं अपनी बात पर आता हूँ कि मैंने जो कुछ लिखा वह अपनी दृष्टि से सोच-समझकर लिखा है और उस लेख को 'श्रमण' में भेजने के पूर्व भी तीन-चार बार उसका अवलोकन कर गया था और छपने के बाद भी उसे कई बार पढ़ गया, पर मुझे तो कहीं भूल दिखाई नहीं दी। हां, एक-दो जगह आलंकारिक भाषा का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर उसे अभद्र आक्षेप नहीं कहा जा सकता। वह वस्तुस्थिति की स्पष्टता के लिए है, किसी अन्य दुरभिसन्धि से नहीं।

फिर भी मैं यह दावा नहीं करता कि मैं कभी कोई भूल कर ही नहीं सकता, छद्मस्थता व अपूर्णता के कारण भूल का होना स्वाभाविक है; किन्तु कहीं भूल हुई हो तो उसे सुधारने के लिए भी मैं सदा तत्पर रहा हूँ। अब भी यदि कोई पूज्य-मुनिवर या श्रद्धालु श्रावक मुझे मेरी अपनी भूल सुझाएँगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी और मैं हर्ष के साथ उनके सही विचारों का हृदय से स्वागत करूँगा।

अब मैं अपना स्पष्ट हृदय समाज के सामने रख देना चाहता हूं कि मेरे स्पष्ट विचारों से तथा साफ-साफ कहने की भली या बुरी आदत से किन्हीं भी पूज्य-मुनिवरों का, स्नेही साथियों का, महासतियों का, श्रावक-श्राविकाओं का दिल दुःखा हो तो मैं पर्युषण के पवित्र पर्व पर शुद्ध हृदय से उन सब से क्षमित-क्षमापणा करता हूँ। मेरे विचारों में न तो पहले किसी भी व्यक्ति के प्रति दुर्भाव रहा है और न अभी है। मैंने जो कुछ लिखा या जो कुछ कहा, वह श्रमणसंघ के एक सदस्य के नाते अपना कर्तव्य समझकर कहा है। यह मेरा नगण्य अधिकार श्रमण-संघ के महान् तथा उदार उन्नायकों के कर कमलों में सदा सर्वदा सुरक्षित रहा है और रहेगा।

श्रमण संघ का अनुचर
—(मुनिश्री) आईदान

महत्व के समाचार

इटारसी में धर्म-प्रचार

इटारसी (मध्यप्रदेश) से हमें श्री सुन्दरलाल जी जैन वैद्य ने वहाँ हो रहे पूज्य मुनि श्री नाथूलाल जी महाराज तथा श्री रामलाल जी महाराज के चातुर्मास के समाचार भेजे हैं।

आप दोनों ही पूज्य १००८स्व० मुनि चौथमल जी म० के प्रधान शिष्यों में से हैं। आप के प्रवचन का ढंग इतना प्रभावशाली एवं रोचक है कि आप के प्रतिदिन के प्रवचन में श्रोताओं की उपस्थिति ५–६ सौ से ऊपर ही रहती है। इनमें अजैन जनता की संख्या भी कम नहीं रहती। बाद के समाचारों से हमें पता चला है कि श्रोताओं की संख्या बराबर बढ़ती जाने के कारण एवं जैन भवन में स्थान का अभाव होने के कारण अब वहाँ के मराठी स्कूल में मुनि जी का प्रवचन होता है। आप के प्रवचनों का प्रभाव इतना अधिक पड़ रहा है कि केवल इटारसी ही नहीं, आसपास के स्थानों से विशेषकर नागपुर, खंडवा, भोपाल, हरदा, होशंगाबाद आदि से भी काफी संख्या में दर्शनार्थी आने लगे हैं। बाहर से आने वाले बंधुओं के लिए इटारसी की जैन समाज ने ठहरने तथा भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था की है।

गत ९–८–५६ से १६–८–५६ तक मुनि जी की प्रेरणा से वहाँ 'विश्वशांति सप्ताह' मनाया गया। अंतिम दिन जो विशाल सभा हुई उसमें श्रोताओं की उपस्थिति दो हजार से अधिक थी। उसी दिन सुप्रसिद्ध स्थानीय नागरिक स्व० श्री फूलचंद जी गोठी की धर्मपत्नी सेठानी मिश्रीबाई जी की ओर से 'सच्ची रक्षाबंधन' पुस्तक भेंट स्वरूप वितरण की गई।

इटारसी के ये समाचार समाज के लिए निश्चय ही आशाप्रद एवं प्रेरणादायक हैं। इटारसी की जैन समाज ने इस संबंध में जो कुछ किया है व अभी कर रही है, वह सभी के लिए अनुकरणीय है।

तप, त्याग और एकता का अनुपम दृश्य

अम्बाला से श्री पृथ्वीराज जी जैन, एम. ए. ने पर्यूषण पर्व के जो समाचार भेजे हैं, वे वस्तुतः महत्वपूर्ण ही नहीं वरन् अन्य स्थानों की समाजों के लिए आदर्शरूप भी हैं।

वहाँ मुनिराज श्री प्रकाशविजय जी आदि तीन मुनियों का चातुर्मास हो रहा है। पूज्य काशीराम जैन गर्ल्स हाई स्कूल के विशाल भवन में अठाई व्याख्यान

तथा कल्पसूत्र की वाचना का स्थानीय मूर्तिपूजक और स्थानकवासी दोनों संघों की ओर से सुंदर प्रबंध था। नगर के सहस्रों नर-नारी इस अवसर पर श्रद्धा व प्रेम से उपस्थित होते थे। इस अवसर पर एक सबसे प्रधान आकर्षण था तीर्थङ्करों के जीवन संबंधी स्लाइडों का प्रदर्शन। जैनधर्म से जनसाधारण को परिचित कराने का यह सबसे अच्छा साधन है। आवश्यक है कि इस प्रकार का प्रदर्शन अन्य अवसरों पर भी अधिक से अधिक शहरों में किया जाए। संवत्सरी के अवसर पर और भी अनेक धर्मकार्य हुए। बाद में ११ सितम्बर को रथयात्रा का बड़ा आकर्षक जुलूस निकला। इस प्रकार अम्बाला में यह पर्व बड़ी धूमधाम एवं उत्साह से मनाया गया।

एक धर्म प्रेमी महिला का निधन

'श्रमण' के पाठकों को यह समाचार जानकर निश्चय ही दुःख होगा कि गत ३१-८-५६ को मद्रास में श्री ताराचंद जी गेलड़ा की धर्मपत्नी श्रीमती रामसुखी बाई जी का स्वर्गवास हो गया। आप की उम्र ७४ वर्ष की थी। आप बड़ी ही धर्मप्रेमी थीं एवं पिछले २० वर्ष से चतुर्थ व्रत का पालन करती थीं तथा करीब ३० वर्ष से खादी ही पहनती थीं। आप का स्वभाव बड़ा ही मिलनसार था। छोटे-बड़े सभी के साथ समान व्यवहार, आडम्बर से दूर शान्त निस्पृह जीवन, उदार भावना तथा गुप्तदान आप की कुछ विशेषताएँ थीं। आप का त्यागमय जीवन महिला समाज के लिए अनुकरणीय है। आप अपने पीछे तीन पुत्र और पौत्र-पौत्रियाँ छोड़ गई हैं। आपके पति श्री ताराचन्द जी गेलड़ा समाज के प्रसिद्ध सेवाभावी एवं उदारहृदय व्यक्ति हैं। वयोवृद्ध होने पर भी नौजवानों से अधिक उत्साही हैं। धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कामों में खूब रस लेते हैं। आप का अपना एक ट्रस्ट भी है, जिसमें से स्थानीय व बाहर की संस्थाओं को सहायता पहुँचाते रहते हैं। स्व० रामसुखी बाई जी की स्मृति में आपने और भी कई तरह के पुण्य कार्य किए हैं। इन्हीं दिनों आपने विद्यार्थियों की छात्रवृत्ति के लिए बनारस के श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम को पाँच साल तक १०००) रु० वार्षिक की सहायता का वचन दिया है। इसके अलावा और भी कई तरह से सहायता पहुँचाने का आश्वासन दिया है।

हम दिवंगत आत्मा की शांति के लिए कामना करते हुए शासन देव से प्रार्थना करते हैं कि श्री ताराचंद जी गेलड़ा एवं उनके संतप्त परिवार को दुःख सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

—महेन्द्र राजा

बनारस में पर्युषण पर्व

बनारस शहर में जैन समाज के सभी संप्रदायों की ओर से पर्युषण पर्व बड़े उत्साह व प्रेम से मनाया गया। खमावणी एवं सामूहिक भोजन आदि भेलूपुर में किये गए। स्थानकवासी जैन गुजराती भाइयों की ओर से आठ दिन तक विद्वानों के व्याख्यानों का विशेष आयोजन था। पं० श्री दलसुख मालवणिया, पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० कृष्णचन्द्राचार्य आदि प्रमुख वक्ता थे। श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम के उत्साही विद्यार्थी श्री भोगीलाल पटेल, जो कि इस वर्ष एम० ए० के अन्तिम वर्ष में हैं, आठों दिन शहर में जाकर स्वयं व्याख्यान सुनाते रहे तथा विद्वानों को बुलाकर व्याख्यान दिलाते रहे। संवत्सरी वाले दिन कुछ सज्जन 'श्रमण' के ग्राहक बने। विद्याश्रम की ओर से भी विधिवत् पर्युषण पर्व मनाया गया।

ता० २३ सितम्बर को श्री सन्मति जैन निकेतन में जैन असोसिएशन की ओर से वर्णी जयन्ती और खमावणी का विशेष समारोह था। बनारस के प्रसिद्ध नागरिक राजा प्रियानन्द जी अध्यक्ष के आसन पर थे। कई विद्वानों के प्रभावशाली व्याख्यान हुए। विद्यार्थियों की उपस्थिति अच्छी थी। बाद में जलपान का सुन्दर आयोजन था। इस वर्ष जैन असोसिएशन के अध्यक्ष पं० श्री दलसुख मालवणिया और उत्साही मंत्री श्री मोहनलाल जैन हैं।

अभिनन्दन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारती महाविद्यलय में कला-स्थापत्य विभाग के अध्यक्ष, सरस्वती के सच्चे पुजारी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को गत वर्ष उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से हिन्दी में 'पाणिनिकालीन भारत' पर १२००) रु० का पुरस्कार मिला था। इस वर्ष फिर उन्हें मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पदमावत' के सुयोग्यता पूर्ण संपादन पर 'केन्द्रीय साहित्य अकादमी' की ओर से ५०००) रु० का पुरस्कार मिला है। हम समझते हैं कि केन्द्रीय सरकार की ओर से यह सरस्वती के एक सच्चे साधक का बहुत बड़ा सम्मान है। डॉ० अग्रवाल पुरातत्त्व के विशेषज्ञ होने के साथ ही बहुत बड़े साहित्य सर्जक भी हैं। हिंदी का यह सौभाग्य है कि इनके आधुनिक लेखन व संपादन इसे प्राप्त हो रहे हैं।

इधर कुछ वर्षों से आप का सहयोग जैन संस्कृति को प्रकाश में लाने के लिए मिल रहा है। आप की ही अध्यक्षता में श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम की ओर से 'जैन साहित्य निर्माण योजना' का विशाल आयोजन चालू है। इसी के अन्तर्गत सबसे पहले 'जैन साहित्य का इतिहास' के निर्माण का कार्य हाथ में लिया गया है, जिसका कुछ भाग पूरा होने वाला है। निःसंदेह जैन समाज के इतिहास में आप की यह अमर देन होगी।

इस अवसर पर हम आपका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

—अधिष्ठाता

'श्रमण' पर अभिमत

पं० लालचन्द्र भगवानदास गाँधी बड़ौदा से लिखते हैं—

"श्रमण नियमित मिल रहा है। इसके लिए मैं अन्तःकरण से आपका आभार मानता हूँ। उसका सम्पादन-प्रकाशन सुचारु रूप से चल रहा है, यह जानकर आनन्द होता है। उसमें कितनी ही जानने योग्य मननीय-विचारणीय सामग्री रहती है।"

ग्राम सेवक श्री उपेन्द्रकुमार 'वनवासी' भीलक्षेत्र सरवन (रतलाम) से लिखते हैं—

"श्रमण मासिक बराबर हर माह आ रहा है। मैं व मेरा परिवार उसे बराबर पढ़ते हैं। हमारी सात्विकता उससे बढ़ती है। और और मित्रों को भी पढ़ने के लिए दिया करता हूँ। सब प्रेम व चाव से पढ़ते हैं।"

मंत्री श्री हरजसराय जैन, पर्युषण-अंक के सम्बन्ध में अमृतसर से लिखते हैं—

"श्रमण का पर्युषण-अंक हमें ता० ५-९-५६ को मिल गया था। यदि कवि जी (उपाध्याय श्री अमरचन्द जी म०) ने लिखा है कि जीवन-यापन एक कला है और पर्युषण का उद्देश्य वही कला है; तो मुनि श्री जयन्तीलाल जी ने इसकी सामाजिक महत्ता पर जो कुछ लिखा है—वह भी उतना ही सुन्दर है। जो संकेत उन्होंने हमें प्रचार आदि में इस्तेमाल के लिए दिये हैं—यथार्थ हैं। हमें कट्टर पुराने तरीके त्यागने चाहिए। उनके आचरण से व्यक्ति ओछा बनता है। श्री रामकृष्णजी का ऐतिहासिक दृष्टिपात भी योग्य वस्तु है। 'अधिकरण का उपशमन' पृष्ठ २५ पर 'अधिकरण (कलह) होने के बाद' में जो कुछ लिखा है, वह बाईबिल (Bible) के उस स्थल की याद दिलाता है, जब कि महात्मा ईसा ने कहा था कि "यदि पूजा की समाधि पर पहुँच कर तुम्हें याद आए कि आज तुम्हारे भाई के साथ तुम्हारी नाराज़गी है तो पूजा की सामग्री वहीं रखकर पहले अपने भाई से सुलह करो।" मुझे ऐसा लगा है कि इसका सूत्र-अर्थ सहित एक सुन्दर आर्ट कार्ड पर कैलेण्डर बनवा कर जगह जगह भेजना चाहिए। ....। एकांकी का चुनाव भी आपने ठीक किया है। शेष आपकी व्याख्या आदि और अन्त में तथा श्री अगरचन्द जी नाहटा का लेख—सभी शानदार हैं। कविताएँ भी कम नहीं हैं।"

प्रकाशकः—पं० कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए
श्रीरामकृष्ण दास द्वारा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस,
बनारस—५ में मुद्रित।

